कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

अन्नमाचार्य और सूरदास

का

तुलनात्मक अध्ययन

(आंध्रप्रदेश सरकार व ति. ति. देवस्थान की आर्थिक सहायता से प्रकाशित
पी-एच. डी. शोध प्रबंध)

लेखक :

एम. संगमेशम्, एम. ए.,

प्राध्यापक, श्री वेंकटेश्वर आर्टस कालेज, तिरुपति

प्रकाशक :

पी. एस. राजगोपाल राजु, I.A.S.,

कार्यनिर्वहणाधिकारी

तिरुमल तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति

१९७६

PREFACE

Love is blind. It is blind to the extent of being indiscriminate to the animate and inanimate articles of the Universe. A lover or love as the case may be perceives the objects of the Universe only as instruments to materialise the ultimate union. But the ecstacy of emotions and adoration when diverted towards the omniscient, omnipotent force acquires some inscrutably sublime qualities and goes under the name Bhakti. The Lord becomes Nayaka and the rest of the souls are nayikas. In intertwaining the great philosophical thought with relishable Sṛngara poet composers like Jayadeva and devotees like Chaitanya Mahaprabhu were oblivious of themselves and made compositions which are everlasting in mystic literature. Surdas was one of such luminaries in the Firmament of Hindi literature; though he was blind by birth, he had an inner vision and divine inspiration to lead him to the heights of supreme bliss through his Sur Sagar particularly in establishing Vatsalya Bhakti.

But Annamacharya, the 15th century poet-devotee of Lord-Venkateswara perhaps surpassed all the poets and devotional composers of the country in the vividness of his subjects, haunting lyricism and in the brilliance of imagery he employed. While Surdas was physically blind Annamacharya was devotionally blind to the external world. In his 32,000 Keerthanas of both Sṛngara and Adhyatma he saw none else except Lord Venkateswara. His life's experiences, knowledge, devotion and what not everything was utilized in bringing out a compromise with Lord Venkateswara. But for the fact the Keerthanams are in Telugu, this poet-devotee of superhuman abilities and qualities could have been idolised as a symbol of mystic poetry.

Dr. M. Sangamesam, the author of this book, has done yeoman service to the Indian literature in presenting a comparison of this ocean of devotion with an equally worthy counterpart of Hindi literature. who was the exponent of Vatsalya Bhakti.

The earnestness of the author in instilling an awareness of Bhakti through bringing out this book is well established by the fact that he voluntarily offered the aid he received to get this book published so that the T.T.D. which has already been popularising Annamacharya compositions could make this book available to the literary world.

How best his laudable intentions and the Devasthanams' efforts are fructified depends mostly on the devotees who are on the other bank of torrential flow of devotion.

P. S. RAJAGOPALA RAJU, I.A.S.,
EXECUTIVE OFFICER & PUBLISHER
T. T. DEVASTHANAMS, TIRUPATI

भूमिका

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाव्य का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भक्ति का जो आन्दोलन दक्षिण से प्रारंभ होकर उत्तर भारत की ओर आया उसने समूचे हिन्दी जगत को प्रभावित किया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप उत्तर और दक्षिण का अन्तराल बहुत कुछ कम हुआ और एक सामान्य भक्तिमार्ग को विकसित होने का सुअवसर मिला। दक्षिण भारत में आलवार भक्तों ने जन-मानस को प्रभावित किया और उत्तर में कबीर, जायसी, सूर और तुलसी ने लोकप्रियता प्राप्त की। विषय वस्तु की व्यापकता और रोचकता के कारण कृष्ण भक्ति काव्यधारा का आपेक्षाकृत अधिक प्रचार प्रसार हुआ और भक्तिकाव्य को हिन्दी का स्वर्णयुग कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। सूरदास का साहित्य समूचे कृष्णभक्ति-काव्य में अपना अन्यतम स्थान रखता है। राम और कृष्ण के माध्यम से इन वैष्णव भक्त कवियों ने भटकते और असहाय जनमानस को स्थिरंता प्रदान की।

इन भक्त कवियों के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और अनेक दृष्टियों से उन पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य भी संपन्न हुए हैं। इस बात की बड़ी आवश्यकता थी कि दक्षिण और उत्तर भारत के भक्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनकी साहित्यिक प्रतिभा का सही मूल्यांकन किया जाय। इससे एक ओर जहाँ साहित्य की श्री वृद्धि होती है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र की भावना-त्मक एकता को भी बल मिलता है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध इस दिशा में एक महत्त्व-पूर्ण कदम है। जिस प्रकार उत्तर भारत में सूरदास की भक्ति भावना और उनकी साहित्यक प्रतिभा का सम्मान किस जाता है उसी प्रकार दक्षिण में अन्नमाचार्य का विशेष महत्त्व है। अन्नमाचार्य १५ वीं शताब्दी के प्रमुख वैष्णव भक्त-कवि माने जाते हैं। वेंकटेश्वर भक्त अन्नमाचार्य ने अपने इष्टदेव की स्तुति में हजारों पदों की रचना तेलुगु में की है। अनुसंधान कर्ता ने गहन विवेचन के द्वारा पारिश्रम पूर्वक यह बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार हो विभिन्न भाषा के कवियों ने दूर रहकर भी एक इसरे को प्रभावित किया है और उनकी सांस्कृतिक चेतना

एवं जीवन दर्शन में कितनी समानता है। उस समय के राजनीतिक, साँस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक प्रभावों के परिप्रेक्ष्य में इन दोनों भक्त कवियों की रचनाओं का समुचित मूल्यांकन किया गया है। इन कवियों की उपासना पद्धति, दर्शन और पारंपरिक मूल्यों की समानता और असमानता का गहन विवेचन करने के साथ ही लेखक ने परवर्ती कवियों पर इनके प्रभाव की भी विशद चर्चा की है। अंत में लेखक का यह निष्कर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि दो विभिन्न भाषा के इन कवियों में अद्भुत समानता है। होने के विचार, सोचने का ढंग एक जैसा है और दोनों की अभिव्यंजना पद्धति एक दूसरे से मेल खाती है। दोनों की कवियों ने संघर्षशील जनमानस को संबल प्रदान करते हुए युगीन भक्ति साहित्य को पर्याप्त संपन्न बनाया है।

प्रो. एम. संगमेशम का यह शोध-प्रबंध मेरे निर्देशन में लिखा गया है। मैं लेखक के इस महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध का स्वागत करता हूँ और उसे हार्दिक बधाई देता हूँ कि उसने अपनी मौलिक सूझबूझ और गहन अध्ययन के द्वारा इसे निष्ठा पूर्वक संपन्न किया है तथा कुछ उपयोगी निष्कर्ष निकले हैं।

निर्जला एकादशी
सं. २०३३
वारणाशी

डॉ. विजयपाल सिंह
एम.ए- (हिन्दी) एम.ए. (संस्कृत) पी-एच.डी., डी.लिट्.
वरिष्ट आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सम्मति

मुझे उस बात की हार्दिक प्रसन्नता है कि डा. एम. संगमेशम जी का शोध-प्रबंध 'अन्नमाचार्य और सूरदास का तुलनात्मक अध्ययन' संशोधित रूप में प्रकाशित हो रहा है। डा. संगमेशम जी हिन्दी, तेलुगु और संस्कृत के प्रकांड पंडित ही नहीं, भारतीय धर्म और संस्कृति के मर्मज्ञ आख्याता भी हैं। अपने पांडित्य और अभिरुचि के अनुरूप भक्ति संबंधी विषय को शोध के लिए अपना करके उन्होंने विषय के साथ न्याय तो किता ही है, अपनी प्रतिभा का भी समुचित परिचय दिया है। भारत का भक्ति-साहित्य धार्मिक-दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी और तेलुगु के दो महान विभूतियों को लेकर भारतीय साहित्य की साधना का उज्ज्वलतम रूप प्रस्तुत करना तथा उनके माध्यम से भारतीय आत्मा को मुखरित करना सरल कार्य नहीं है। इस कार्य-भार को उठाना और सफलतापूर्वक निभाना किसी भी विद्वान के लिए परम श्रेयस्कर काम है। डा. संगमेशम जी को एक और बार साधुवाद देते हुए आशा करता हूं कि वे साहित्य की अपनी उस तपस्या में निरंतर अग्रसर होते रहेंगे।

एस. टी. नरसिंहाचारी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति

प्राक्कथन

ईसवी १५ वीं सदी में (१४२४-१५०३ ई॰) आंध्रप्रांत के तिरुमल-तिरुपति क्षेत्र में ताल्लपाक अन्नमाचार्य नामक बड़े भक्तकवि हुए। वे यहां के श्रीवेंकटेश्वर जी की भक्ति में तल्लीन होकर रोज कम से कम एक पद के मद्दे जिंदगी भर अध्यात्म और शृंगार संबंधी पद रचकर भगवान के सामने गाया करते थे। ये बड़े संगीतज्ञ भी थे। ये गृहस्थ रहकर भी वैराग्य एवं भक्ति की साधना में आजीवन निरत रहे। ये अपनी स्वेच्छा से आप ही श्रीवेंकटेश्वर के मंदिर में संकीर्तनियां बन गये। इनके पुत्रों और पौत्रों में भी कई भक्तकवि, गायक व पंडित हुए। ये लोग रामानुज संप्रदाय के विशिष्टाद्वैत मत के प्रचारक और आचार्य हुए। तिरुपति में इनका एक मठ भी बना। अन्नमाचार्य के तथा उनके वंशवालों के पदों और अन्य रचनाओं को ताम्र-पत्रों पर लिखवा कर तिरुमल के श्रीवेंकटेश्वर जी के श्रीचरणों में समर्पित करके, फिर वहीं मंदिर में तदर्थ निर्मित 'संकीर्तन-भंडार' नाम की कोठरी में उन सभी पत्रों को सुरक्षित रखा गया। तिरुमल-तिरुपति देवस्थान के अधीन में अब ऐसे हज़ारों ताम्र-पत्र हैं। इनमें से अन्नमाचार्य तथा उनके पुत्र-पौत्रों के रचे भक्ति परक अध्यात्म और शृंगार संकीर्तनों के ताम्र-पत्र कुल २६३५ हैं, जिनमें केवल अन्नमाचार्य के संकीर्तन वाले ताम्र-पत्र २४४८ हैं। इन पर औसतन हर एक पर छः संकीर्तनों के मद्दे ये पद १४६८८ होते हैं। लेकिन कहा जाता है कि इनके रचे पदों की संख्या ३२००० है। अहोबलम, श्रीरंगम जैसे अन्य वैष्णव क्षेत्रों में भी इनके पदों वाले कुछ ताम्र-पत्र मिलते हैं। आज तिरुमल-तिरुपति देवस्थान की ओर से वैसे सभी पत्रों को मंगवाकर इन पदों के प्रकाशन का काम शुरू किया गया है। अब तक १९ भागों में ताल्लपाक कवियों की रचनाओं का प्रकाशन हो चुका है और १०-१५ भाग अभी प्रकाशित होने के हैं।

प्रसिद्ध हिन्दी भक्तकवि सूरदास भी ईसवी १५-१६ वीं सदियों में (१४७८-१५८३) में हुए। उम्र में अंतर होने पर भी अन्नमाचार्य और सूरदास समकालीन भक्तकवि होते हैं। फिर, सूरदास भी बचपन से भक्तकवि और गायक थे। बाद

में वल्लभ मत में दीक्षित होकर गोवर्धन चले गये और वहीं श्रीनाथ जी के मंदिर में आजीवन कीर्तनिया रह गये । इस तरह जिंदगी भर अपने को भगवत् सेवा में नियुक्त करके संकीर्तन रचकर गाते अपने जन्म को चरितार्थ करने की प्रवृत्ति अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों में समान रूप से मिलती है । दोनों सगुण वैष्णव भक्त थे, दोनों पद रचना में अगुए थे, दोनों ने सहस्त्रावधि पदों की रचना की और दोनों संयोग से प्रसिद्ध गायक भी थें ।

समसामयिक और समान शील या समान धर्मी भक्तकवि होने से अन्नमाचार्य और सूरदास की रचनाओं की तुलना करके समय, संप्रदाय, दार्शनिक भाव, भक्ति-साधना, काव्य सौंदर्य, संगीत के तत्व जैसी बातों को लेकर उन दोनों में जो साम्य और वैषम्य हैं उनको जान लेना ही इस अध्ययन का लक्ष्य है । ऐसे अध्ययन से भारत के विभिन्न भाषा-साहित्यों के मूल में रहनेवाली सांस्कृतिक एकता एवं भावात्मक एकता को पहचानने तथा उनके द्वारा जातीय एकता को समझने व कायम करने में अधिक सहायता मिलेगी । फिर, इस तरह के अध्ययन से दो भाषा-भाषी कवियों को एक दूसरे के परिपार्श्व में पढ़कर और अच्छी तरह समझने का अवकाश प्राप्त किया जाएगा । आज भारत तो स्वतंत्र है और हिन्दी जो राष्ट्रभाषा घोषित की गयी है, तब उसी राष्ट्रभाषा के द्वारा राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण होना चाहिए और तदर्थ हिन्दी को भी भारत के अन्य सभी भाषाओं की उत्तम से उत्तम विभूतियों से परिचित और परिपुष्ट होकर राष्ट्रीय एकता और भाव-साम्य को स्थिर करने में सप्रयत्न होना चाहिए । साथ, राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा प्रांतीयभाषाओं का भी हित होना चाहिए । पहले संस्कृत भाषा हमारे संस्कृति का एकमात्र वाहक थी, आज हिन्दी को वह पद प्राप्त है । अतः हिन्दी द्वारा ऐसे अध्ययन अधिकाधिक हों और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएं एक दूसरे के और अधिक सन्निकट आवें और परस्पर अच्छी तरह समझ लें ।

अन्नमाचार्य की रचना अध्यात्म और शृंगार कीर्तन नाम के दो मोटे भागों में हज़ारों पदों के रूप में मिलती हैं । इन पदों के अलावा शृंगार मंजरी जैसी उनकी कुछ अन्य रचनाएं भी मिलती हैं, लेकिन भक्ति-तत्व एवं काव्य-सौंदर्य की तुलना ही यहां प्रधान उद्देश्य है, इसलिए सूरदास के सूरसागर के साथ अन्नमाचार्य के अध्यात्म और शृंगार संकीर्तनों को ही प्रस्तुत अध्ययन केलिए लिया गया है ।

यहां दोनों भक्तकवियों की भक्ति-पद्धति की तुलना उद्दिष्ट है, अतः निम्नलिखित प्रकार से सुविधा केलिए इस अध्ययन को पांच अध्यायों में विभक्तकर दिखाया गया है ।

प्रथम अध्याय में आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास के जीवन-वृत्तों का प्रामाणिक विवरण देकर, उनके धार्मिक संप्रदाय, दार्शनिक विश्वास, भक्ति-साधना, रचना-विस्तार आदि का परिचय दिया गया है । फिर, दोनों कवियों के जीवन में घटित कुछ विशिष्ट घटनाओं के परस्पर साम्य तथा उनके कारण उन कवियों के व्यक्तित्व पर पड़े प्रभाव की परीक्षा की गयी है । दोनों कवियों के व्यक्तित्व की भी तुलना करके उससे प्रभावित उनकी साधना और रचनागत विशिष्टताओं को आंकने का प्रयत्न किया गया है ।

द्वितीय अध्याय को आलोच्य कवियों के साधना व साहित्य की पृष्ठभूमि के अध्ययन केलिए तीन खंडों में विभक्त किया गया है । प्रथम खंड में कवियों के समकालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक व साहित्यिक परिस्थितियों का प्रामाणिक विवरण देकर, उनमें भक्ति-साहित्य को प्रेरणा देनेवाले प्रमुख तत्वों का विवेचन किया गया है । द्वितीय खंड में भक्ति के ऐतिहासिक विकास का क्रम निर्दिष्ट करके, आलोच्य कवियों की भक्ति-पद्धति के स्वरूप व स्वभाव का परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है । तृतीय खंड में विभिन्न भक्ति-संप्रदायों और उनको शास्त्रीय आधार संपादित करनेवाले विशिष्ट दार्शनिक संप्रदायों का परिचय देकर आलोच्य कवियों के दार्शनिक मंतव्यों तथा साधना पद्धतियों पर परिलक्षित उनके प्रभाव को जानने का प्रयत्न किया गया है ।

तृतीय अध्याय को भी अध्ययन की सुविधा केलिए चार खंडों में विभक्त किया गया है । प्रथम खंड में आलोच्य कवियों के भक्ति-साहित्य की परंपरा और प्रेरणास्रोतों का अध्ययन करके, उनके परस्पर संबंध की जानकारी प्राप्त की गयी है । फिर दूसरे खंड में दोनों कवियों के दार्शनिक विश्वासों और उनके साहित्य में प्रतिफलित उन मंतव्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है । तृतीय खंड में दोनों कवियों की भक्ति-साधना का तुलनात्मक विवेचन किया गया है । चतुर्थ खंड में दोनों की सांप्रदायिक-साधना का विवरण देकर, तुलनात्मक दृष्टि से परस्पर संबंध को जांचने का प्रयत्न किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में आलोच्य कवियों के काव्य-सौंदर्य का अध्ययन किया गया है। यहां भी सुविधा केलिए समग्र विषय को तीन खंडों में विभक्त किया गया है। प्रथम खंड में आलोच्य कवियों के साहित्य का स्वरूप व स्वभाव निरूपित करके, दोनों कवियों के अध्यात्म तथा विनय-पदों की भावभूमि का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। द्वितीय खंड में दोनों कवियों के लीला-पदों को लेकर, उनमें वर्णित वात्सल्य, शृंगार तथा अन्य प्रासंगिक रस-भावों का तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया गया है। तृतीय खंड में दोनों कवियों की रचनाओं के कला-पक्ष का, उनके प्रयुक्त अलंकारों, भाषा-शैलियों, छंदों व संगीत-तत्वों के यथोचित विवरण के साथ तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

पंचम अध्याय में तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों का विवरण देकर, इससे संभावित हितों की ओर संकेत किया गया है।

अध्ययन काल में हिन्दी में सूरदास के बारे में—जीवनी, धर्म, दर्शन, साधना काव्य-कला जैसी बातों को लेकर—जो महत्वपूर्ण खोजप्रबंध व आलोचनात्मक निबंध अब तक प्रकाशित हो चुके हैं, उनसे मैंने यथेष्ट सहायता ली है। लेकिन अन्नमाचार्य के बारे में ऐसी सहायता को प्राप्त करने का अवकाश मुझे नहीं मिला, क्योंकि अब तक उनके बारे में ऐसे साहित्य का निर्माण किसी भी भाषा में नहीं हो पाया। कवि और काव्य का परिचय देते समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाले फुटकल लेखों में अन्नमाचार्य के धर्म, दर्शन, भक्तिभाव, काव्य-वैभव आदि की चर्चा बहुत कम या नहीं के बराबर है। ग्रंथ रूप में प्रकाशित 'अन्नमाचार्य चरित्र' की संपादकीय भूमिका में श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री जी ने कवि की जीवनी और रचना के स्वरूप व स्वभाव पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। देवस्थान के मासपत्र में 'अन्नमाचार्युलु' शीर्षक से तेलुगु में और 'अन्नमाचार्य की पदावली' शीर्षक से हिन्दी में मैंने ही पहले पहल इस कवि के बारे में परिचयात्मक व आलोचनात्मक लेखमालाएं प्रकाशित की हैं। लेकिन तुलनात्मक दृष्टि वहां छूट गयी। वे लेख भी छोटे और संग्रहात्मक हैं। वृहद्रूप में इसका अध्ययन और निबंध-रचना के प्रयत्न में लगने पर मुझे आवश्यक सामग्री और अधिकाधिक तथ्यों को जुटाने में बहुत-सा प्रयत्न करना पड़ा। सारे कडपा मंडल में घूमकर मैंने कवि के वंशवालों का परिचय प्राप्त करके, उनसे यथासंभव कवि की जीवनी और रचना संबंधी अमूल्य विषयों का

संग्रहण किया। अन्नमाचार्य साहित्य के संपादन कार्य में निमग्न श्रीमान राल्लपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा, श्री उदयगिरि श्रीनिवासाचार्य जैसे विद्वान सहृदयों की सलाह-संपदा भी मुझे यथेष्टरूप से मिलती रही। देवस्थान के अधिकारियों ने भी अन्नमाचार्य संकीर्तनोंवाले ताम्र-पत्रों को मौलिक रूप से अध्ययन करने में मेरी बड़ी सहायता की है। आलवार प्रबंधम् के अध्ययन में श्रीमान् दर्शन-शिरोमणि टी. के. वी. एन. सुदर्शनाचार्य जी से मुझे अत्यंत सहायता मिली है। उसी तरह विशिष्टाद्वैत और वैखानस आगमों के अध्ययन में विद्वान श्री के. के. आचार्य से आवश्यक सहायता प्राप्त हुई है। इन सबके प्रति में हार्दिक धन्यवाद प्रकट करता हूं।

श्रद्धेय आचार्य डा. वी. पी. सिंह, एम.ए. (हिन्दी), एम.ए. (संस्कृत), पी-एच. डी., डी. लिट्, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति की देख-रेख और निर्देशन में इस शोध-प्रबंध का सारा कार्य संपन्न हुआ। वस्तुतः इस कार्य में लेखक को प्रेरित, प्रोत्साहित व प्रवृत्त करने का सारा श्रेय उन्हीं को हैं। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने केलिए मेरे पास न उचित शब्द हैं, न कोरे शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करके मैं उनके अपार स्नेह व सहृदयता का मूल्य कम करना भी चाहता हूं।

हिन्दी, संस्कृत, तेलुगु और अंग्रेजी के जिन जिन ग्रंथों से मैंने सहायता ली है, उनमें से बहुतों के नाम पाद-टिप्पणी में दिये गये हैं और अन्य प्रमुख लेखकों और उनके ग्रंथों के नाम अनुबंध में दिये गये हैं। इस अवसर पर मैं उन सब का आभार मानता हूं। श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के प्राच्य परिशोधनालय के ग्रंथागार, विश्वविद्यालय के पुस्तक भंडागार, आर्ट्स कालेज के पुस्तकालय, केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ के ग्रंथ भंडार, देवस्थान के रिकार्ड तथा पत्रिका विभाग में संग्रहीत पुस्तकालयों से मैंने पर्याप्त सहायता ली है। आवश्यक सहायता पहुंचाते रहने के उपलक्ष में मैं उनके अधिकारियों का बड़ा आभार मानता हूं। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष एवं अध्यापक वर्ग की ओर से भी मुझे जो यथेष्ट सहायता मिलती रही, उस उपलक्ष में मैं उन सब के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

लेखक की मातृभाषा तेलुगु है। अपने भावों को हिन्दी में अभिव्यक्त करने में उचित शब्द-भंडार का अभाव रहा है। फिर, अन्नमाचार्य के पदों के हिन्दी

अनुवाद में मूलकृति के प्रवाह, माधुर्य व सारल्य का संपादन करना अतीव कष्ट-सा लगता आया। मूल रचना के सौंदर्य को दिखाने के उद्देश्य से ही मैं ने इस प्रबंध में यत्र तत्र कवि के संस्कृत पदों में से आवश्यक उद्धरण दिये हैं और अन्यत्र सरल हिन्दी में मूल तेलुगु पदों का भावानुवाद मात्र प्रस्तुत किया है। संभव है मेरे इस प्रयत्न में और प्रबंध में भी कई त्रुटियां रह गयी हों, मैं उन केलिए क्षमा-प्रर्थी हूं। यह आवश्यक नहीं है कि लेखक के निष्कर्ष सर्वमान्य हों। अपनी सीमाओं में रहकर मैं ने तेलुगु और हिन्दी के दो महान् भक्तकवियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, उससे अगर दोनों भाषाओं के साहित्यों को परस्पर सन्निकट लाने में कुछ भी सहायता हो, तो वही पर्याप्त है।

ग्रंथ के प्रकाशन के समय 'भूमिका' लिखकर डा. विजयपाल सिंह, एम.ए. (हिन्दी) एम.ए. (संस्कृत), पी-एच.डी., डी.लिट्. वरिष्ठ आचार्य व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वारणासी ने जो इसकी शोभा बढाई तदर्थ मैं उनके प्रति अतीव कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। डा. एस. टी. नरसिंहाचारी, एम.ए. पी-एच.डी. अध्यक्ष हिन्दी विभाग, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति ने 'सम्मति' लिख देने की जो कृपा की है उसके लिए में उनका अतीव कृतज्ञ हूँ।

अब यह कहते मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है कि इस ग्रंथ के प्रकाशनार्थ आंध्र-प्रदेश की सरकार ने रु. २५०० की आर्थिक सहायता पहुंचाई और तिरुमल तिरुपति देवस्थान ने बाकी-व्यय सहित पुस्तक के प्रकाशन का सारा भार अपने-ऊपर उठाया। इस उपलक्ष में मैं आंध्र सरकार और ति. ति. देवस्थान का अतीव आभार मानता हूँ। देवस्थान के प्रेस तथा प्रकाशन विभाग के अधिकारियों के प्रति भी मैं बडा कृतज्ञ हूं जिनकी सहृदय सहायता के कारण ही यह ग्रंथ इतने शीघ्र व ऐसे सुंदर रूप में प्रकाशित हो पाया।

* * *

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

संकैताक्षर सूची

अ. सं. (०–०)	अन्नमाचार्य संकीर्तनलु (भाग–संकीर्तन)
अ. सं. गा.	अन्नमाचार्य संकीर्तनलु, गायक प्रति
त. दी. नि.	तत्व दीप निबंध
ति. ति. दे.	तिरुमल तिरुपति देवस्थान
ना. भ. सू.	नारद भक्ति सूत्र
ना. शा. अ.	भरत नाट्य शास्त्र, अध्याय
शा. भ. सू.	शांडिल्य भक्ति सूत्र
ह. भ. सि.	हरि भक्ति रसामृत सिंधु
हि. सा. बृ.	हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास

---

१ | जीवनी और व्यक्तित्व

१.० उपक्रम :

यह संयोग की बात है कि ईसवी १५–१६ वीं सदियों में भारत के विभिन्न प्रांतों में ऐसे कई भक्त कवि हुए, जो अपनी साधना में सिद्ध ही नहीं कहलाये अपितु साहित्य और संगीत के भी मर्मज्ञ साबित हुए। ये विभिन्न भाषा-भाषी होकर भी एक ही तरह का भक्त-हृदय रखते थे और अपने पदों में एक ही तरह का भक्ति-भाव व्यक्त करते थे। अपनी पुनीत वाणी और आचरण के द्वारा ये अपना ही नहीं, वरन् ओरों का भी उद्धार करके 'स्वयं तीर्त्वा परांस्तारयति' वाली नीति के जीवंत उदाहरण सिद्ध हुए। ऐसों में थे हमारे आलोच्य भक्त कवि अन्नमाचार्य और सूरदास, जो विभिन्न प्रांतों में रहकर भी एक ही समय के थे और एक ही तरह के साधक, साहित्यिक और संगीतज्ञ थे।

१.१ अन्नमाचार्य की जीवनी :

१.१.१ आधार सामग्री :

तेलुगु के 'पदकविता पितामह' भक्तकवि अन्नमाचार्य की जीवनी के बारे में जान लेने की आधार–सामग्री यों है :

१) अन्नमाचार्य चरित्रमु :– यह अन्नमाचार्य के पौत्र चिन तिरुवेंगलनाथ उपनाम चिन्नन्ना से तेलुगु भाषा में द्विपद काव्य के रूप में लिखा गया है।[1] इसमें शुरू से अंत तक अन्नमाचार्य की संपूर्ण जीवनी का वर्णन हुआ है।

---

1. ति. ति. देवस्थान प्रकाशन, १९४९ संपादक, श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री

२) अन्नमाचार्य के वंशवालों के दान-लेख :– ये दान-लेख अन्नमाचार्य के पुत्र-पौत्रों के द्वारा तिरुमल–तिरुपति मंदिर के राग-भोगों की श्रीवृद्धि केलिए किये गये दान-धर्मों से संबंध रखते हैं। इनमें यत्र तत्र उन लोगों की जन्म और मृत्यु तिथियों, जीवन की मुख्य घटनाओं, आदि का उल्लेख मिलता है।[1]

३) अन्नमाचार्य के पदोंवाले ताम्र पत्र :– अन्नमाचार्य के, उनके पुत्र पेद तिरुमलाचार्य के और पौत्र चिन तिरुमलाचार्य के रचे अध्यात्म एवं शृंगार संकीर्तनों को संख्या-क्रम देकर हजारों ताम्रपत्रों पर लिखवाकर तिरुमल–तिरुपति मंदिर में तदर्थ निर्मित संकीर्तन-भंडार में सुरक्षित रखवाया गया है। यह काम अन्नमाचार्य के जीवन काल में ही शुरू हुआ और उनके पुत्र-पौत्रों के समय उन्हीं के निरीक्षण में पूरा हुआ। अन्नमाचार्य के पदोंवाले ताम्रपत्रों में संख्या १ वाले अध्यात्म एवं शृंगार संकीर्तनों के पत्रों पर जो अवतारिका दी गयी है, उसमें उनके जन्म भगवद्दर्शन तथा तिरोधान की तिथियां लिखी गयी हैं।

४) समसामयिक तथा बाद के कवियों की रचनाओं में अन्नमाचार्य के बारे में पाये जानेवाले उल्लेख :– इनमें अन्नमाचार्य के पौत्र चिन्नन्ना के काव्य 'परमयोगि विलासमु' और 'अष्टमहिषी कल्याणमु' तथा अन्नमाचार्य के दौहित्र रेवणूरि वेंकटाचार्य के काव्य 'श्रीपादरेणु माहात्म्यमु' और 'शकुंतला परिणयमु' उल्लेखनीय हैं। इन काव्यों की भूमिकाओं में अन्नमाचार्य के वंश, व्यक्तित्व, कृतियां आदि कई बातें वर्णित हुई हैं।

५) तेलुगु भाषा में रचे हुए आधुनिक कवि-वृत्त संग्रहों और साहित्य के इतिहास ग्रंथों में संग्रहीत अन्नमाचार्य की जीवनी एवं व्यक्तित्व संबंधी बातें :– इनमें ताल्लपाक कवियों की कृतियों के अब तक प्रकाशित २० जिल्दों की भूमिकाएं और 'अन्नमाचार्य चरित्र' की संपादकीय पीठिका बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनमें कई ऐतिहासिक तथ्यों का भी विवरण मिलता है।

६) अन्नमाचार्य और उनके पुत्र-पौत्रों के संकीर्तनों में मिलनेवाले अंतःसाक्ष्य :– कई संकीर्तनों में अन्नमाचार्य के जीवन चरित संबंधी अंतःसाक्ष्य, कहीं त्यक्ष रूप में तो कहीं अप्रत्यक्ष रूप में, प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इनके आधार पर उस समय की राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक व धार्मिक परिस्थितियों की, भी कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है।

---

2. ति. ति. देवस्थान दान लेख, भाग १–५

उपर्युक्त सभी आधारों का आकलन करके यहां अन्नमाचार्य की जीवनी का पूरा विवरण दिया जा रहा है ।

१.१.२ जन्म और मृत्यु तिथियां :-

अन्नमाचार्य के अध्यात्म संकीर्तनों के ताम्रपत्र १ में जो अवतारिका मिलती है उसमें यों लिखा है :–

> "स्वस्तिश्री जयाभ्युदय शालिवाहन शक वर्ष १३४६ क्रोधि संवत्सर में अन्नमाचार्यजी के अवतार होकर, उनके सोलहवें वर्ष में तिरुवेंगलनाथजी के साक्षात्कार हुए तो तब से लेकर शालिवाहन शक वर्ष १४२४ दुंदुभि संवत्सर फाल्गुण कृष्ण द्वादसी के दिन निधन तक तिरुवेंगलनाथजी के नाम अंकित करके अन्नमाचार्यजी के रचे अध्यात्म-संकीर्तन ।[1]

अन्नमाचार्य के शृंगार संकीर्तनों के ताम्र-पत्र १ में भी यही अवतारिका मिलती है, किंतु अंतर यही है कि उसमें – 'अध्यात्म संकीर्तन' के बदले 'शृंगार संकीर्तन' लिखा है ।[2]

इस अवतारिका की वाक्य रचना के अनुसार शक वर्ष १३४६ को या तो अन्नमाचार्य की जन्म-तिथि के अर्थ में, या उनको अपने सोलहवें में स्वामिसाक्षात्कार होने की तिथि के अर्थ में, दोनों तरह से दिया जा सकता है । स्व. वेटूरि प्रभाकर शास्त्रीजी इसे जन्म-तिथि मानकर यह तर्क प्रस्तुत किया है कि 'अन्नमाचार्य चरित्रं' के अनुसार आठ वर्ष की उम्र में ही अन्नमाचार्य ने तिरुमल-तिरुपति की यात्रा की । तब तक वे पदकर्ता और गायक कहलाते थे । इसलिए उसे उपनयन के बाद आठ वर्ष की उम्र करके माने तो स्वामिसाक्षात्कार उनके सोलहवें साल में हुआ सा मान सकते हैं ।[3] लेकिन श्री चागंटि शेषय्याजी ने शक वर्ष १३४६ को स्वामिसाक्षात्कार की तिथि मानकर उसमें १६ साल काटकर शक वर्ष १३३० को जन्म-तिथि निश्चय किया है ।[4]

अन्नमाचार्य चरित्र के अनुसार उपनयन संस्कार उनके पांचवें वर्ष में ही संपन्न हो गया और तिरुमल-तिरुपति की यात्रा तो उनके आठवें वर्ष में गुजरी

---

1. अ. सं. भाग ६ पृ १ में उद्धृत
2. अ. सं. भाग १२ पृ १ में उद्धृत
3. अन्नमाचार्य चरित्रं–पीठिका, पृ १७
4. आंध्रकवि तरंगिणि, भाग ६, पृ १८

थी। उसी यात्रा में उनको देवी श्रीपद्मावती का स्वप्न-साक्षात्कार हुआ। बाद में कुछ दिन तिरुमल-तिरुपति में रहकर जब वे घर वापस चले तव उनका विवाह संस्कार संपन्न हुआ। अन्नमाचार्य चरित्र में लिखा है कि विवाह के बाद उनको अहोबल नरसिंहजी की कृपा से सुदर्शन चक्र का मंत्रराज और हयग्रीव साक्षात्कार प्राप्त हुए।

श्री उदयगिरि श्रीनिवासाचारि लिखते है कि विवाह के बाद जो हयग्रीव-साक्षात्कार हुआ उसी को स्वामि-साक्षात्कार मानना और उस समय में अन्नमाचार्य को सोलह वर्ष का मानना युक्त होगा।[1] हमें भी यही मत अधिक समीचीन मालूम पड़ता है, क्योंकि अन्नमाचार्य आठ वर्ष की अवस्था में तिरुपति गये और बाद में कुछ वर्ष वहां ठहर कर घरवालों के प्रयत्न से एवं गुरु की आज्ञा पर अनिच्छा से घर गये। अतः विवाह के बाद अहोबल जाकर मंत्रसिद्धि व हयग्रीव-साक्षात्कार प्राप्त करने के समय तक उनकी अवस्था सोलह वर्ष की हुई होगी। ऐसा मानने से शकवर्ष १३४६ को उनकी जन्व वर्ष स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहेगी। इस तरह मानने पर अन्नमाचार्य का जन्म शकवर्ष १३४६ (सन १४२४ ई) क्रोधि संवत्सर वैशाख शुद्ध पूर्णिमा विशाखा नक्षत्र को[2] और वैकुंठवास शकवर्ष १४२४ (सन १५०३) दुंदुभि संवत्सर फाल्गुण कृष्ण द्वादशी को निश्चित होते हैं।

१.१.३ वंश और निवास-स्थान :

अन्नमाचार्य के वंशवाले आंध्र प्रांत में पोत्तपिनाडु कहलानेवाले कडपा जिले के ताल्लपाका नामक गांव के निवासी थे। ये लोग ऋग्वेद के आश्वलायन सूत्री, भारद्वाजस गोत्रवाले नंदवरीक व्राह्मण थे। अपने गांव ताल्लपाका में व्यक्त विष्णु भगवान श्री केशवस्वामी को ये लोग अपने इष्टदेव मानते थे। अन्नमाचार्य के पिता नारायण वेदाध्ययन संपन्न थे। माता लक्कमांबा अपने जन्मस्थान माडुपूरु के माधवस्वामी की भक्तिन थी। इन्ही पुण्य दंपतियों के गर्भ में तिरुमल तिरुपति के भगवान (बालाजी) श्री वेंकटेश्वर की कृपा से, उन्हीं के खड्ग नंदक के अंश में अन्नमाचार्य का जन्म हुआ।[3]

---

1. अ, सं भाग १४—पीठिका. पृ २
2. अ. च. चिन्नन्ना, पृ ८
3. ,, पृ ३—५

१.१.४ बाल्य जीवन :

पांच वर्ष की अवस्था में ही अन्नमाचार्य का उपनयन संस्कार संपन्न हुआ। कुलागत रीति से उनका वेदाध्ययन भी शुरू हुआ।[1] लेकिन अन्नमाचार्य बचपन से ही भगवान श्री वेंकटेश्वर की भक्ति में अनुरक्ति दिखाते आये। बचपन में भी वे श्री वेंकटेश्वर के नाम पर संकीर्तन रचकर गाया करते थे।[2] घरवालों के कहे अनुसार छोटे-मोटे कामों में भाग लेते रहने पर भी वे उनमें अपना मन नहीं लगा पाते थे। एक दिन गौओं केलिए घास चीलते वक्त उनकी उंगली कट गयी तो तभी तत्काल विरक्त होकर वे उस रास्ते तिरुपति जानेवाले यात्रियों के साथ वहां जा पहुंचे।[3]

१.१.५ तिरुपति-यात्रा :

अन्नमाचार्य चरित्र के अनुसार अन्नमाचार्य पहले तिरुपति की क्षेत्रवासिनी शक्ति 'गंगम्मा' के दर्शन करके फिर तिरुमल पहाड़ पर चढ़ने लगे। उस समय उनकी उम्र आठ वर्ष की थी। अतः पहाड़ पर चढ़ते चढ़ते वे थक गये और रास्ते में एक पत्थर पर बेहोश गिर पड़े। उसी बेहोशी की स्थिति में उनको देवी पद्मावती, उपनाम अलमेलमंगा का स्वप्न साक्षात्कार हुआ और देवी के हाथ का प्रसाद भी मिला।[4] होश आने पर उन्होंने आशुमार्ग में देवी का यश गाते एक शतक की रचना की। यह शतक अलमेलमंगा की स्तुति में रचे जाने पर भी श्री वेंकटेश्वर की मुद्रा (मकुट) से शोभित है।[5]

१.१.६ वैष्णव दीक्षा :

बाद में अन्नमाचार्य ने तिरुमल पहुंचकर, वहां के सभी तीर्थों में स्नान करके भगवान श्री वेंकटेश्वर के दर्शन किये। स्वामी के सम्मुख खड़े होकर उन्होंने और एक शतक रचकर सुनाया।[6] बालक की प्रतिभा देखकर वहां के वैष्णवाचार्यों

---

1. अ. च. चिन्नन्ना, पृ ८
2. ,, पृ १०
3. ,, पृ १५
4. ,, पृ १८
5. ,, पृ १८ (तेलुगु में करीब सौ मुक्तकों के काव्य को शतक कहते हैं। शतक के सभी पद्य एक ही मुद्रा से, जिसे मकुट कहते हैं, रचे जाते हैं। उपरोक्त शतक १९४२ ई में वाविल्ला प्रेस, मद्रास से प्रकाशित हो चुका है।)
6. अ. च. चिन्नन्ना, पृ २५ (यह शतक अब अप्राप्य है।)

को बड़ा आश्चर्य हुआ। कहा गया है कि घनविष्णु नामक वैष्णव आचार्य को भगवान से ऐसी प्रेरणा मिली कि वे बालक अन्नमय्या को वैष्णव दीक्षा दें। उनसे दीक्षित होकर अन्नमाचार्य कुछ साल तिरुमल में ही रह गये। उन दिनों में वे रोज कम से कम एक नया पद (संकीर्तन) रचकर श्री वेंकटेश्वर की मूर्ति के सामने गाया करते थे।

१.१.७ विवाह :

कुछ साल के बाद अन्नमय्या को ढूंढते उनके घरवाले तिरुमल गये और गुरु की अनुमति लेकर उनको अपने साथ घर ले गये। वहां एक शुभ मुहूर्त में तिरुमलम्मा और अक्कलम्मा नामक दो कन्याओं से उनका विवाह संस्कार संपन्न किया गया।[1]

१.१.८ द्राविड वेद का अध्ययन :

विवाह के बाद अन्नमाचार्य को अहोबल नरसिंह स्वामी की कृपा से त्रिदंड, सुदर्शन चक्र का मंत्र वगैरह प्राप्त हुए। उनके बल इनको हयग्रीव साक्षात्कार भी प्राप्त हुआ। बाद में अहोबल मठ के संस्थापक श्री आदि वन् शठगोप यति के यहां इन्होंने वेदांत और द्राविड वेद का नियम पूर्वक अध्ययन किया।[2] तमिल भाषा में आलवार भक्तों के रचे चार हजार (नालायिर) पदों के संग्रह को द्राविड वेद कहते हैं। दक्षिण के वैष्णवालयों में इन पदों का पठन-पाठन और वेद-मंत्रों की तरह विभिन्न अर्चा अवसरों में विनियोग हुआ करता है। अन्नमाचार्य को हजारों की संख्या में पदों की रचना करने की स्फूर्ति व प्रेरणा इसी द्राविड वेद के अभ्यास से मिली थी। इनके पुत्र-पौत्रों ने भी यही आदर्श मान कर पदों का निर्माण किया। तभी इनको 'द्राविडागम सार्वभौम', 'आंध्र वेदांत निर्मा',त 'पद कविता पितामह' जैसी कई उपाधियां (बिरुदें) प्राप्त हुईं।

१.१.९ पद-रचना

अहोबल से निकल कर अन्नमाचार्य कभी तिरुपति में और कभी अपने गांव ताल्लपाका में रहते, हर साल श्री वेंकटेश्वर के ब्रह्मोत्सव में भाग लेते, स्वामी के यशोवर्णन में नित नये पद रचते जीवन बिताने लगे। उन दिनों में उन्होंने वाल्मीकीय रामायण के अनुसार रामकथा को लेकर उसे कितने ही गीतों के रूप में रचा था।[3]

---

1. अ. च. चिन्नन्ना, पृ २९
2. ,, पृ ३०
3. ,, पृ ३०

१.१.१० राज-सत्कार :

अन्नमाचार्य की कविता एवं गानकला की ख्याति दिनोंदिन बढ़ने लगी। उन दिनों में ताल्लपाका के समीप में टंगुटूर नामक नगर में सालुव नरसिंहराय नामक राजा रहता था। वह तब विजयनगर राजाओं के अधीन दंडनायकों में एक था। अन्नमाचार्य की ख्याति सुनकर उसने उनको अपने यहां बुलाया। फिर उनका बड़ा सम्मान करके राजा ने उनको अपने गुरु मानकर उनकी सलाह पर चलने की अपनी इच्छा प्रकट की। आचार्य ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की। सत्यवादी एवं संतत भगवत् स्मरणशील होने के कारण अन्नमाचार्य की आशीश सुफलदायिनी हुई, तो राजा नरसिंहराय अनति काल में ही उन्नति करते करते अंत में विजयनगर साम्राज्य का अधिपति बना। सन् १४८५–९० के बीच में विजयनगर में उसका शासन चला। चंद्रगिरि, उदयगिरि, पेनुगोंडा आदि दुर्गों पर उसका अधिकार पहले ही हो चुका।[1]

१.१.११ भक्ति-महिमा :

एक बार पेनुगोंडा किले में रहकर राजा नरसिंहराय ने अन्नमाचार्य को वहां बुलवाया और अपने यश का वर्णन करने का आदेश दिया। भक्त कवि ने 'हरी हरी' कहकर, अपने दोनों कानों पर हाथ लगाकर राजा से कहा कि 'हम लोग परम पतिव्रता भाव से भगवान श्रीहरि का यश गानेवाले हैं। मुकुंदस्मरण को अर्पित मेरी जिह्वा तुम्हारा यश नहीं गा सकती।'[2] राजा को इस बात पर क्रोध हुआ और उसने भक्त कवि के पैरों में संकल पहनाकर, उन्हें कैद करने की आज्ञा दी। लेकिन अन्नमाचार्य ने अपने इष्टदेव श्री वेंकटेश्वर की स्तुति करके इस विपत्ति से विमुक्ति पायी। भक्त कवि की महिमा देखकर राजा का गर्व चूर चूर हो गया। उसने उनके पैरों गिरकर क्षामा मांगी।[3] अन्नमाचार्य के अध्यात्म संकीर्तनों में 'आकटि वेलल नलपैन वेलल',[4] 'नी दासुलभंगमुलु',[5] 'दासवर्गमुल केल्ल दरिदापु',[6] वाले संकीर्तन इस घटना के बारे में अंतः साक्ष्य

---

1. अ. च. पीठिका, पृ ४४
2. अ. च. चिन्नन्ना, पृ ३६–३७
3. „ पृ ३८
4. अध्यात्म कीर्तनलु, ताम्रपत्र २६
5. 6. „ „ २४७

देते हैं। इस घटना के बाद राजा फिर पहले की तरह अन्नमाचार्य के प्रति गौरव भाव रखता चला। राजा के यहां माननीय रहकर अन्नमाचार्य ने धन-कनक-वस्तु-वाहन-विभूषादि के कई सत्कार पाये। तिरुमल-तिरुपति में उसी समय इनके गृहादिक बने। राजा के साथ वे कभी हंपी विजयनगर भी गये होंगे, वहां के विट्ठलेश्वरजी आदि के वर्णन में इनके कई पद मिलते हैं।[1]

१.१.१२ स्वामी का अनुग्रह :

राजा नरसिंहराय का गर्व दूर करने के बाद अन्नमाचार्य पेनुगोंडा से निकल कर नारायणगिरि जाकर वहां से सीधे तिरुमल पहुंचे। तिरुमल में अपने इष्टदेव श्री वेंकटेश्वरजी के सान्निध्य में उन्होंने 'शृंगार मंजरी' नामक एक लघु काव्य रचकर सुनाया तो उस पर स्वामी बहुत प्रसन्न हुए। अन्नमाचार्य चरित्र के अनुसार उस समय स्वामी ने अपने भक्त से कहा कि 'पहले के भक्त कवि पोतकमूरि भागवतों की लोरियां सुनते वक्त मैं बालक बनता था।[2] बाद में कृष्णमाचार्य के संकीर्तनों को सुनते समय मैं विरक्त हुआ करता था।[3] अब तुम्हारे इस शृंगार काव्य को सुनकर मैं अपने को फिर नवयुवक मान रहा हूं।[4] शृंगार मंजरी में अन्नमाचार्य ने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय के अनुसार रहस्योन्मुख कांताभाव की भक्ति का विशद वर्णन किया है।

१.१.१३ अलौकिक महिमाएं :

अन्नमाचार्य की वाणी शापानुग्रह दक्ष थी। उनके पौत्र चिन्नन्ना इस संदर्भ में लिखते हैं कि 'अन्नमाचार्य की वाणी की महिमा से परिचय रखनेवाले वृद्ध महात्मा लोग अब भी जीवित हैं और उनसे ऐसी कितनी ही कहानियां सुनने को मिलती हैं।'[5] इन कथा-किंवदंतियों में से किसी किसी का वर्णन बाद के कवियों की रचनाओं में भी मिलता है।[6] ऐसी कथाओं के अनुसार आचार्यजी ने एक बार मरुलुंकु नामक अपने स्वाधीन ग्राम में किसी आम के पेड़ के फल अपने इष्टदेव को चढ़ाये, किंतु जब उनको यह मालूम हुआ कि वे फल बहुत कड़ुवे थे

---

1. अ. च. पीठिका, पृ ५५–५८
2. पोतकमूरि भागवत लोग १३ वीं सदी के अहोबल नारसिंह के भक्त थे।
3. कृष्णमाचार्य १३ वीं सदी के प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य और सिंहगिरि नृसिंह भक्त थे।
4. अ. च. चिन्नन्ना, पृ ४१–४२
5. ,, पृ ४२–४३
6. अ. च. पीठिका, पृ ६५

तभी अपनी वाणी के बल उस पेड़ के फलों को सुस्वादु मधुर बना दिया। उसी तरह उनकी कृपा से अपने को विवाहित देखने की आशा से आये हुए किसी ब्राह्मण को अपार धन मिला। एक बार अन्नमाचार्य की स्वीय अर्चामूर्ति और अन्य पूजा सामग्री की चोरी हो गयी। आचार्य ने तब 'इंदिरा रमणुनि देच्चि ईयरो'[1] (इंदिरा रमण को ला दो) कहकर एक पद रचकर गाया तो तुरंत चोरी का माल पुनः मिल गया।

१.१.१४ यात्राएं :

अन्नमाचार्य ने दक्षिण के सभी प्रसिद्ध वैष्णव क्षेत्रों की यात्रा की। वे जहां कहीं जाते वहां के भगवान को अपने इष्टदेव श्री वेंकटेश्वर से अभिन्न मानकर ही उन पर संकीर्तन रचकर गाया करते थे। कांची, श्रीरंगम्, अहोबल, संबटूरु, कडपा, कलशापुरम्, मुडियम्, मंगापुर, विद्यानगर (हंपी) जैसे कितने ही क्षेत्रों में व्यक्त विभिन्न विष्णुमूर्तियों की स्तुति में इनके रचे कई संकीर्तन मिलते हैं। लेकिन सभी में 'श्री वेंकटेश्वर' की ही मुद्रा मिलती है। उनकी रचनाओं में नरसिंह 'वेंकटनरसिंह' होकर मिलते हैं, तो श्रीराम 'वेंकट राम' होकर वर्णित हुए मिलते हैं। 'राधा माधव रति चरित मिदं' वाले पद में भी अंतिम चरण में 'श्री वेंकटगिरि देवोयं' कहकर ही उन्होंने मुद्रा दी है।[2] यह सब उनके श्री वेंकटेश्वर पर अचंचल भक्ति-विश्वास और तदेकांत साधना का प्रमाण है।

१.१.१५ वह जमाना और जीवन :

अन्नमाचार्य के काल में आंध्रप्रांत पर कभी मुसलमानों की और कभी उडीस्सा के गजपतियों की चढ़ाइयां कई बार होती रहीं। तिरुपति के आसपास के चंद्रगिरि, उदयगिरि जैसे दुर्गों पर भी इन आततायी लोगों का कुछ समय तक घेरा और अधिकार जमता रहा। अन्नमाचार्य ने अपने एक पद में इन विधर्मी व विमत राजाओं के कारण प्रजा को जो जो कष्ट उठाने पड़े, उनका आंखों देखा वर्णन किया है।[3] एक और पद में उन्होंने गजपतियों के संपर्क में आने पर उन लोगों की भाषा (उत्कल भाषा) सीखने तथा उस तरह विभाषीय बनने की अपनी दीनस्थिति का भी उल्लेख किया।[4] लेकिन वे कभी किसी के आश्रय में नहीं

---

1. अध्यात्म संकीर्तनलु, ताम्रपत्र ३७३
2. अ. सं. १२–१६५
3. अध्यात्म कीर्तनलु, ताम्रपत्र ३७३
4. „ „ २६६

रहे। सालुव नरसिंहराय के यहां वे गुरु एवं मित्र के रूप में रहते थे। उनको ऐसी बातों से पहले ही विरक्ति हो गयी थी। वे गृहस्थ होकर भी विरागी थे।

जब कभी देखो, अन्नमाचार्य कोई न कोई संकीर्तन रचते और उसे गाते ही पाये जाते थे। तभी उनको 'संकीर्तनाचार्य' 'हरिकीर्तनाचार्य' जैसी उपाधियां जनता के दरबार में ही प्राप्त हुईं। उनके संकीर्तन-पदों की ख्याति दूर दूर तक फैल गयी।

एक बार कर्णाटक के प्रसिद्ध हरिदास कवि पुरंदर दास तिरुपति-यात्रा जाकर उस समय अन्नमाचार्य से मिले।[1] उस समय पुरंदर दास उम्र में छोटे थे, अभी विरागी नहीं बने थे। तो भी वृद्ध अन्नमाचार्य को युवक पुरंदर में उज्ज्वल भविष्य की रेखा दिखाई दी। पुरंदर को भी अन्नमाचार्य के प्रति अतीव श्रद्धा हुई। इसी तरह उन दिनों के प्रसिद्ध शैव भक्तकवि यागंटि लक्ष्मय्या से भी अन्नमाचार्य की भेंट हुई और पदरचना के बारे में उन दोनों का वाग्वाद भी हो गया।[2] उन दिनों में शैव-वैष्णवों तथा स्मार्त-वैष्णवों में अक्सर ऐसे वाद-विवाद हुआ करते थे। अन्नमाचार्य के कुछ ऐसे पद भी मिलते हैं जिनमें अद्वैतियों की खूब निंदा की गयी है।[3] उसी तरह विशिष्टाद्वैत की प्रशंसा और पुष्टि में भी उनके रचे कई शास्त्रीय-तर्क-विचार वाले संकीर्तन मिलते हैं।[4]

अन्नमाचार्य के समय आंध्रप्रांत में विशिष्टाद्वैत का जोरों से प्रचार होता रहा। अहोबल, तिरुपति जैसे क्षेत्रों में तभी रामानुज गद्दियों की स्थापना हुई। अन्नमाचार्य को तिरुपति के स्थानिक वैष्णवों ने विशिष्टाद्वैत दीक्षा देकर वैष्णव बनाया तो अहोबल मठ के संस्थापक श्री आदि वन् शठगोप यति ने उनको द्रविड वेद और विशिष्टाद्वैत वेदांत का उपदेश किया। अन्नमाचार्य ने अपने इस गुरु शठगोप यति को साक्षात् भगवान ही मानकर, उनके यशोवर्णन में कितने ही संकीर्तन रचे।[5] अन्नमाचार्य के पुत्र-पौत्रों ने भी इस आचार्य के यशोगान में कई पद रचे। वास्तव में अन्नमाचार्य के पूर्वज स्मार्त अद्वैती थे, किंतु अन्नमाचार्य ने ही अपने वंश में पहले पहल वैष्णव (विशिष्टाद्वैती) बनकर, वेदांत देशिक वेंकटाचार्य के संप्रदाय (वडगलि वैष्णव संप्रदाय) का अनुसरण किया।[6]

---

1. अ. च. चिन्नन्ना. पृ ४४–४५
2. कन्नड गुरुराज चरित्र १३–७४–७६
3. अ. सं. ८–६५
4. अ. सं. ८–४०
5. अ. सं. गा. ७२
6. चिन तिरुमलाचार्य अध्यात्म संकीर्तनलु, ताम्रपत्र ९

१.१.१६ रचनाएं :

अन्नमाचार्य की रचनाएं संस्कृत और तेलुगु दोनों भाषाओं में मिलती हैं। उनके अध्यात्म और शृंगार पदों में भी सैकड़ों की तादाद में संस्कृत में रचे पद मिलते हैं। यद्यपि उनकी सभी रचनाएं अब अप्राप्य हैं, तो भी अन्नमाचार्य चरित्र में उनका विवरण जो मिलता है वह यों है :

१.१.१६.१ संस्कृत रचनाएं :

अन्नमाचार्य ने संस्कृत में 'वेंकटाचल माहात्म्यम्' और 'संकीर्तन लक्षणम्' नामक दो ग्रंथ रचे। दुर्भाग्य से आज ये दोनों ग्रंथ नहीं मिलते। तिरुमल-तिरुपति देवस्थान की ओर से जो वेंकटाचल माहात्म्य नामक विशालकाय ग्रंथ प्रकाशित हुआ, वह शायद अन्नमाचार्य की रचना अथवा उनके द्वारा संकलित ग्रंथ हो। अन्नमाचार्य के पुत्र पेद तिरुमलाचार्य ने 'वेंकटाचल माहात्म्य' के पाठक श्री अनंताचार्य को विशेष अनुदान देकर उसके पठन-पाठन का यथेष्ट प्रोत्साहन किया था।[1] लेकिन तिरुपति देवस्थान के पुरालेखों के संग्रह, भाग २ संख्या ९५ वाले लेख के अनुसार सन् १४९१ में जिय्यर रामानुजय्यंगार ने वेंकटाचल माहात्म्य को स्वामी को सुनाकर उत्सव मनाने के हेतु कुछ धन दिया। मालूम नहीं कि ये दोनों वेंकटाचल माहात्म्य एक ही ग्रंथ थे या अलग अलग ग्रंथ। आज उपलब्ध होनेवाले वेंकटाचल माहात्म्य (देवस्थान प्रकाशन) में उसके रचयिता अथवा संकलन-कर्ता या संपादक का नाम नहीं मिलता। अन्नमाचार्य के अध्यात्म संकीर्तनों में 'श्री वेंकटेशुडु श्रीपतियु नितडे' इत्यादि कुछ पद वेंकटाचल माहात्म्य में वर्णित कथाओं तथा उनके पौराणिक आकरों का उल्लेख करते हैं।[2] अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि उपलब्द वेंकटाचल माहात्म्य को अन्नमाचार्य ने ही जिय्यर रामानुजय्यंगार केलिए संपादित किया होगा।

संकीर्तन लक्षण का अन्नमाचार्य के पौत्र चिन तिरुमलाचार्य ने आंध्रानुवाद प्रस्तुत किया है। यह पद्य काव्य तिरुपति देवस्थान की ओर से प्रकाशित हो चुका है। इसकी अवतारिका में अनुवाद कर्ता ने लिखा है कि मूल-काव्य उसके पितामह अन्नमाचार्य की संस्कृत रचना है और उसके पिता पेद तिरुमलाचार्य ने उस पर विपुल विवरण भी प्रस्तुत किया है।[3] आज न तो मूल रचना मिलती है न उसपर लिखा हुआ विवरण। हमें उपलब्ध आंध्र पद्यानुवाद से ही संतुष्ट रहना पड़ता है।

---

1. अ. च. पीठिका, पृ ७२
2. अध्यात्म संकीर्तनलु, ताम्रपत्र ८७
3. संकीर्तन लक्षण, पद्य १५–१७

१.१.१६.२ तेलुगु रचनाएं :

अन्नमाचार्य ने रामायण द्विपद काव्य, शृंगार मंजरी और विभिन्न भाषाओं में १२ शतक रचे ।[1] लेकिन आज उनमें से शृंगार मंजरी और वेंकटेश्वर शतक नामक एक शतक ही मिलते हैं । ये दोनों ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं । बाकी रचनाओं का अभी तक पता नहीं चलता । रामायण कथा से संबंध रखनेवाले कई गीत तो अध्यात्म और शृंगार संकीर्तनों में मिलते हैं ।

१.१.१६.३ अध्यात्म और शृंगार संकीर्तन :

अन्नमाचार्य को पद-कवितापितामह, संकीर्तनाचार्य, हरिकीर्तनाचार्य आदि कीर्तनाम प्राप्त हुए तो वह उनके हजारों की संख्या में रचे अध्यात्म व शृंगार संकीर्तनों के कारण से ही वैसा हुआ । अन्नमाचार्य चरित्र में चिन्नन्ना ने लिखा है कि उन्होंने योग, वैराग्य और शृंगार के बत्तीस हजार संकीर्तन (पद) रचे थे ।[2] लेकिन दुर्भाग्य से इन पदों में से बहुत सा भाग अब खो गया है। तिरुपति देवस्थान के अधीन ताम्रपत्रों में करीब १५ हजार पद मिलते हैं । श्रीरंगम्, अहोबलम्, जैसे अन्य क्षेत्रों में भी अन्नमाचार्य के पदोंवाले ताम्रपत्र पाये जाते हैं । परंपरा और पुरालेख कहते हैं कि इनके पदों की व्याप्ति मंगलगिरि, सिंहाचल जैसे सुदूर क्षेत्रों तक हुई थी । तिरुपति देवस्थान की ओर से सभी प्राप्त पदों का प्रकाशन कार्य भी संपन्न हो रहा है । अब तक ताल्लपाक कृतियों व अन्नमाचार्य संकीर्तनों की बीस जिल्दे प्रकाशित हो चुकी हैं ।

१.१.१७ संतति व सौभाग्य :

अन्नमाचार्य की दोनों पत्नियां सत् संतानवती हुईं । तिरुमलम्मा के नरसन्ना नामक पुत्र और अक्कलम्मा के पेद तिरुमलाचार्य नामक पुत्र तथा तिरुमलांबा एवं नरसांबा नामक पुत्रियां हुईं ।[3] पेद तिरुमल आचार्य के भी चिन तिरुमलाचार्य, अन्नमय्या, पेद तिरुवेंगलनाथ, चिन तिरुवेंगलनाथ (चिन्नन्ना) और कोनेटिनाथ नामके पांच पुत्र हुए ।

अन्नमाचार्य के परिवार के सभी लोग कवि, पंडित, गायक व भक्त वैष्णव हुए । अन्नमाचार्य की पत्नी तिरुमलम्मा, उपनाम तिम्मक्का ने 'सुभद्रा परिणय'

---

1. अ. च. पृ ४५–४६
2. अ. च. पृ ४५
3. ति ति. देवस्थान पत्रिका, १९६१ पृ २७२

नामक द्विपद काव्य रचा। अब तक प्राप्त साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर कहना हो तो यही तेलुगु भाषा की प्रथम कवयित्री थी। अन्नमाचार्य के पुत्र पेद तिरुमलाचार्य और पौत्र चिन तिरुमलाचार्य के भी आध्यात्म व शृंगार संकीर्तन मिलते हैं। इनके अलावा इन लोगों ने और कई काव्य रचे हैं। अन्नमाचार्य के दौहित्र एवं प्रपौत्र भी तेलुगु और संस्कृत के विद्वान कवि हुए। (देखिए: अनुबंध)

विरक्त होने पर भी अन्नमाचार्य का जीवन सुख-समृद्धियों के बीच गुज़रा। उनकी संपदा उनके पुत्र-पौत्रों के समय और भी अधिक हुई। अन्नमाचार्य के पुत्र पेद तिरुमलाचार्य के समय में तिरुमल-तिरुपति में इनका एक मठ बना और कई चात्ताद वैष्णव और बुनकर लोग इनके शिष्य हुए। श्री वेंकटेश्वर स्वामी के और तिरुमल-तिरुपति के अन्य छोटे-मोटे मंदिरों के राग-भोगों की श्रीवृद्धि के हित इन्होंने तेरह गांवों को और रेखापोनों (सोने के सिक्कों) की धन-राशि को समय समय पर दान में दिया।[1] ये लोग 'श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्य', 'रामानुज सिद्धांत स्थापनाचार्य', 'कवि तार्किक गज केसरी', 'शरणागत वज्रपंजर' इत्यादि कई विरुदों से विभूषित थे। अपने तथा अपने पिता अन्नमाचार्य के संकीर्तनों को तथा अन्य रचनाओं को ताम्रपत्रों पर लिखवाकर तिरुमलै-मंदिर में तदर्थ निर्मित संकीर्तन-भंडार में सुरक्षित रखवाने का यश पेद तिरुमलाचार्य को मिलता है। इन ताम्रपत्रों में एक जगह उनके उत्कीर्णकर्ता ने ऐसा लिखा है कि 'श्री ताल्लपाकम् तिरुमलय्यंगार की आज्ञा से अन्नमराजु तिम्मय्या ने लिखा।'[2] संकीर्तन भंडार के पास और स्वामी के सन्निधान में तथा अहोबलम्, श्रीरंगम्, मंगलगिरि, सिंहाचलम् जैसे अन्यान्य क्षेत्रों में भी संकीर्तनों को नियत समयों में गाने तथा संकीर्तन सेवा का प्रचार करने के उद्देश्य से अन्नमाचार्य के पुत्र-पौत्रों ने विशेष धनव्यय किया।[3] कई नये उत्सवों के साथ श्री वेंकटेश्वर स्वामी के कल्याणोत्सव की शाश्वत परिपाटी भी इन लोगों ने चलाई। मंगापुर के कल्याण वेंकटेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार कराके वहां अपने पितामह अन्नमाचार्य और पिता पेद तिरुमलाचार्य के विग्रहों के साथ चिन तिरुमलाचार्य ने अपने विग्रह को भी मंदिर शिल्प में स्थान दिलाया। कहा गया है कि उक्त मंदिर में उन्होंने अन्यान्य आलवारों की मूर्तियों के साथ अपने पितामह अन्नमाचार्य की मूर्ति की भी स्थापना कराई थी, लेकिन वह मूर्ति आज गायब है।[4]

---

1. ति. ति. दे. पुरालेख, भाग ५ लेख ३४, ४७, ४७ए, ५५, ६८ आदि
2. अ. सं. लंबे ताम्रपत्र ५
3. ति. ति. दे. पुरालेख, भाग ५ लेख ७१, ९१, १५३ आदि
4. अ. च. पीठिका, पृ ८६–८७

अन्नमाचार्य और उनके पुत्र-पौत्रों की कीर्ति व संपदा से ईर्ष्या करके कुछ लोगों ने इनसे विरोध व वैर रखकर एक दो बार इनको मारने के प्रयत्न भी किये। उनसे इनके संकीर्तनों का उपहास ही नहीं, बल्कि उनका छायापहरण भी हुआ हो। अन्नमाचार्य के एक-दो संकीर्तनों में ऐसे लोगों की खूब खबर ली गयी थी।[1] पेद तिरुमलाचार्य के पदों में भी एक जगह ऐसे घातक शत्रुओं के प्रयत्न-वैफल्य का उल्लेख मिलता है।[2]

१.१.१८ उपसंहार :

जो हो, अन्नमाचार्य अपने इष्टदेव श्री वेंकटेश्वर के सन्निधान में उनकी संकीर्तन-सेवा एवं कल्याणोत्सवों में भाग लेते आजीवन संतृप्त रहे। 'पुत्रादिच्छेत् पराजयं' वाली नीति के अनुसार अपने से बड़े पुत्र-पौत्रों को पाकर अपने यशोरूप में हज़ारों-कीर्तन छोड़कर शकवर्ष १४२४ (सन् १५०३ ई) में अन्नमाचार्य अपने भगवान के परमधाम को प्राप्त हो गये।

१.२ सूरदास की जीवनी :

सूरदास की जीवनी के बारे में जानने के लिये सांप्रदायिक साहित्य, भक्त कवियों के जीवन-वृत्त-संग्रहों, समसामायिक इतिहास ग्रंथों, आधुनिक खोज रिपोर्टों, हिन्दी साहित्य के विविध इतिहास ग्रंथों और सूरदास पर लिखे हुए कई खोज प्रबंधों व लेखों आदि से बहुत सहायता मिलती है। अब तक प्राप्त प्रामाणिक-साक्ष्याधारों की खूब छान-बीन करके सूरदास की जीवनी पर कई विद्वान लेखक पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। फिर भी सूर के बारे में जानने योग्य कई बातें अभी संदिग्ध-पूर्ण रह गयी हैं। उनके जन्मस्थान, जन्मतिथि, जाति वंश, पारिवारिक जीवन, अकबर से भेंट, सूरसागर के अतिरिक्त अन्य रचनाओं का निर्माण, गोलोकवास की तिथि जैसी कितनी ही बातें अभी विवादास्पद रह गयी हैं। विज्ञ आलोचकों ने प्राप्त सामग्री के आधार पर औचित्य एवं बहुमत से प्रेरित होकर जो कुछ निर्णय किये है, उन्हीं के आधार पर यहां उनकी जीवनी का एक संक्षिप्त चित्र उपस्थित किया जा रहा है।

१.२.१ जन्मस्थान :

पहले के आलोचकों ने सूर के जन्मस्थान को रुनकता क्षेत्र माना था। कारण यही है कि सूरदास कई दिन गौघाट पर रहे थे और इसके समीप में ही

---

1. अध्यात्म संकीर्तनलु, ताम्रपत्र १९६, ३७८
2. अ. च. पीठिका, पृ ८१

रेणुकाजी का स्थान, परशुराम का मंदिर और रुनकता गांव पड़ते हैं ।[1] कुछ लोगों ने साहित्य लहरी के वंशपरिचयवाले पद के आधार पर गोपाचल अथवा ग्वालियर को सूर का जन्मस्थान सिद्ध करने का यत्न किया ।[2] लेकिन भाव-प्रकाश, अष्टसखामृत जैसे ग्रंथों में दिल्ली से चार कोश की दूरी पर के सीही नामक गांव को सूर का जन्मस्थान लिखा गया है । कवि मियांसिह ने सूर के जन्म, जाति आदि के बारे में लिखते "मथुरा प्रांत विप्र कर गेहा, भो उत्पन्न भक्त हरि नेहा" लिखा है ।[3] आज दिल्ली के समीप में सीही नामक कोई गांव तो नहीं मिलता, लेकिन दिल्ली-मथुरा रोड् पर इस नाम का एक गांव अब भी मिलता है । शायद मियांसिंह का संकेत इसी गांव से हो । डा. हरबंशलाल शर्मा जी लिखते हैं कि दिल्ली-मथुरा सड़क पर वल्लभ गढ़ के निकट सीही नामक एक गांव है । वहां यद्यपि सूर संबंधी कोई स्मारक अब विद्यमान नहीं है तथापि वहां के लोगों में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि महाकवि सूरदास का जन्म उसी सीही ग्राम में हुआ था ।[4] डा. सत्येंद्रजी के अनुसार भी यही सीही सूर का जन्मस्थान है ।[5] अन्य विरुद्धप्रमाणें की अनुपलब्धि में यही मत अधिक समीचीन जान पड़ता है ।

१.२.२ जन्म-तिथि :

पहले के आलोचकों ने साहित्य लहरी के 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' वाले पद और सूर सारावली के 'गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीण' वाले पद के आधार पर साहित्य लहरी का रचना-काल सं १६०७ मानकर, फिर उसमें से ६७ वर्ष काटकर सं १५४० को सूर की जन्मतिथि माना है । लेकिन वार्ता साहित्य के आधार पर सूरदास को महाप्रभु वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे मानकर, उनकी जन्मतिथि का निर्णय करना आधुनिक आलोचकों को अधिक समुचित जान पड़ता है । महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म, सांप्रदायिक साहित्य के अनुसार सं १५३५ की वैशाख कृष्ण दशमी उपरांत एकादशी रविवार को हुआ ।[6] अतः सूर का जन्म इससे दस दिन बाद, याने सं १५३५ की वैशाख शुक्ल पंचमी

---

1. सूर और उनका साहित्य – डा. हरवंशलाल शर्मा, पृ २२
2. सूरदास–पीतांवरदास वडथ्वाल (सूर और उनका साहित्य, पृ २२ में उद्धृत)
3. सूर और उनका साहित्य, पृ २२ में उद्धृत
4. " " पृ २२
5. सूर की झांकी–डा. सत्येंद्र, पृ ८६
6. वल्लभ दिग्विजय, पृ ७

मंगलवार को हुआ होगा। श्री गोपिकालंकार भट्टू जी का सूर संबंधी पद भी 'जो प्रगटे भक्त शिरोमणि राय, माधव शुक्ला पंचमि ऊपर छटिठ अधिक सुखदाय' कहकर उपरोक्त मत को ही पुष्ट करता है। नाथद्वारे में अब भी वल्लभ जयंती के बाद दसवें दिन सूर का जन्मदिन मानने की प्रथा चालू है। 'सूर निर्णय' में लिखा है कि "वल्लभ संप्रदाय की सेवा-प्रणाली के इतिहास की संगति से सूर सारावली का रचना-काल सं १६०२ स्पष्ट होता है। उस समय सूर की आयु ६७ वर्ष की थी। १६०२ में से ६७ कम कर देने से १५३५ रहते हैं। अतः अंतः साक्ष्य से भी सूरदास का जन्म सं १५३५ सिद्ध होता है।"[1] डा. हरवंशलाल शर्मा जी लिखते हैं कि श्री वल्लभाचार्य जी के विषय में अभी तक 'वल्लभ दिग्विजय' ही प्रामाणिक ग्रंथ है और उसमें उनका जन्म सं १५३५ ही माना है।[2] अतः आचार्य जी की जन्मतिथि में दस दिन जोड़कर सूर की जन्मतिथि को निश्चित करने पर सूर की जन्मतिथि सं १५३५ (सन् १४७८) की वैशाख शुक्ल पंचमी उपरांत षष्ठी मंगलवार के दिन ठहरती है।

१.२.३ जाति तथा वंश :

साहित्य लहरी के १०१८ वें पद के आधार पर पहले के आलोचकों ने सूर को चंद का वंशज माना था। नानूराम भट्टजी से प्राप्त वंशावली भी उपरोक्त पद से मेल खाती दिखायी दी, तो वह अनुमान निश्चय का रूप लेने लगा। लेकिन चंद इसमें ब्रह्मभट्ट बन गया तो उनको भट्ट ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया। सूर के कुछ पदों में ढाढी, ढाढिन, जगा जैसे शब्दों को देखकर उनको उक्त जातियों में से किसी एक में उत्पन्न मानने का भ्रम और ब्राह्मणोतर कहने का श्रम भी कम नहीं हुआ। लेकिन भावप्रकाश जैसे सांप्रदायिक ग्रंथों में सूर को सारस्वत ब्राह्मण बतलाया गया है।[3] साहित्य लहरी के पद के आधार पर अथवा ढाढी ढाढिन जैसे शब्दों के आधार पर सूर के वंश, जाति, परिवार इत्यादि का निर्णय करना ठीक नहीं जंचता। पहले, साहित्य लहरी का वह पद ही प्रामाणिक नहीं है। दूसरे, उसमें शायद किसी दूसरे सूरदास का वर्णन हुआ हो। उसे सारस्वत ब्राह्मण कवि सूरदास का वर्णन नहीं मान सकते। पुष्टिसंप्रदाय की सेवा प्रणाली के अनुसार राधाष्टमी के दिन ढाढी बनने की प्रथा

---

1. सूर निर्णय–डा. प्रभुदयाल मीतल और द्वारिका प्रसाद पारिख, पृ ५३
2. सूर और उनका साहित्य, पृ २४
3. ,, पृ २५

है ।[1] सूर के अलावा अन्य अष्टछाप कवियों की भी ऐसी उक्तियां मिलती हैं । अतः अन्य सभी बातों को भूलकर यह मानना ही उचित है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे । बस, सूर के परिवार के बारे में अभी तक निश्चयपूर्वक कुछ मालूम नहीं है । हां, भावप्रकाश के अनुसार सूर अपने पिता के चौथे पुत्र थे । पिता का नाम रामचंद्र है या रामदास है, स्पष्ट नहीं होता । वे गरीब परिवार के थे । शायद सूरदासजी जन्मभर अविवाहित ही रहे, क्योंकि वे जन्मांध एवं विरक्त थे।[2]

१.२.४ अंधत्व :

सूर जन्म से अंधे थे । भावप्रकाश में उनको सलपट अंध बताया गया है । सूरदास के पदों में मिलनेवाली 'सूरदास सो बहुत निठुरता नैनन हू को हानि', 'सूर की बिरियां निठुर होई बैठे जनम अंध करिये', जैसी उक्तियां इसके प्रमाण में ली जा जकती हैं। सांप्रदायिक ग्रंथों में सूर को प्रज्ञाचक्षु होने की बात उल्लिखित है । साहित्य के संप्रदायों के ज्ञाता होने के नाते सूरदास ने जन्मांध होकर भी कई विषयों का आंखों देखा सा वर्णन किया है । अतः इन वर्णनों को देखकर उनकी जन्मांधता में संदेह करना अनुचित है । फिर, हाल ही में किसनगढ़ में प्राप्त सूरदास के, उनके जीवन काल में ही रचे हुए एक चित्र में भी उनको सलपट अंधा दिखाया गया है ।[3] उसके आधार पर भी कामिनीव्यामोह या कूप-पतन जैसी किंवदंतियों का निराकरण करके निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि सूरदास जन्म से अंधे थे ।

१.२.५ बाल्य जीवन और वैराग्य :

जन्म से अंधे होने के कारण सूरदास के मां-बाप इससे बहुत चिंतित थे । लेकिन सूरदास को जब यह बात मालूम हुई तभी छः वर्ष की उम्र में ही वे घर छोड़कर अपने गांव से कुछ दूर पर किसी एक तालाब के किनारे पीपल के पेड़ के नीचे रहने लगे । प्रज्ञाचक्षु होने से वे शकुन बताने में समर्थ हुए । फलतः शकुन बतलाने के वास्ते उनके पास अकसर कई लोग आया करते थे । उनकी कुटी वगैरह भी इन्ही लोगों ने बनवाई ।[4] धीरे धीरे उनकी कुटी भरने लगी । नौकर चाकर जम गये । कई शिष्य भी हो गये । सूर बचपन से भजन गाने में रुचि दिखाते थे । अतः कुटी में गायन-वादन की सामग्री जुट गयी । इस तरह शकुन-अपशकुन बताके धन कमाकर सूरदास अपने मां-बाप को एक ओर से संतुष्ट करते

1. सूर और उनका साहित्य, पृ २५
2. सूर की झांकी, पृ २०८
3. सूर की झांकी, पृ ९६
4. सूर और उनका साहित्य, पृ ९

दूसरी ओर से अपनी शिष्यमंडली के साथ भगवद्भजन करते, विनय के पद गाते १८ साल की उम्र तक वहीं रहे। पश्चात् वे एक दिन अपने उस जीवन से ऊब जाकर, उन सब को छोड़कर, रातों रात मथुरा की ओर चल पड़े। मथुरा में विश्राम घाट में पहुंचकर, वहां भी ज्यादा भीड़ थी तो वे वहां से निकलकर गौघाट पर आ बस गये। गौघाट पर भी इनके कई शिष्य हो गये। वे उनको स्वामी कहकर पुकारते थे। सूर की गानविद्या की भी पर्याप्त प्रसिद्धि होने लगी। पास के मथुरा, बृंदावन, जैसे प्रांतों के हरिभक्तों व हरिदासों की मंडलियों से भी इनका संपर्क होता रहा होगा।[1]

१.२.६ आचार्यजी महाप्रभु से भेंट :

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी उन दिनों में अडेल में रहा करते थे। तब तक उनका दक्षिण दिग्विजय पूरा हो चुका। वे अब श्रीनाथजी के मंदिर के निर्माण-कार्य को पूरा करने में दत्तचित्त थे। अतः वे अकसर अडेल से व्रज जाया करते थे। एक बार, संभवतः सं १५६७–६८ में वे अडेल से व्रज जाते रास्ते में गौघाट पर ठहरे।[2] चौरासी वैष्णओं की वार्ता, वल्लभ दिग्विजय जैसे सांप्रदायिक ग्रंथों के अनुसार तभी सूरदास ने आचार्य महाप्रभु के दर्शन किये और उनके आदेश पर 'हों हरि सब पतितों को नायक', 'प्रभु हों सब पतितान को टीको' जैसे विनय के पद गाकर सुनाये। लेकिन आचार्यजी उनको इस तरह घिघियाने के बदले लीलागान करने की सलाह दी और भागवत की अनुक्रमणिका सुनाई। झट सूर के मन में भागवत की लीलाओं का स्फुरण-सा हुआ। उन्होंने लीलावर्णन करके सुनाया। आचार्यजी बहुत प्रसन्न हुए। सूर को अपने संप्रदाय में दीक्षित करके पुरुषोत्तम सहस्रनाम का उपदेश दिया। सूर ने अपने सभी शिष्यों सहित वल्लभ संप्रदाय में दीक्षा ली और लीलावर्णन के एक से एक अनूठे पद रचकर गाने लगे। आचार्यजी सूरदास को अपने साथ पहले गोकुल ले गये। वहां नवनीतप्रियजी के सामने भी सूर ने पद रचकर गाया। वल्लभाचार्यजी ने तत्पश्चात् सूरदास को गोवर्धन ले जाकर वहां श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तनिया नियुक्त किया। सूरदासजी श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा में नित नये पद रचकर गाने लगे। बाद में गोवर्धन के समीप परासोली में चंद्रसरोवर के पास उनकी कुटी बनी। वे वहां रहते रोज श्रीनाथजी की सेवा में गोवर्धन जाया करते थे। गुसाई विट्ठलनाथ के समय में वे कभी कभी गोकुल और मथुरा भी हो आया करते थे।[3] विट्ठलनाथजी ने सूर को अष्टछाप के प्रथम कवि ठहराया।

---

1. सूर की झांकी, पृ १०१
2. सूर और उनका साहित्य, पृ ३०
3. „ „ पृ ३०–३२

१.२.७ अकबर से भेंट :

सूरदास की ख्याति सुनकर अकबर बादशाह को उन्हें देखने की इच्छा हुई। सूर को देखकर, उनका गाना सुनकर वे बहुत प्रसन्न तो हुए, लेकिन सूर के कंठ से अपने यशोवर्णन को भी सुनने की इच्छा की। सूर ने इसके जवाब में 'मना रे तू करि माधव सो प्रीति' और 'नाहि न रह्यौ मन में ठौर' वाले पद गाये तो बादशाह को अपनी भूल मालूम पड़ी। उन्होंने सूरदास को बहुत धन देना चाहा, लेकिन सूर भगवदीय ने इसका भी तिरस्कार किया। इतिहास के आधार पर दीनदयालगुप्तजी ने इस घटना को सन् १५७९ में संभव माना है, क्योंकि उन्हीं दिनों में अकबर की आजमीर यात्राएं गुजरीं।[1] फिर, वल्लभ संप्रदायवालों को अकबर के फरमान भी सन् १५७७–८२ के बीच में मिले।[2] श्रीनाथजी का भी उन दिनों में कुछ समय तक मथुरा में सेवा-क्रम चलाया गया। अतः सूरदास उनकी सेवा में मथुरा गये होंगे और तभी अकबर से उनकी भेंट हुई होगी।

१.२.८ तुलसी से भेंट :

बेणीमाधव प्रसादजी की कृति 'गुसाईं चरित' में सं १६१६ में सूरदास और तुलसीदास की भेंट होने का वर्णन हुआ। आज तो यह कृति अप्रामाणिक मानी जा चुकी है। फिर भी डा. हरबंशलाल शर्मा जी लिखते हैं कि प्राचीन वार्ता साहित्य के अनुसार नंददासजी पहले सूरदास के साथ परासोली में कुछ दिन रहे थे, और उनसे मिलने जब तुलसीदास वहां आये तब सूर से उनकी भेंट हुई होगी।[4]

१.२.९ रचनाएं :

खोज रिपोर्टों, इतिहास ग्रंथों और ग्रंथालयों में संग्रहीत सूर साहित्य को देखने पर सूरदास की पच्चीसों ग्रंथों के नाम मिलते हैं। डा. हरबंशलालशर्माजी के अनुसार उनकी सूची यों है।[5]

---

1. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ २१७
2. सूर और उनका साहित्य, पृ ३३
3. सूर निर्णय, पृ ९२
4. सूर और उनका साहित्य, पृ ३३
5. ,, ,, पृ ३५

१ सूर सारावली
२ भागवत भाष्य
३ सूर रामायण
४ गोवर्धनलीला
५ भंवर गीत
६ प्राण प्यारी
७ सूर साखी
८ सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद
९ एकादशी माहात्म्य
१० साहित्य लहरी
११ दशम स्कंध भाषा
१२ मान लीला
१३ नाग लीला
१४ दृष्टि कूट के पद
१५ सूर पचीसी
१६ नल दमयंती
१७ सूर सागर
१८ सूर सागर सार
१९ राधा रासकेली कौतूहल
२० दान लीला
२१ ब्याह लो
२२ सूर शतक
२३ सेवा फल
२४ हरिवंश टीका (संस्कृत)
२५ राम जन्म

इनमें से कुछ ग्रंथ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित हैं। नामों के आधार पर ही ऐसा लगता है कि इनमें से कई ग्रंथ सूरसागर के अंश मात्र हैं। कई ग्रंथ तो टेक के आधार पर सूर के माने गये हैं। आधुनिक आलोचकों की राय में सूर सारावली, साहित्य लहरी और सूरसागर ही सूर की प्रामाणिक रचनाएं हैं। लेकिन डा. ब्रजेश्वर वर्मा,[1] डा. सत्येंद्र[2] जैसे कुछ विद्वान केवल सूरसागर को ही सूर की एक मात्र प्रामाणिक रचना मानते हैं। वार्ता साहित्य में भी केवल सूर-सागर का ही उल्लेख मिलता है।

सूर-सारावली के आरंभ में ऐसा लिखा है कि 'अध श्री सूरदास जी कृत सूरसागर सारावली तथा सवा लाख पदों का सूचीपत्र।' लेकिन ग्रंथ को आद्यंत पढ़ने पर मालूम पड़ता है कि यह न तो सूरसागर का सारांश है न उसका सूचीपत्र। जैसे डा. हरवंशलाल शर्मा लिखते हैं, यह सिद्धांत रूप में लिखा हुआ पृथक शैली में एक पृथक ग्रंथ है।[3] इसमें होली के एक बृहद् रूपक में संसार का और उसमें भगवान की विविध लीलाओं का वर्णन हुआ है। वैसे ही इसमें भागवत के अनुसार सृष्टि-प्रकार, सांख्य-विचार, २४ अवतारों का वर्णन, कृष्ण लीलाओं का वर्णन, दृष्टि कूट, रासलीला जैसे प्रसंग ११०७ पदों में वर्णित हुए

1. सूरदास, पृ ९७
2. सूर की झांकी, पृ १३०
3. सूर और उनका साहित्य, पृ ४१

हैं। हरि लीला का महत्व भी गाया गया है। लेकिन इसमें होली का रूपक भी वर्णित है। डा. मुंशीराम शर्मा के शब्दों में 'सारावली एक बृहद होली नाम का गीत है, जिसकी टेक है 'खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो वेद विदित यह बात'। इसी एक गीत की ११०७ कड़ियां हैं जो सारावली के छंदों के रूप में प्रकट की गयी हैं।'[1]

साहित्य लहरी सूर के दृष्टिकूट पदों का संग्रह है। रस, अलंकार, नायिकाभेद वाली शैली में रचे ११८ पद इसमें संग्रहीत हैं। अंत में नौ पद ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। लेकिन इस ग्रंथ में भी कुछ प्रक्षिप्त पाये जाते हैं। कई पद सूरसागर के छपे संस्करणों में मिलते हैं। फिर भी दीनदयाल गुप्त जी जैसे आलोचक इसे स्वतंत्र ग्रंथ ही मानते हैं।[2] डा. हरवंशलाल शर्मा जी इसे नंददास अथवा उनके पुत्र के हित रचे सूर का ग्रंथ मानते हैं।[3] भाव, भाषा, शैली, वर्ण्य विषय आदि को लेकर सूरसागर से इसके साम्य की परीक्षा करके डा. मनमोहन गौतम ने इसे सूर की प्रामाणिक रचना एवं पृथक ग्रंथ सिद्ध किया है।[4]

सूरसागर महाभागवत पुराण के आधार पर विविध प्रसंगों को लेकर रचे मुक्तक गेय पदों का संग्रह है। भावप्रकाश के अनुसार इसमें ज्ञान वैराग्य के न्यारे न्यारे भक्ति भेद, भगवदवतार और उनकी सब लीलाओं का वर्णन है।[5] यों तो भागवत के सभी स्कंधों के प्रसंग इसमें वर्णित हैं, किंतु सूर का भक्त हृदय दशम स्कंध की कथा के वर्णन में अधिक रम गया तो उसके प्रसंगों का इसमें विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। खासकर, बाल कृष्ण एवं कुंज विहारी मुरली कृष्ण की लीलाओं के वर्णन में एक से एक अनूठे पद रचे हुए हैं। इसमें सूर ने अपनी ओर से कुछ प्रसंग जोड़कर भी कितने ही पद रचे हैं। राधा-कृष्ण प्रेम लीलाओं का वर्णन इसी तरह सूर की अपनी रुचि के अनुसार कल्पित प्रसंग का वर्णन है। जो हो, वात्सल्य और शृंगार का तो सूरसागर सचमुच रससागर ही माना जाता है।

---

1. सूर सौरभ, पृ ४८८
2. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय-१, पृ २९४
3. सूर और उनका साहित्य, पृ ४५
4. साहित्य लहरी की प्रामाणिकता, सरस्वती संवाद, सूर विशेषांक, पृ १३-२३
5. सूर और उनका साहित्य, पृ ३७ में उद्धृत भावप्रकाश, वार्ता प्रसंग ३

१.२.१० पद संख्या :

अनुश्रुति है कि सूरदास ने सवा लाख पदों की रचना की है। भावप्रकाश में एक जगह लिखा है कि सूर ने सवा लाख पदों की रचना करने का निश्चय किया था और उनमें से एक लाख की रचना हो चुकी थी।[1] उसी ग्रंथ में और एक जगह लिखा है कि सूरदास ने लक्षावधि पदों का निर्माण किया है।[2] सूर सारावली में भी कहा गया है कि सूर ने हरि लीला के एक लक्ष पद गाये हैं।[3] चौरासी वैष्णवों की वार्ता में लिखा है कि 'सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किये हैं, ताको सागर कहियें सो जगत में प्रसिद्ध भये'।[4] यदि सहस्रावधि शब्द का 'सहस्रों की अवधि' करके अर्थ लिया जाय तो यह उक्ति भी उपरोक्त प्रमाणों के विरुद्ध नहीं होगी। इस तरह के सभी बाह्याभ्यंतर साक्ष्यों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि सूरदास ने सवा लाख अथवा लक्षावधि पदों की रचना अवश्य की है। लेकिन अब तक प्राप्त सूर के पदों की संख्या ८–१० हजार मात्र ही है। अतः विद्वानों में इस बात को लेकर कई ऊहापोह होने लगे कि सूरदास कृत वास्तविक पद संख्या कितनी है। सूरदास जी बचपन से लेकर मृत्यु पर्यंत पद रचना करते चले। सूर जैसे दीर्घजीवी आशुकवि भगवदीय को भगवद् यशोगान में सवा लाख पद रचकर गाने में कोई असंभव या कष्ट की बात नहीं है। अतः हम मान सकते हैं कि सूरदास जी ने सवा लाख पदों की रचना अवश्य की होगी।

१.२.११ रचना की प्रसिद्धि और संग्रहण कार्य :

सूरदास के पदों की प्रसिद्धि उनके जीवन काल में ही चारों ओर फैल गयी। वल्लभ संप्रदाय में दीक्षा लेने से पहले ही वे पदकर्ता और गायक के रूप में विश्रुत हो चुके। संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद उनकी और भी ख्याति हो गयी। इसी ख्याति को सुनकर अकबर ने उनके श्रीमुख से पदों को सुनना चाहा। भाव प्रकाश में लिखा है कि अकबर ने एक एक पद के लिये एक एक मोहर देकर सूर के कई पदों का एक निजी संग्रह तैयार करा लिया और उन पदों को फारसी में लिखवाकर पढ़ा। पुष्टिमार्ग[5] के सभी भक्तों ने ऐसे कई निजी संग्रह तैयार

1.–2. सूर और उनका साहित्य, पृ ३६ में उद्धृत, भावप्रकाश, वार्ता प्रसंग २०

3. सूरसारावली, पद ११०३

4. अष्ट छाप, संपादक धीरेंद्र वर्मा, सूर की वार्ता ३ पृ ८

5. सूर और उनका साहित्य, पृ ३७ में उद्धृत भावप्रकाश वार्ता प्रसंग ४

कर लिये होंगे । श्रीनाथजी के मंदिर में जो संकीर्तन सेवा होती थी उसी तरह की सेवा गोकुल, द्वारका, मथुरा आदि स्थानों के मंदिरों में भी होती थी । वहां भी संकीर्तन-सेवा के उपयोगार्थ कई पद संग्रहीत हो गये । गुसाई विट्ठलनाथ के समय में श्रीनाथजी की मूर्ति को मथुरा जैसे स्थानों में अक्सर ले जाया करते थे । तब वहां के सेवाकार्य में उपयोग करने के लिये भी नित्यसेवा, वर्षसेवा, वसंतोत्सव जैसे प्रसंगों के कई पद एकत्र करके अलग अलग संग्रहों के रूप में तैयार करके उन स्थानों में ले जाया करते थे ।[1] इस तरह सूर के जीवन काल में ही उनके पदों का संग्रहण कार्य प्रारंभ हुआ, किंतु दुर्भाग्य से उस समय की बनी कोई भी प्रति आज हमें नहीं मिलती । उनके आधार पर बनी अर्वाचीन प्रतियां तो सैकड़ों की संख्या में अवश्य मिलती हैं, किंतु और भी मिलने को हैं । जो पद-संग्रह अब तक प्राप्त हुए हैं उन्हींके आधार पर आज के छपे संस्करण निकाले गये हैं, जिन में कुल मिलाकर ८–१० हजार तक ही सूर के पद अब तक प्रकाशित हो सके हैं ।

१.२.१२ सूरदास के अन्य नाम :

सूर के पदों में कई प्रकार से नामांकन मिलता है । सूरदास नाम के और कई कवि भी हुए हैं । इस कारण से सूर के पदों के संग्रह करने में विद्वानों को अक्सर भ्रम-प्रमादों का शिकार बनना पड़ता है। लेकिन भावप्रकाश में हरिरायजी ने सूर के चार नाम बताये हैं। वे हैं सूरदास, सूरजदास, सूरज और सूर स्याम ।[2]

१.२.१३ व्यक्तित्व :

सूर बचपन से विरागी और भगवदीय थे । जन्म से अंधा होना भी इसका एक कारण रहा होगा । उनका मन कभी संसारिक विषयों में नहीं लगा । वे एकदम शुद्ध सात्विक प्रकृति के थे । जन जीवन की खराबियों से भी उनकी कोई शिकायत नहीं थी । चौपड़ का खेलवाले पद में भी हम उनको वैराग्य का उपदेश देते ही पाते हैं । भंवरगीत में सगुण-निर्गुण विवाद को उठाने पर भी वे शास्त्रार्थ करके तर्क के बल खंडन-मंडन करने का उत्साह नहीं दिखाते । फिर भी वे प्रज्ञाचक्षु थे । जन जीवन से परिचित थे । शकुन-अपशकुन बताया करते थे । भगवद्वाणी को भी पहचान सकते थे ।[3] वे अपने गुरु को भगवान मानते थे ।

---

1. सूर और उनका साहित्य पृ ३६
2. „ पृ १० में उद्धृत
3. अष्टछाप-कृष्णदास की वार्ता, पृ २७–२९

मृत्यु समय में भी उन्होंने यही कहा था कि मैं ने तो सब श्री आचार्यजी महाप्रभु का ही यशोवर्णन किया है, न्यारे देखता तो न्यारे करता।[1] गुसाईं विट्ठलनाथ में वे अपने इष्टदेव का ही स्वरूप देखते थे। अंतिम समय में उनकी नेत्र-वृत्ति उन्हीं पर टिकी थी।[2] संप्रदाय के ग्रंथों में ऐसा बताया गया है कि सूरदास कृष्ण सखा और उद्धव के अवतार हैं। उनको स्वामिनी की सखी चंपकलता भी माना गया है। साहित्य गगन में तो सूर सूर ही कहा गया है।

१.२.१४ गोलोकवास :

सूरदास की मृत्यु-तिथि के बारे में भी पहले के आलोचकों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किये थे, लेकिन वार्ता साहित्य के आधार पर उनकी मृत्यु-तिथि को सं १६४० (सन् १५८३) के आसपास मानना ठीक जंचता है। सूरदासजी अपने अंतिम समय में परासोली में चंद्रसरोवर के पास रहते थे और वहीं गुसाई विट्ठलनाथजी के समक्ष में उनकी इहलीला समाप्त हो गयी। गुसाईजी सं १६४२ तक जीवित थे। सूरदासजी की अकबर से भेंट होना, वसंतोत्सव में विट्ठलनाथजी के सातवें पुत्र के साथ सदस में उपस्थित होना जैसी बातों को देखते सं १६४० को ही उनकी मृत्यु-तिथि मानना उचित है।

१.३ अन्नमाचार्य और सूरदास : तुलना

उम्र में बड़ा अंतर होने पर भी अन्नमाचार्य और सूरदास समकालीन थे। अन्नमाचार्य का समय सन् १४२४–१५०३ था तो सूरदास का सन् १४७८-१५८३ था। अन्नमाचार्य के वैकुंठवास के समय तक सूरदास पच्चीस साल के थे और उनके बाद अस्सी साल तक जीवित रहे। ये दोनों पूर्णायु पुरुष संयोग से वैशाखमास के शुक्लपक्ष में ही पैदा हुए। अन्नमाचार्य को भगवान के खड्ग नंदक का अंश माना गया तो सूरदास को उद्धव का अवतार बताया गया। इस तरह ये दोनों भक्तकवि कारण-जन्मा दीखते हैं।

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों बचपन से ही संसार से विरक्त और भगवद् भजन में अनुरक्त थे। अन्नमाचार्य आठ वर्ष की उम्र में घर-बार छोड़कर तिरुपति की यात्रा गये तो सूरदास छः वर्ष की उम्र में ही घर-बार छोड़कर अपने गांव से थोड़ी दूर पर, किसी एक तालाब के किनारे जा बस गये। संकीर्तन रचने और गाने की कला में ये दोनों बचपन से ही पटु कहलाये।

---

1. अष्टछाप-कृष्णदास की वार्ता, पृ १६
2. सूर और उनका साहित्य, पृ ३४

अन्नमाचार्य विवाहित थे । उनके चार संतानें भी हुईं । घर-बार, परिवार जमीन-जायदाद से वे संपन्न और सुखी थे । सूरदास जन्मांध थे । उनका विवाह तो शायद नहीं हुआ । उनके कई नौकर चाकर व शिष्य तो अवश्य हुए थे, लेकिन अपने परिवार से वे बचपन में ही अलग हो गये । कुटी भर गयी तो सूरदास उसे छोड़कर मथुरा के विश्राम घाट पर चले गये और वहां भी भीड़ हुई तो गौघाट पर जा बस गये । विवाहित होकर, घर-गृहस्थी रखकर भी अन्नमाचार्य विरक्त की तरह पुण्यक्षेत्रों में घूमते रहे और आचार्य पुरुषों की सेवा संगति में दिन काटते रहे ।

जन्म से ये दोनों भक्तकवि स्मार्त थे, लेकिन बाद में दोनों की रुचि वैष्णवधर्म एवं सगुण आराधना में हो गई। अन्नमाचार्य ने रामानुज के विशिष्टा-द्वैत संप्रदाय में दीक्षा ली तो सूरदास वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत संप्रदाय में दीक्षित हुए । अन्नमाचार्य ने अहोबल मठ के स्थापनाचार्य शठगोप यति के यहां वेदांत का अध्ययन करके गुरुमंत्र का उपदेश लिया तो सूरदास ने वल्लभाचार्य के श्रीमुख से ही संप्रदाय की बातों की शिक्षा पाकर पुरुषोत्तम सहस्रनाम का उपदेश पाया। दोनों भक्तकवि अपने गुरु को भगवान मानते थे और मनसा वाचा कर्मणा भगवत् सेवा में अपने को अर्पण किये रहते थे । अन्नमाचार्य ने अपने इष्टदेव श्रीवेंकटेश्वर के यशोवर्णन में ही अपने जन्म को चरितार्थ माना तो सूरदास ने श्रीनाथजी की संकीर्तन-सेवा में अपने जन्म को कृतार्थ कर लिया । गुरु की आज्ञा से सूरदास श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तनिया बने तो अन्नमाचार्य अपनी स्वेच्छा से आप ही श्रीवेंकटेश्वरजी के यहां कीर्तनिया बन गये । अन्नमाचार्य के पुत्र-पौत्र भी कीर्तन सेवा में अपने को नियुक्त मानते थे । आज भी श्रीवेंकटेश्वर के मंदिर में अन्नमाचार्य के वंशवाले लोग कीर्तन-सेवा में भाग लेते आ रहे हैं । सूरदास के कोई संतान नहीं हुई, लेकिन पुष्टिमार्ग के भक्तों के द्वारा सूर के कई पद अब भी कीर्तन-सेवा के काम में लाये जा रहे हैं ।

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों ने नित नये पद के क्रम से सहस्रों पदों की रचना की है । दोनों के पद हजारों की संख्या में अब भी मिलते हैं । दोनों के पद कितने ही राग-रागिनियों में बंधे, विभिन्न वेलाओं व विभिन्न सेवा-अवसरों में विनियोग करने योग्य रूप में रचे हुए हैं । अन्नमाचार्य की रचना तेलुगु में ज्यादा और संस्कृत में कम मिलती है । सूरदास की सारी रचना व्रजभाषा में ही हुई मिलती है ।

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों अपनी वाणी को भगवान के यशोगान को छोड़कर और किसी के यशोवर्णन में कभी नहीं लाये । सालुव नरसिंहराय की स्तुति

करने में अन्नमाचार्य विमुख हुए तो अकबर का यश गाने में सूरदास विमुख हुए। अन्नमाचार्य ने राज-सत्कार को थोड़ा बहुत अवश्य पाया, किंतु सूर ने उसका भी तिरस्कार किया।

अन्नमाचार्य की रचना में सूर की अपेक्षा तात्कालीन परिस्थितियों का चित्रण अधिक हो पाया है। सूर सात्विक थे। उनकी संसारिक बातों या भगवद् विषय से संबंध न रखनेवालें इतर चिंताओं से एक दम विरक्ति सी हो गई। धार्मिक चर्चाओं या अन्यमत खंडन-मंडनों में भी उनकी रुचि ज्यादा नहीं लगती थी। पर अन्नमाचार्य गृहस्थ थे, आचार्य पुरुष थे और स्वतंत्र प्रिय थे। अतः उनको कभी अपने शत्रुओं को मुंह-तोड जवाब देना पड़ता था। कभी उनको अद्वैतवादी लोगों का उपहास अथवा उनसे शास्त्रार्थ करना पड़ता था। विरागी होकर भी गृहस्थ रहने से उनको कभी राजा से तो कभी प्रजा से संबंध बनाये रखना पड़ता था। फलस्वरूप उनको कभी कभी उद्विग्न भी होना पड़ता था।

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों अपने समय के साहित्यिकों व भक्तों के आदर के पात्र बने थे। अन्नमाचार्य की पुरंदर दास जैसे हरिदासों व पागंटि लक्ष्मय्या जैसे शिवशरणों से भेंट हुई। सूरदास की प्रसिद्ध रामभक्त कवि तुलसी दास से भेंट हुई। अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों ने पदों के अलावा अन्य रचनाएं की हैं। अन्नमाचार्य ने संकीर्तन लक्षण नामक एक लक्षण ग्रंथ भी रचा था।

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों महात्मा अपने में कुछ अलौकिक शक्तियां रखते थे। अन्नमाचार्य शापानुग्रह दक्ष थे और सूरदास प्रज्ञाचक्षु थे। अन्नमाचार्य को पदकविता-पितामह, हरिकीर्तनाचार्य, संकीर्तनाचार्य जैसे कई विरुदनाम हुए तो सूर को साहित्य-गगन में सूर का पद ही दिया गया है। आचार्यजी प्रभु ने सूर को सूरसागर कहा तो गोसाईजी ने उनको पुष्टिमार्ग का जहाज माना।

अन्नमाचार्य संपन्न थे, अतः उन्होंने श्रीवेंकटेश्वर मंदिर के राग-भोगों की वृद्धि में आर्थिक सहायता पहुंचाई और स्वामी के कल्याणोत्सव की एक शाश्वत परिपाटी चलाई। आज भी श्रीवेंकटेश्वरजी के कल्याणोत्सव में कन्यादाता रहने का सौभाग्य अन्नमाचार्य के वंशवालों को ही मिल रहा है। कीर्तन-पुष्पों से अपने स्वामी की पूजा करके संतुष्ट एवं सफलजन्मा होने का सौभाग्य अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों को समान रूप से मिला था। अन्नमाचार्य और उनके वंशवाले 'रामानुज मत प्रतिष्ठापन आचार्य' कहलाये और अब भी उनकी शिष्य परंपरा चलती है।

— — ---

२.१. युगीन परिस्थितियां

२.१.० प्रस्तावना :

भारतीय इतिहास में ईसवीं ११–१२ वीं सदी से लेकर १६–१७ वीं सदी तक के समय को उत्तर मध्य काल कहते हैं। इससे पहले, यानें ईसवी छटी सदी से ग्यारहवीं सदी तक के समय में जो पूर्वमध्य काल गुजरा उसमें सर्वत्र सांप्रदायिकता का प्रभाव प्रचुर मात्रा में मिलता रहा। लेकिन उत्तर मध्य काल में इसके विपरीत, सर्वत्र एक तरह की समन्वय भावना व्यक्त होने लगी। इस समय देश के इस छोर से उस छोर तक विविध भक्ति संप्रदायों का जोर-शोर से प्रचार होता नजर आता है। तब यह भक्ति आंदोलन, डा. ग्रियरसन के शब्दों में बिजली की चमक की तरह सारे देश में फैल गया।[1] सचमुच, उस समय बहुत बड़े बड़े भक्त इस देश के हर हिस्से में पैदा हुए। उनकी साधना और सफलता के बल मध्ययुग चाहे और कई बातों में ह्रास का युग सिद्ध होवे, किंतु भक्ति के क्षेत्र में वह उत्कर्ष का ही युग साबित हो जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसी युग के उत्तरार्द्ध को भक्तिकाल कहा गया है, किंतु उस समय भारत के कितने ही प्रांतीय भाषा साहित्यों में भक्ति युग के लक्षण दिखायी देते हैं, चाहे उसे वैसा नाम दिया हो या नहीं। समूचे भारत में तब भक्ति का ही युग गुजरा। भक्ति उस समय के काव्य, साहित्य, शास्त्र, संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्र, शिल्प वास्तुविन्यास, अलंकरण विधान, धर्म, दर्शन, सामाजिक व्यवस्था और सामूहिक जीवन को प्रेरित, प्रभावित एवं परिचालित करती हुई सारे देश में परिव्याप्त हो गयी।[2]

---

1. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन् अंड एथिक्स्, भाग २ पृ ५४४–४५
2. हिन्दी सगुण साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, डा. रामनरेश वर्मा, पृ १२

हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास इसी युग में हुए और ईसवी १५-१६ वीं सदियों के सुदीर्घकाल में जीवित रहकर साहित्य और संगीत की गंगा-जमुनी धारा से सगुण भक्ति साधन के पुनीत क्षेत्र को लगातार आप्लावित करते चले। अब इनकी साहित्यिक पृष्ठभूमि को जानना हो तो तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों को उनके ऐतिहासिक क्रम विकास के साथ जान लेना आवश्यक है।

२.११ राजनैतिक परिस्थितियां :

आलोच्यकाल तक समस्त उत्तर भारत में मुसलमानों की राज सत्ता फैल गयी। जब से दिल्ली सिंहासन पर मुसलमानों का आधिपत्य कायम हो गया तब से उनके राज्य विस्तार के साथ साथ उनकी भाषा और उनके धर्म का भी प्रचार शुरू हुआ, जो तलवार के बल जोर-शोर से होने लगा। यों तो दिल्ली सिंहासन पर एक के बाद एक करके कई राजवंश राज करते दीखे, लेकिन प्रायः उन सभी की नीति एक ही तरह की हुई। प्रजा को न किसी भी राजा के हाथ सुख मिला। सब के सब हिंदुओं को नीची निगाह से देखते थे। सभी को धन-जन की लूट-मार में एक ही तरह का उत्साह था। सबके सब राज्यकांक्षा से प्रेरित होकर हिंदू राज्यों पर चढ़ाइयां करते थे। स्वार्थ और स्वायत्त अधिकार के लोभ से प्रेरित होकर वे आपस में भी कभी फूट, कभी खून-खराबी और कभी विद्रोह मचाया करते थे। चंगीजखां, तैमूर जैसे आततायी आक्रमणकारियों की चढ़ायियां भी बीच बीच में गुजरकर देश में अशांति का विलय तांडव होने में साथ देती थी। परिणाम में धार्मिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से हिंदू सताये जा रहे थे और हिंदुओं की ओर से इसका प्रबल विरोध था। मूर्तियों को तोड़ना, सब प्रकार के विरुद्ध विश्वासों का हनन और काफिरों को इसलाम में दीक्षित करना आदि कार्य आदर्श इसलाम राज्य के कर्तव्य समझे जाते थे।

दक्षिण पर मुसलमानों की चढ़ाइयां जरा देर से शुरू हुईं, लेकिन शीघ्र ही अल्लाउद्दीन और मालिक काफूर के हाथ दक्षिण के देवगिरि और वरंगल के हिन्दूराज्य विनष्ट हो गये। कांचीपुर और श्रीरंगम तक मुसलमानों की तलवार बेरोकटोक घूमकर आयी। लोदी वंश के शासन काल में दक्षिण में मुसलमानों से बहमनी राज्य का स्थापन हो चुका। दक्षिण में इन मुसलमानी आक्रमणों के कारण हिंदू जनता की जो दुर्दशा हुई उसका जीता-जागता चित्र उस काल के कुछ पुरालेखों और कंपरायविजय जैसे काव्यों में मिलता है। आंध्रप्रांत के कोन-सीमावाले 'विलस' नामक गांव के शक वर्ष १२५० के दानलेख में लिखा गया है कि 'देश के यवनों (मुसलमानों) से आक्रमित हो जाने के बाद धनिकों को न जाने

कितने ही उपायों से धन केलिए सताया गया। ये अत्याचार इतने बीभत्स होते थे कि कई लोग मुसलमानों को देखते ही मर गये। ब्राह्मणों को अपने वैदिक कर्म छोड़ देने पड़े। देव मूर्तियां तोड़ दी गयीं। परंपरामुक्त अग्रहारों का अपहरण हो गया। फसल-पैदावर का या तो नाश किया गया, नहीं तो लूट मारकर हडप लिया गया। फलतः अमीर-गरीब सब को एक ही तरह से कष्ट भोगने पड़े। सर्वत्र त्राहि त्राहि की पुकार मच गयी'।[1]

कहने की जरूरत नहीं कि क्या उत्तर, क्या दक्षिण, भारत में सर्वत्र उन दिनों में यही 'त्राहि त्राहि' की पुकार मच गयी थी। राजनीतिक स्वातंत्र्य के साथ हिंदुओं का धार्मिक स्वतंत्र भी हरा लिया गया। इतना होने पर भी उनको आत्मगौरव निभाते जीवन बिताना भी दूभंर हो जाता था। यह तो सच है कि मुसलमानों के इस आतंकमयी शासनकाल में भी एक दो उदार हृदय बादशाह अवश्य हुए थे, किंतु उनकी अवधि बहुत कम थी। आलोच्यकाल में अकबर जैसे बादशाह के शासन में देश में सुख-शांति का समय रहा, लेकिन तब तक वैभव की वृद्धि के साथ विलासिता, अंधविश्वाश और नैतिकपतन की भी वृद्धि समान रूप से हो चुकी। इन सभी परिस्थितियों के कारण हिंदू जनसमुदाय में बहुत काल तक एक तरह की उदासी छायी रही। जैसे पं. रामचंद्र शुक्ल जी लिखते हैं, "उस विपत् समय में अपने पौरुष से हताश जाति केलिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था"।[2] उस काल की आमुष्मिक प्रवृत्ति को इन परिस्थितियों से अगर कुछ प्रेरणा मिली हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, किंतु यही सब कुछ नहीं है।

'बारहवीं सदी के अंत में दिल्ली और कनौज के हिंदू साम्राज्यों के नष्ट हो जाने के बाद यद्यपि उत्तर भारत में मुस्लिम सत्ता का प्रतिरोध बड़े पैमाने पर बंद हो गया, तथापि राजस्थान, मध्यभारत, गुजरात और उडीसा के भारतीय राजवंश बराबर मुसलमानों का विरोध करते थे। इस्लाम की राजनैतिक शक्ति और धर्म का जितना विरोध भारत में हुआ उतना आफ्रिका और एशिया महाद्वीप के किसी भी देश में नहीं।'[3] हिंदूराजवंशों की जातिगत एवं धर्मगत भावना उनमें व्यक्तिगत शूरता और कष्ट सहिष्णुता की योग्यता प्रदान करती रही। अतः १६ वीं सदी के मध्य तक वे मुस्लिम राज्यों से संघर्ष करते रहे। 'जहां

---

1. आंध्रविज्ञान सर्वस्वमु, भाग ३, पृ २८०
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं. रामचंद्र शुक्ल, पृ ५२
3. डा. राजवली पांडेय, आलोचना, जनेवरी, ५४, पृ १४

तक जनता का प्रश्न है, विशेषकर, उत्तर प्रदेश और बीहार में, धार्मिक दृष्टि से इसलाम से उसने कभी हार न मानी। उसके बहुत से मंदिर तोड़े गये, किंतु उसने बराबर नये मंदिरों का निर्माण किया और धार्मिक चेतना बनाये रखी। राजनैतिक आदर्श और आशा भी कभी लुप्त नहीं हुई।'[1]

भक्ति आंदोलन का वास्तविक उदय दक्षिण में हुआ, जहां पहले हिंदू सरदारों के सम्मिलित प्रयत्न से और बाद में श्रीविद्यारण्य स्वामी की सलाह पर विजयनगर राज्य की स्थापना हो जाने से हिंदू धर्म, हिंदू सभ्यता, हिंदू संस्कृति की रक्षा करने में बड़ी सफलता मिली। आलोच्यकाल में विजयनगर राज्य के इतिहास में स्वर्णयुग गुजर रहा था, जब कि राज्य की ओर से साहित्य, शिल्प, कला, धर्म दर्शन, व्यापार, वाणिज्य, विद्या आदि सभी क्षेत्रों में उन्नति करने को मदद मिलती आयी।[2] विजयनगर राजाओं को 'सर्ववर्णाश्रमाचार प्रतिपालन परायणः' कहा गया है।[3] उस काल में दक्षिण के अन्य सामंत राजा, सरदार और उडीसा के गजपतिराजा भी मुसलमानों की शक्ति को रोकने और हिंदूधर्म व संस्कृति की रक्षा करने में भरसक योग देते रहे। इन सभी कारणों को देखते उस समय के भक्ति आंदोलन के मुख्य कारण राजनैतिक परिस्थितियों के साथ साथ परंपरागत धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक आदि अन्य परिस्थितियों में भी ढूंढना उचित है।

२.१.२ धार्मिक परिस्थितियां :

वैदिकोत्तर काल में बौद्ध और जैन धर्मों के कारण वैदिक कर्म कांड और वर्णाश्रम धर्म को बड़ा धक्का पहुंचा। शक, यवन, पार्थिव, हूण, बरबर, आभीर आदि जातियों के इस देश में आकर बस जाने से भी प्राचीन धर्म और उसकी मान्यताओं का स्वरूप धीरे धीरे बदलने लगा। सतर्क हिंदू जाति तो तभी नयी नयी स्मृतियों की रचना करके धर्म की समयानुकूल व्याख्या करने लगी। वर्ण-व्यवस्था की पुनर्निर्वचन-सा किया गया। पुराणों का संग्रह एवं नव निर्माण होने लगा। उन में वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-धर्म, सृष्टि-सिद्धांत जैसी बातें परिस्थितियों के अनुकूल पुनः पुनः परिष्कृत, संप्रदायानुकूल नव निर्वाचित होती आयीं।[4] प्राचीन 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति' वाले सिद्धांत को अब भी मानते हुए भी

---

1. राजबली पांडेय, वही, पृ १५
2. हिन्दी और कन्नड भक्ति आंदोलन, डा, हिरण्मय, पृ २३०–३१
3. एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द ३, पृ ११७
4. मध्यकालीन संत साहित्य, डा. राम खेलावन पांडेय. पृ १३२

पहले के इंद्र, सूर्य जैसे देवों को विष्णु में, रुद्र को शिव में सम्मिलित करके क्रमशः विष्णु और शिव के आधिक्य को मानने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। स्मार्त और आगम परंपराओं का मेल होने लगा।[1] व्रत, तीर्थ, मंदिर, मठ, मूर्तिपूजा, उपासना, आदि की व्यवस्था शुरू करके स्त्रियों और शूद्रों को भी धार्मिक कार्य-कलापों में स्वातंत्र्य दिया गया। निगम परंपरा उच्छिन्न हो गयी। पंचायतन के आगम और उपनिषद रचे गये। यज्ञ, याग का आचरण बंद हो गया। दान का महत्व बढ़ गया। स्वाध्याय परंपरा टूट गयी। चरण नष्ट हो गये। पंच महायज्ञ जैसे साधारण सत्र भी विरले ही देखने में आते थे।[2] श्रौत के बदले स्मार्त परंपरा पतिष्ठित हो गयी। तंत्रों को श्रुति सम्मत माना गया।[3] शैव शाक्त और वैष्णवतंत्र, सौर और गाणपत्य तंत्रों की अपेक्षा दिनों दिन अधिक प्राधान्य व प्रामुख्य पाते गये। विष्णु की वासुदेव, संकर्षण एवं गोपालकृष्ण रूप में आराधना होने लगी। शिव परिवार में देवी और कार्तिकेय की पूजा प्रचलित हो गयी। भागवत मत प्रचार में आया। विदेशी लोग भी भागवत धर्म में दीक्षित होने लगे। विष्णु और उसके अवतार रूपों के कई मंदिर बनने लगे। अवतारवाद सर्वमान्य हो गया। वैष्णवमंदिरों में राजत्व की परिपूर्ण कल्पनाओं को स्थान दिया गया।[4] शिवालय भी बनते थे, लेकिन शैव धर्म का विकास मठों के द्वारा संगठित रूप में होता आया। मठों में शिवगुरु का आधिपत्य होता था।[5] राजा लोग अपने को 'परम भागवत' या 'परम माहेश्वर' कहकर दोनों धर्मों का आदर करते थे। उधर बौद्ध और जैन धर्म भी वैदिक धर्म अथवा इस ब्राह्मण धर्म से प्रभावित हो गये।

२.१.२.१ बौद्ध धर्म :

बुद्ध का सरल, शील प्रधान धर्म का प्रचार देश भर में हो गया, तो कालांतर में उसमें प्रादेशिक विभेद आ गये। विदेशियों के द्वारा अपनाये जाने से भी इसके आचार-विचार, सिद्धांत-नियम आदि में अंतर आ गया। फलतः कुशान काल में बौद्ध धर्म के दार्शनिक और व्यावहारिक उपदेशों पर क्रमशः जोर देकर महायान और हीनयान संप्रदाय विकसित हुए। महायान आचार प्रवणता

---

1. हिन्दी सगुणकाव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ ६३
2. ,, ,, पृ ६१-६२
3. ,, ,, पृ ६४
4. मध्यकालीन संत साहित्य, पृ २३६
5. हिन्दी सगुणकाव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ २२

के साथ आस्था-विश्वास पर भी जोर देने लगा। इसमें जन साधारण की धारणाओं का सन्निवेश हो गया। बुद्ध को खुद भगवान माना गया। उसकी अवतार कथाओं और बोधिसत्वों की रूपकल्पना और आराधना का प्रचार हो गया। महायान के माध्यमिक या शून्यवादी संप्रदाय का आंध्र प्रांत के श्रीशैल प्रदेश में खूब प्रचार हुआ।

बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास में तंत्र की प्रधानता है। तंत्रों को आगम कहते हैं। बौद्ध धर्म का तांत्रिक विकास उसकी नयी दिशा का संकेत उपस्थित करता है। महायान के विभिन्न स्वरूपों को लेकर कालक्रम में इससे काल-चक्र-यान, वज्रयान, सहजयान और मंत्रयान विकसित हो गये। ये तांत्रिक बौद्ध अपनी गुह्य साधनाओं के बल विशिष्ट सिद्धियों की प्राप्ति का दावा करते थे और सिद्धि-प्राप्ति के लोभ से कई लोग, प्रायः शूद्र अथवा निम्न जाति के लोग इसमें शामिल हो जाते थे।[1] वज्रयान की गुह्य साधना का सूक्ष्म रूपांतर सहजयान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका परम लक्ष्य हुआ 'सहज सुख'। अवघूती, चंडाली, डोंबिनी आदि इसके अवांतर भेद हैं।[2] मंत्रयान प्राचीन अथर्वण वेदीय तंत्र-मंत्रों का नवीन महायानी रूप है। इन सबके कारण बौद्ध धर्म का प्रभाव दिनों दिन घटता गया। सहजयान में ८४ सिद्ध माने गये हैं और इन्होंने बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं ब्राह्मण धर्म की समान निंदा की है। इन्होंने वैष्णव, नाथ तथा बाउल संप्रदायों को खूब प्रभावित किया। बंगाल का सहजिया वैष्णव संप्रदाय इसी सहजयान धर्म से विकसित हुआ, जिसमें चंडीदास जैसे भक्त कवि हुए।[3] इसमें पहले की प्रज्ञा-उपाय प्रतीकवाली युगनद्धोपासना परकीया प्रेम का रूप ले चुका। बाद के बाउल संप्रदाय में यह परकीया प्रेम विशुद्ध मानव प्रेम में बदल गया।

बौद्ध धर्म के ह्रासोन्मुख काल में उस पर शैव और शाक्त तंत्रों का प्रभाव ज्यादा पड़ा। शैवमत का आरंभ शायद प्रागैतिहासिक सिंधु सभ्यता के समय में हुआ हो, लेकिन महाभारत के समय तक शिव को परमेश्वर माना गया। वामन पुराण के अनुसार इसके शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक नाम के चार विभिन्न संप्रदाय हैं। राजपुताना, गुजरात आदि में पाशुपत संप्रदाय की प्रधानता

---

1. मध्यकालीन संत साहित्य, पृ १४०
2. वही, पृ १४०
3. कृत्तिवासी बंगला रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ ५२

थी। तमिल प्रांत मे शैव सिद्धांत का प्रचार था। कर्णाटक में वीरशैव मत के अनुयायी लिंगायत कहलाये। ये लोग वर्ण विभेद और वेद प्रामाण्य को नहीं मानते। शैव सिद्धांत के अनुसार शिव पति है और जीव पशु। जीव इस संसार में आणव, कार्मिक और मायिक रूपी पाश से बद्ध रहता है। शिव की कृपा से पाश छूट जाता है और मोक्ष मिलता है। मोक्ष स्थिति में शिव और आत्मा में अभेद हो जाता है। तमिल देश में इस सिद्धांत के अनुयायी कई भक्त हुए जिनको नायनमार कहते हैं। शाक्त तंत्रों का भी दार्शनिक पक्ष शैव सिद्धांत के समान है किंतु इसमें शिव के बदले, शक्ति का आधिक्य माना जाता है। शक्ति अनादि तथा सनातन शब्द है और नाद, बिंदु तथा बीज इसकी गतियां हैं। शक्ति साधना में वामाचार भी प्रचलित है। ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्म पर कौल, कापालिक, लोकायत जैसे कई बीभत्स संप्रदायों का गहरा प्रभाव पड़ा। उनके कई तत्व बौद्ध धर्म में प्रवेश पा चुके और वज्रयानी बौद्ध साधकों तथा सहजयानी सिद्धों की गुह्य साधनाओं में इन्हीं का विकराल रूप देखने को मिला।

२.१.२.२ जैन धर्म :

यद्यपि जैन धर्म पर भी वैदिक अथवा पौराणिक धर्म का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा, तथापि वह अपने संयमशील एवं आचार प्रधान साधना पक्ष की पवित्रता को बनाये रखकर, जहां तक हो सके, स्मार्त या पौराणिक धर्म से समन्वय साधने लगा। जैन धर्म के उपदेशों में व्यावहारिकता की अपेक्षा आदर्शवादिता अधिक है। उन्होंने संयमशील कठोर जीवन पर विशेष जोर दिया। तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा विधेय बनी है। इन मूर्तियों के शृंगारादि के विषय को लेकर इस धर्म के श्वेतांबर और दिगंबर नामक दो मत हुए।[1] उत्तर में श्वेतांबर और दक्षिण में दिगंबर मत फैल गये। आंध्र प्रांत में भी जैनों के कई केंद्र पहले थे और अब भी यत्र-तत्र उनकी बसदियां पायी जाती हैं। पौराणिक धर्म के प्रभाव से तीर्थंकरों की पूजा के साथ साथ व्रत, उपवास, तीर्थ आदि बातों में विश्वास भी प्रचलित होने लगा। देव मंडल में देवियों को भी स्थान मिला। हिंदू पुराणों के अनुकरण पर जैनों के कई पुराण रचे गये। शैव धर्म का प्रभाव इस पर इतना पड़ा कि जैन 'अर्हत' मत को शैव धर्म के संप्रदायों में एक माना गया। शिव और जिन की एकात्मता जैसी बातें जैन ग्रंथों में भी मिलतीं हैं।[2]

---

1. सूर और उनका साहित्य, पृ ६९
2. हिन्दी सगुणकाव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ ७६–७७

२.१.२.३ नाथ संप्रदाय :

गोरखनाथ के नाथ-पंथ का मूल भी बौद्धों का वज्रयानी संप्रदाय है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ भी गिन लिये गये हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया। योगियों की इस हिंदू शाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और बीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिवशक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी भी नाथ पंथ के 'शक्ति संगम तंत्र' जैसे ग्रंथों में मिलती है। गोरख ने पतंजल के उच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया। इस संप्रदाय में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गयी है, घट के भीतर ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है, वेद-शास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गयी है और तीर्थाटन वगैरह निष्फल बताते गये हैं। इनके उपदेशों का प्रभाव हिंदुओं के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी पड़ा। बहुत से मुसलमान, निम्न श्रेणी के ही सही, नाथ पंथ में आ गये।[1] गोरखनाथ द्वारा बतायी हुई निर्गुण निराकार की उपासना सूफियों के प्रेम का आधार पाकर लोक प्रिय बन गयी। कबीर आदि संत कवियों पर तो इसका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। गोरखनाथ का समय तो निश्चित नहीं हुआ, लेकिन ईसवी दसवीं सदी तक देश भर में इनकी गद्दियां फैल गयीं। चौरासी सिद्धों की तरह नौ नाथ भी प्रसिद्ध हो चुके। नौ नाथों की सूची में नागार्जुन जैसे सिद्धों की भी गिनती हो गयी, जो रसायन सिद्धि पाकर रसेश्वर दर्शन के प्रवर्तक हुए।

आंध्र प्रांत में आलोच्यकवि अन्नमाचार्य के जन्मप्रदेश पोतपिनाडु में भी कभी नौ नाथों का संप्रदाय प्रचलित था।[2] यहां के रेड्डिवंशी राजाओं के दान पत्रों में 'सुवर्णकर प्रसिद्धि लब्धः' जैसे शब्द मिलते हैं, जो उनके रसेश्वर अथवा रस सिद्ध संप्रदाय से संबंध की ओर संकेत करते हैं।[3] महाराष्ट्र के मानभाव और वारकरी संप्रदायों पर भी नाथ पंथ का प्रभाव बताया जाता है। जो हो, योग, निरंजन, धर्म जैसे नामों से यह मत जन साधारण में भी खूब फैल गया। आंध्र प्रांत के चित्तूर, तमिल प्रांत के आर्काट, उडीसा के मयूरभंज संस्थान जैसे प्रदेशों में निरंजन या धर्म मत अब भी देखने में आता है। नाथ पंथी लोग अपनी

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल जी, पृ ११–१६
2. अन्नमाचार्य चरित्र, चिन्नन्ना, पृ ३
3. मांचाल ताम्रलेख, प्रोलय वेम की प्रशस्ति, आंध्र विज्ञान सर्वस्व, भाग ३ पृ २६२

अंतः साधना के बल पर मानव मात्र की शाश्वत वृत्तियों का परिष्कार करके जीवन में सदाचार की भावना पर जोर देकर ऐहिकता की भर्त्सना करते चले। लेकिन वर्ण-व्यवस्था को न मानने, व्रत, तीर्थ आदि बातों में विश्वास न रखने तथा वेद-शास्त्रों के विरुद्ध चलने के कारण समाज के उच्च वर्गों में इस पंथ का कोई प्रभाव नहीं फैल सका। इसकी व्याप्ति तो निम्न वर्गों में अवश्य हुई है और आज भी योगी, अवधूत, रावल जैसे इस संप्रदाय के विभिन्न साधकों के वर्ग यत्र तत्र मिलते हैं।

२.१.२.४ सूफी संप्रदाय :

भारत में मुसलमानों के आगमन के बाद सूफी संतों के द्वारा भी मुस्लिम धर्म का प्रचार होने लगा। लेकिन ये लोग धार्मिक मामलों में बड़े उदार थे। भगवान और भक्त का संबंध इनके मत में प्रेम का संबंध है। भारतीय सूफी संप्रदाय की विशेषता है, इस्लामी एकेश्वर वाद के साथ वेदांती ब्रह्म वाद का अनमेल गठबंधन। भारतीय सूफी साधकों पर नाथ पंथी योगियों तथा सिद्धों का भी प्रभाव गहरा पड़ा। जो हो, सूफियों की प्रेम-भक्ति का प्रभाव यहां के अन्य भक्ति संप्रदायों पर खूब पड़ा। आचरण की विशुद्धता, ईश्वर में श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, विश्व प्रेम जैसी बातों में यह भारतीय भक्ति मार्ग के निकट पहुंचा, तो इसकी प्रेम-भक्ति का प्रभाव यहां की माधुर्य-भक्ति पर पड़े बिना नहीं रह सका। १२–१४ वीं सदियों में सूफियों का प्रचार जोर से होता रहा। इनका हिंदू और मुसलमान दोनों आदर करते थे। अब भी इन संतों के नाम पर होनेवाले वार्षिक मेलों में हिंदू और मुसलमान दोनों भाग लेते हैं। दक्षिण में, आलोच्य कवि अन्नमाचार्य के जन्मस्थान के समीप में ही, पेनुगोंडा में शेख फखरुद्दीन रहते थे। अब भी उस प्रांत में हर साल उनके नाम पर बड़ा मेला लगता है।

२.१.२.५ अवैदिक मतों से संघर्ष :

उपरोक्त सभी संप्रदाय अवैदिक ही ठहरते हैं। पहले वैदिक और अवैदिक संप्रदायों के बीच में झगड़ा होता था। अवैदिक संप्रदायों में भी कुछ वेदबाह्य थे, तो कुछ वेद निंदक। आस्तिक और नास्तिक भेद को लेकर भी इन धार्मिक संप्रदायों के परस्पर विवाद हुआ करते थे। वैदिक धर्म का तो उस काल में बौद्ध, जैन और लोकायत मतों से ही प्रबल विरोध था। ईसवी सातवीं सदी में कुमारिल भट्ट ने नास्तिक बतलानेवाले मीमांसा दर्शन को आस्तिक बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने वार्तिक के आरंभ में यों लिख कर यह बात स्पष्ट

की कि 'प्रायेणैवहि मीमांसा लोके लोकायती कृता। तामास्तिक पथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया ।।' जैनों से भी इनका बड़ा विरोध हुआ। जैन ग्रंथों में इनकी खूब निंदा की गयी है।

"महावादी महान घोरः श्रुतीनां चाभिमानवान्
जिनानामंतकः साक्षात् गुरुद्वेष्टातिपापवान्।
आंध्रोत्कलानां संयोगे पवित्रे जयमंगले
ग्रामेंऽतिके महानद्या भट्टाचार्यः कुमारिलः।
आंध्रजातिः तित्रिरिकः — — — ।।" (जिन विजय)[1]

इन वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि कुमारिल के कारण जैनों की बड़ी बुरी दशा हुई होगी। जैनों की तरह उन दिनों में बौद्धों से भी विवाद हुआ करते थे। उत्तर में तब बौद्ध का प्रबल प्रचार था, लेकिन दक्षिण में उस समय शैव धर्म का अधिक प्रचार हो रहा था। कुमारिल ने अपने वार्तिक के आरंभ में शिव की स्तुति की। आचार्य शंकर (७८८–८२० ई) की श्रीशैल में कुमारिल से भेंट हुई, लेकिन शास्त्रार्थ केलिए मंडन मिश्र को प्रेरित किया गया। शंकराचार्य ने मीमांसा पर जीत पाकर अपने अद्वैत सिद्धांत की महत्ता प्रतिष्ठित की। आचार्य शंकर ने उस समय के सभी अवैदिक धर्मों और नास्तिक दर्शनों को शास्त्रवाद में जीतकर अद्वैत वेदांत की उत्कृष्टता प्रमाणित करके, उसके प्रचार के लिए देश भर में घूमकर, देश के चारों ओर चार मठ (पूरी, शृंगेरी, द्वारका और बदरीनाथ के मठ) स्थापित किये। उनके प्रयत्न से कितने ही अवैदिक एवं नास्तिक संप्रदायों का प्रभाव घट गया। दक्षिण में उन दिनों शैव 'नायनमारों' तथा वैष्णव 'आलवारों' के भक्ति मत प्रचार में थे। शंकर ने इनके जंगम और पांचरात्र तंत्रों को भी वेदबाह्य ठहराया है। वैसे तो ये लोग भक्ति में वर्णभेद जैसी बातों को नहीं मानते, लेकिन जैनों से इन दोनों संप्रदायों का विरोध था, क्यों कि वह नास्तिक धर्म है। शिव पारम्य और विष्णु पारम्य को लेकर ये एक दूसरे से भी लड़ पड़ते थे। इन्ही झगड़ों के परिणाम में हो, दक्षिण के कितने ही जैन मंदिर शिवालयों में बदल दिये गये तो कई शिवालयों को विष्णु मंदिर का रूप दिया गया।[2]

---

1. आंध्र महाभागवत–साहित्य अकादमी, पीठिका, पृ ७८

2. कुलुगुमलै शिला लेख, सौथ इंडियन इन्स्क्रिप्षन्स्, जिल्द ५, सं ३१०–१३ और श्रीकर भाष्य

मुसलमानों के आगमन के बाद इन विवादों का रूप बदल गया। अब इन सभी को सम्मिलित होकर समष्टि रूप से इस्लाम का सामना करना पड़ा। कितने ही वेद विरोधी धर्मों को अब वेदसम्मत कहलाकर आत्मरक्षा करने की नौबत आयी। जो ऐसा न कर सके उनको इसलाम धर्म को स्वीकार करना पड़ा।[1] लेकिन इस्लाम में शरण लेने पर भी इनकी स्थिति नहीं उभर आयी। पूर्ववासना अब भी बनी रही। किंतु तत्काल में एक बला टल गयी।

२.१.२.६ भक्ति मतों का प्रचार :

शंकर के बाद दक्षिण में कितने ही नये दार्शनिक संप्रदाय उठे। सब से पहले श्रीरामानुज का विशिष्टाद्वैत संप्रदाय शंकर के मायावाद तथा निर्गुण ब्रह्म का खंडन करके सगुण ब्रह्म एवं पांचरात्र उपासना पद्धति का प्रचार करने में कटिबद्ध हुआ। दक्षिण के आलवार भक्तों के तमिल प्रबंधम् के गीतों को अब वेद मंत्रों के साथ वैष्णवालयों में अर्चा-आराधना के विभिन्न अवसरों पर विनियोग बताया गया। शैव नायनमार भक्तों के तेवार गीतों का भी इसी तरह शिवालयों में उपयोग होने लगा। रामानुज के बाद मध्वाचार्य ने अपने द्वैतवाद के प्रचार में हरि को ही सगुण रूप परब्रह्म सिद्ध करके भक्ति को उसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन बताया। इनके बाद निंबार्क आचार्य ने वृंदावन जाकर राधा-कृष्ण की भक्ति का संदेश दिया। विष्णुस्वामी और लीलाशुक ने गोपाल कृष्ण की लीला माधुरी की उपासना को अग्रसर किया। वल्लभाचार्य ने विजयनगर दरबार में शास्त्रार्थ करके जीत पाकर पुष्टिमार्ग का प्रचार शुरू किया। ये सभी आचार्य संस्कृत के वड़े विद्वान थे। शास्त्रवाद में पटु थे। भाष्य-रचना में पंडित थे। मायावाद के विरोधी और सगुण ब्रह्म के पक्षपाती थे। अतः इन लोगों के मत शीघ्र ही समाज के उन्नत वर्गों में स्वीकृत हो गये। किंतु सिद्धों, नाथपंथियों, जंगमों जैसे अन्य संप्रदायों की पहुंच समाज के निम्न वर्गों तक ही सीमित रह गयी। अब इन आचार्यों ने भी भक्ति क्षेत्र में वर्ण-भेद जैसी बातों को जगह नहीं दी।

धर्म प्रचार और संगठन कार्य में इन आचार्यों को बड़ी सफलता मिली। इनकी देश में जगह जगह गद्दियां बनीं और शिष्य परंपरा भी दूर दूर तक फैल गई। स्वामी रामानंद को रामानुज संप्रदाय की गुरु-परंपरा में ही परिगणित करते हैं। उन्होंने काशी में 'रामावत' संप्रदाय चलाकर अपने शिष्यों में सभी वर्णवालों को स्वीकार किया और उनको दीक्षा दी। कबीर जैसे निर्गुणिया संत

---

1. मध्यकालीन धर्म साधना, डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ ८०

और तुलसीदास जैसे सगुण भक्त कवि दोनों इनके शिष्यों में थे । इन निर्गुणियों की परंपरा की गद्दियां पश्चिम में काबूल तक प्रतिष्ठित हुईं ।[1] तुलसी का सगुण ब्रह्म रूप 'राम' व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि सभी में ओतप्रोत होकर जनता में आत्मचेतना और आत्मविश्वास बढ़ानेवाला हुआ । उधर आचार्य महाप्रभु वल्लभ भी दक्षिण में दिग्विजय करके आने पर उत्तर में अपने शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रचार करने लगे । गोपाल कृष्ण की उपासना और गोलोक की लीला विभूति के आदर्श पर इन्होंने जोर दिया, तो कृष्ण के इसी लोकरंजनकारी रूप को लेकर महाकवि सूरदास और अष्टछाप के अन्य भक्त कवि इस लोक की विरसता को भूलकर, अपने प्रिय भगवान की सगुण लीलाओं को गाते जीवन को सरस बनाने में कृतकृत्य हुए । माध्व वैष्णव संप्रदाय का भी नरहरितीर्थ जी के द्वारा उडीसा और कलिंग देश में पहले ही प्रचार हो गया । उधर श्रीचैतन्य स्वामी का मधुर भक्ति संप्रदाय भी जगन्नाथ पुरी में सुसंगठित रूप में विकसित होने लगा । चैतन्यस्वामी आंध्र देश में भी पधारे। यहां राजमहेंद्रवरम् में तब प्रतापरुद्र गजपति के राजप्रतिनिधि के रूप में राय रामानंद रहते थे ।[2] चैतन्य की उनसे भेंट हुई । कहते हैं कि कृष्णकर्णामृत और ब्रह्मसंहिता चैतन्यस्वामी को इसी भेंट में मिलीं ।[3] बाद में बृंदावन में चैतन्य संप्रदायवालों और वल्लभ संप्रदायवालों के साथ हरिदासी संप्रदायवालों की भी भक्ति साधनाएं एक काल में गुजरने लगीं । सगुण लीला संबंधी पदों की रचना के साथ उन लीलाओं के अभिनय की परिपाटी शुरू हो गयी ।[4] आंध्रप्रांत में गीतगोविंद और कृष्णकर्णामृत के आधार पर कूचिपूडिवाले भागवतों के नृत्य-नाटकों के प्रदर्शन इससे पहले ही शुरू हो चुके ।[5] ये लोग हंपी विजयनगर से लेकर कटक जगन्नाथ पुरी तक अपने नृत्य-नाटकों को प्रदर्शित कर आये ।[6] कहते हैं कि आसाम के भक्तकवि शंकरदेव (१४४९–१५६८ ई) ने जगन्नाथ पुरी में प्रदर्शित होनेवाले ऐसे लीला नाटकों से ही प्रेरणा पाकर आसामी भाषा में नौटंकी नाटकों को रचकर उनका प्रचार किया ।[7]

---

1. हिंदी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ ३९
2. आंध्र विज्ञान सर्वस्वमु, भाग ३, पृ २६८
3. राधा का क्रम विकास, डा. शशिभूषण दास गुप्त. पृ १२६
4. हिंदी नाटक, उद्भव और विकास, डा. दशरथ ओझा, पृ १८१
5. आंध्रुल संक्षिप्त चरित्र, ए. बलरामय्या, पृ ११–१२
6. भारती, नवंबर १९५६, भामाकलाप पर लेख
7. हिंदी नाटक, उद्भव और विकास, पृ ३५–३९

आंध्रप्रांत में ईसवी १३ वीं सदी से वीरशैव धर्म के अनुयायी लोगों के द्वारा भक्ति का विशेष प्रचार होता आया। लेकिन यह जंगम मत वर्णाश्रम धर्म और वेद विहित कर्मों में विश्वास नहीं करता। फलस्वरूप आंध्रदेश में इसका आराध्य शैवधर्म का रूप प्रचार में आया, जो वेद और वर्णाश्रम धर्म को मानकर चला। किंतु इन शैवों के विरोध में वैष्णवों का भी एक उग्र दल यहां उठा। वीरवैष्णव और वीरशैव धर्म का यह विरोध पलनाटि युद्ध जैसे भीषण संग्राम का भी कारण बना। लेकिन धीरे धीरे इन सभी झगड़ों को शांत करके हरिहरोपासना को प्रचार में लाया गया। आंध्रदेश में रामानुज संप्रदाय का भी १३ वीं सदी से जोर शोर से प्रचार होता आया। वेदांत देशिक के अनुयायी आंध्र वैष्णव 'वडहलै' कहलाये। ये लोग वैदिक एवं स्मार्त पद्धतियों को भी आलयों के अर्चाविधान में अपना कर वैष्णव धर्म के श्रुति प्रामाण्य पर अधिक जोर देते चले। आलोच्य काल में माध्व और विशिष्टाद्वैती आचार्यों के प्रयत्न से वैष्णव धर्म का ही प्राबल्य गुजरता था। तत्कालीन रेड्डि, वेलमा और विजयनगर राजा लोग वैष्णव धर्मावलंबी हुए, यद्यपि वे सभी धर्मों को समान रूप से देखते आये। उनके प्रयत्न से देश में कितने ही नये मंदिर निर्मित हुए। प्रचीन मंदिरों की स्थिति उन्नत की गई। मंदिरों को जमीन जायदाद देकर उनके वैभव को खूब बढ़ाया गया। इन सभी कारणों से लोगों का सगुण व लीलामय भगवान में विश्वास और आकर्षण बढ़ गया। अर्चामूर्ति के वैभव के साथ उसकी आराधना में श्रद्धा और उत्साह अधिक होते दीखे। मंदिरों में कितने ही नये नये उत्सव शुरू किये गये। यात्री लोगों की सुख-सुविधाओं का ज्यादा ख्याल रखा जाता था। स्थलपुराण और तीर्थ माहात्म्य जैसे ग्रंथ संकलित किये गये। मंदिरों में कीर्तन, भजन, प्रबंध पठन, वेदाध्ययन जैसे संप्रदाय शुरू किये गये। फलतः भक्ति का प्रचार जोर से होने लगा। हिंदू धर्म में जनता की रुचि और आस्था भी दिनों दिन बढ़ती गयी। संयोग से, उत्तर में जो विधर्मी राजाओं का शासन और विजातीय संस्कृति का संपर्क उस समय हुआ वह दक्षिण में तब नहीं था। यहां वेद-भाष्य निर्माता सायण विद्यारण्यों के आशीर्वाद से पले विजयनगर का हिंदू राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर चल रहा था। अतः भक्ति के प्रचार में और भी अधिक सुविधाएं मिलती रहीं।

२.१.३ सामाजिक परिस्थितियां :

मुसलमानों के आगमन के पश्चात् भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं विभाजन नई कड़ियों को जोड़ने लगे। स्वेच्छा से अथवा औरों की प्रेरणा, प्रोत्साह या जोर-जबरदस्ती से जो लोग अपने धर्म से च्युत हो जाते थे उनकी

नई नई जातियां बन जाती थीं। इस्लाम धर्म का ग्रहण करनेवालों को नवागत मुसलमानों के साथ जातिगत साम्य के मिल जाने पर भी आर्थिक, राजनैतिक जैसे अन्य कारणों से परिपूर्णतया अपने को उस विशाल समाज का अंग मानकर उसकी सारी सुविधा-सहूलियतों को प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं मिल सका। कई बातों में उनकी स्थिति पहले की सी रह गई। फिर, उनकी पूर्ववासनाएं भी जल्द नहीं छूटीं। मुसलमानों में शासक वर्ग और उनके निकट सहचर बजीर-सरदार, अमीर-उमराव, मुल्ला-मौल्वी आदि की स्थिति और सामान्य सैनिक, उसके परिवार, दास-दासी, सेवक-परिचारक आदि की स्थिति में अंतर दिनों दिन बढ़ता गया, तो मुसलमानों में ऊंच-नीच का भेद, वर्ग भावना, जैसी बातें आ गयीं। हिंदुओं में वर्ण व्यवस्था पहले ही कुछ ढीली पड़ गयी, अब उसके कितनी ही जाति, उपजातियां हो गयीं। अपने को पवित्र रखने की भावना भी औरों से अलग होकर ठहरने की प्रेरणा देती थी, तो दूसरी ओर से पतितों को सहज ही औरों से अलग होने की विवशता होती थी। तत्कालीन समाज में पेशे के कारण से भी जाति-उपजातियों की संख्या बढ़ती गयी। फलतः छुआछूत की भावना भी ज्यादा होती गयी। आलबरूनी के अनुसार उस समय के समाज में गोत्र, प्रवर आदि के अनुसार जाति-पांति के झगड़े बढ़ रहे थे। चार वर्ण के स्थान पर अनेक उपजातियां हो गयी थीं, जो परस्पर खान-पान और विवाह आदि का संबंध नहीं रखती थीं। बाल-विवाह की प्रथा थी। पर विधवा विवाह का निषेध था। अंत्यज आठ प्रकार के थे। उच्चवर्ण इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे।[1] धोबी, मोती, जुलाहे आदि भी अस्पृश्य समझे जाते थे। ब्राह्मणों में कई दुर्गुण आ गये। क्षत्रियों में भेद बढ़ गया। उनमें जातीयता का भाव नहीं था। व्यक्तिगत मान अपमान के प्रश्न पर लड़ाई-झगड़े उठ खड़े होते थे।[2] वैश्यों के कई पेशे हो गये, तो उनमें और शूद्रों में अंतर घटता गया।[3] स्त्रियों के अधिकार व स्वातंत्र्य छिन लिये गये। साधु-सन्यासियों के कितने ही भेद थे और उनके अलग अलग संगठन थे। राज्य, धर्म और समाज सभी को गृहस्थ से ही अर्थ मिलता था।

शासक वर्ग, अधिकारी, अमीर और उनके आश्रितों के यहां सुख-सुविधा, भोगविलास, ऐश-आराम की सभी सामग्री जुटी रहती थी। कला-कलावंत, वेश्या-नर्तकियां, गायक-शायर आदि को इन्हीं धनी-मानी लोगों के कृपा-पात्र

---

1. हिन्दी साहित्य, डा. श्यामसुंदर दास, पृ ३२–३३
2. सूर और उनका साहित्य, पृ ७५
3. मध्यकालीन संत साहित्य. पृ ९९

बनकर गुजर करना पड़ता था।[1] आनुषंगिक रूप से तलवार बनानेवाले, रेशमी कपड़ा बेचनेवाले, सुगंधद्रव्य व्यापारी, राज-संगतराश, तंबोली जैसे लोग भी उनके कारण सम्मान पूर्वक जीवन बिताया करते थे।[2] दूती, कुट्टनी, योगिनी जैसों का भी इनके यहां अकसर काम पड़ता था। शराब, भंग, अफीम आदि का उपयोग ज्यादा होता था। एक पुरुष के कई स्त्रियां होती थीं। अंतःपुर में भीड़ रहती थी। उच्च वर्ग का यह समाज उच्छृंकल ही नहीं, उद्दंड भी होता था।[3] अफसर घूसकोर थे। व्यापारी धोखे से भी पैसा कमाते थे। नगर जीवन के सभी अंग विलासपूर्ण विशृंखल वातावरण में पलते थे। गांवों का जीवन स्वतंत्र इकाई के रूप में चलता था।[4] वहां मुखिया बड़ा प्रभावशाली होता था। कर व्यवस्था भारी थी। दंड कठोर थे। वाणिज्य, व्यापार और कृषि में राजनैतिक अस्थिरता के कारण अकसर नुकसान ही नहीं होता था, बल्कि व्यवसाय की अनिश्चित स्थिति, आवश्यक आय के अभाव से जीवन में अकसर तंगी का अनुभव करना पड़ता था।

स्त्री-पुरुष, बालक सभी आभूषण पहनते थे। वह सोलह-शृंगारों का जमाना था। लेकिन गरीब ग्रामीण जनता के यहां पहनाव-ओढाव की क्या, रोटी-दाल की भी बहुत तंगी होती थी। गांवों में युद्धेतर समयों में शांति रहती थी, लेकिन धन केलिए ग्रामीण जनता सदा सब ओर से पीडित होती थी। फलतः जनता को राज्य और राजनीति से विरक्ति सी थी। परंपरागत धर्म में अब भी प्रजा का विश्वास था। देवी-देवता की पूजा, शकुन-अपशकुन, राखी-तावीज, व्रत-उपवास मनौती जैसी बातों में उनका विश्वास अविचल था। पीर, दरगाह जाना, मठों के सामने गुजरा करना जैसी बातें मुस्लिम संपर्क के फल हैं।[5] तब नगरों में एक नयी तहजीब विकसित हुई।[6]

दक्षिण में तब हिंदू राज्य था। अतः मुसलमानों के संपर्क का अभी अधिक प्रभाव नहीं हो पाया। पुराना हिंदू राजधर्म अब भी थोड़ा बहुत चालू था। विजयनगर राजा बुक्कराय के पुरालेखों में अकसर 'धर्मेण रक्षति क्षोणीं श्री बुक्क

1 वही, पृ ९५
2. वही, पृ १०७
3. मध्यकालीन संत साहित्य, पृ १२१–२४
4. वही, पृ १०१
5. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ १९
6. हिन्दी साहित्य, श्यामसुंदर दास, पृ ३१

महीपतौ' करके लिखा मिलता है ।[1] राजा लोग सर्व-वर्णाश्रम-धर्म-रक्षा तत्पर थे। वे सभी धर्मों को भी समान रूप से देखते आये। जब कभी विरुद्ध धर्मावलंबी लोगों में झगड़ा उठता था, तब राजा उनका माध्यस्थ होकर झगड़ा शांत करता था। बुक्कराय के समय में जैनों और वैष्णवों में ऐसा एक झगड़ा हुआ तो राजा ने इसका न्याय किया ।[2] मुसलमानों के अत्याचार से देश, धर्म, तथा संस्कृति की रक्षा करना ही इनका प्रधान लक्ष्य था। तभी इनके पुरालेखों में अकसर लिखा मिलता है,

> "तत्र राजा हरिहरो धरणीमशिषच्चिरम् ।
> सुत्राम सदृशो येन सुरत्राणः पराजितः ॥"[3]

प्रजा पर अत्याचार करनेवाले प्रादेशिक सामंत व सरदार को भी वे सजा देते थे ।[4] कर व्यवस्था बहुत भारी थी, खेती-बाड़ी, खाने, पशु संपदा, यात्रा, व्यापार, बाग-बगीचे, विवाह, चरगाह, आयात-निर्यात, धान, करघे आदि कितने ही विषयों पर कर वसूल किया जाता था ।[5] खेती-बाडी की उन्नति के ख्याल से सिंचाई का प्रबंध सुव्यवस्थित रखा जाता था। मंदिर और मठों के ग्रामों और ब्राह्मण अग्रहारों को छोड़कर बाकी सभी गांवों से राजा को आय मिलती थी ।[6]

विजयनगर राज्य का ऐश्वर्य उस समय के विदेशी यात्री निकोले, अब्दुर-रजाक जैसों के लेखों में खूब वर्णित है। प्रजा सुखी व संपन्न थी। समाज में सुख-सुविधा, भोग-विलास के सभी उपकरण मौजूद थे। पेशेवर लोग अपने अपने पेशों में निरत और परस्पर मैत्री भाव से रहते थे। व्यापारी लोगों की श्रेणियां होती थीं, जो अपने व्यवसाय के नियम आप ही बना लेती थीं। राजा, राजोद्योगी धनी, धर्मात्मा, व्यापारी सब की ओर से मठों व मंदिरों को दान मिलते थे। धर्मसत्र होते थे। मंदिरों में भी वैभव के साथ उत्सवों की नित नयी बढ़ती होती थी। देवदासियों को धन के साथ सम्मान भी प्राप्त होता था ।[7]

---

1. हिन्दी कन्नड भक्ति आंदोलन, पृ २२४
2. एपिग्राफिका इडिका, जिल्द ४, सं १७, जिल्द १, सं १८
3. हिन्दी कन्नड भक्ति आंदोलन, पृ २२४
4. माचृपल्लि कैफीयत
5. आंध्रुल संक्षिप्त चरित्र, पृ १९४
6. वही, पृ १९५
7. हिष्टरी आफ तिरुपति, श्री टी. के. टी. वीर राघवाचारी, पृ ५७०

२.१.४ सांस्कृतिक परिस्थितियां :

उत्तर में मुसलमानों के संपर्क में आने पर वास्तु, शिल्प, चित्र, संगीत, साहित्य जैसी सभी कलाओं में नयी शैलियाँ विकसित होने लगीं। हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों का परस्पर प्रभाव उस समय के कलाखंडों में स्पष्ट लक्षित होता है। फतहपुर सिक्री, चित्तौर का जयस्तंभ, मुगल व राजस्थानी चित्र शैलियों को क्रमशः तत्कालीन वास्तु, शिल्प और चित्र कला के उदाहरण मानकर देखने पर यह संस्कृतियों का सम्मेलन व समन्वय साफ नजर आता है। संगीत में हिंदूस्तानी और कर्णाटक शैलियों का स्पष्ट पार्थक्य इसी समय में हुआ। साहित्य में भी मसनवी, संतवानी जैसी शैलियां इसी युग की देन हैं।[1]

दक्षिण में इसके विरुद्ध परंपरागत शैलियों में ही इन सभी कलाओं का विकास होता रहा। मंदिर-शिल्प में विजयनगर शैली विकसित हुई। मूर्तिकला और चित्रकला में इस युग की अपनी विशेषताएं व्यक्त हुईं। कर्णाटक संगीत के आद्य प्रवर्तक माने जानेवाले अन्नमाचार्य, पुरंदर दास, रामयामात्य जैसे लोग अभी हुए। कृष्णराय के दरबार में 'अष्ट दिग्गज' कविमंडली रहती थी। राजा खुद कवि और पंडित होते थे। साहित्य, कला व धर्म का पोषण उस समय की राष्ट्र नीति का एक अंग था।

मध्ययुग के प्रधान लक्षणों में शृंगारिकता और आलंकारिकता की गिनती पहले होती है। उस काल के साहित्य, कला, धर्म, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में ये लक्षण पाये जाते हैं।

२.१.५ साहित्यिक परिस्थितियां :

आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों अपनी अपनी भाषाओं के प्रसिद्ध भक्त कवि थे। सूरदास के पदों के बारे में लिखते पं. रामचंद्र शुक्ल जी कहते हैं कि इन पदों की परिष्कृत शैली को देखते यह मानना ही पड़ता है कि ये किसी चली आती हुई सुदीर्घ गीति परंपरा का ही विकसित रूप है।[2] हो सकता है कि व्रजभूमि में या उसके आसपास ऐसे लोकगीत प्रचुर मात्रा में रचे गये होंगे, जिनका सूरदास जी ने साहित्यिक रूप देकर उपयोग किया हो। लोकगीतों की कमी नहीं रही होगी। फिर व्रजभाषा मिठास केलिए प्रसिद्ध है। पहले से वह साहित्यिक भाषा के आंचल में पनपती आयी।

---

1. हिन्दी साहित्य, पृ ५६–७६, श्यामसुंदर दास
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल जी, १६४

२.१.५.१ परंपरा

वास्तव में ऐसे पदों की रचना अपभ्रंश काल से ही होती आ रही है। 'बौद्ध गान ओ दोहे' नामक ग्रंथ में ऐसे कितने ही चर्यापद मिलते हैं, जिनकी रचना पद्धति को सूर जैसों की पद-रचना पद्धति का प्राचीन रूप माना जा सकता है। राहुलजी से संपादित 'हिन्दी काव्याधारा' में भी ऐसे कुछ गीत संग्रहीत हुए हैं जो विभिन्न राग-रागिनियों में बंधे रचे हैं। ये गीत बौद्ध सिद्धों के हैं। इन सिद्धों का प्रचार क्षेत्र सामान्य जनता के बीच में था। अतः इन पर लोकभाषा, लोक गीत और लोक संगीत का प्रचुर मात्रा में प्रभाव पड़ा होगा। जनता को आकृष्ट करने केलिए सिद्धों ने खुद इन शैलियों को अपनाया था। जो हो, इन सिद्धों और बाद के नाथ पंथी योगियों की इस बानी को तो आलोच्य काल के निर्गुणिया संतों ने खूब स्वीकार किया।[1]

सगुण लीला पदों की परंपरा भी पुरानी है। क्षेमेंद्र के दशावतार चरित में गोदावरी तीर मे कृष्ण और गोपियों की रासक्रीडा का वर्णन करनेवाला एक गीत मिलता है।[2] जयदेव का गीतगोविंद तो सुविख्यात है। अपभ्रंश में पुष्पदंत के महापुराण में भी गोप लीलाओं का वर्णन मिलता है। हेमचंद्र के द्वारा संपादित अपभ्रंश के दोहों में भी, गाथा सप्तशती की गाथाओं के समान, कहीं कहीं राधा-कृष्ण लीलाओं का वर्णन मिलता है।[3] पृथ्वीराज रासो में दशावतार का वर्णन मिलता है। अमीर खुशरो के गीत भी लोक गीतों के निकट हैं। धृवपद को इसी युग में विकसित बताया जाता है। सूर के समय तक गुजरात के नरसी मेहता, महाराष्ट्र के ज्ञानदेव, नामदेव, मुक्ताभाई आदि के भक्ति गीत बहुत प्रसिद्ध हो चुके। इनमें किसी किसी के पद हिंदी में भी मिलते रहे। तत्काल में भी गुजरात के भलहण कवि जैसों के बाल लीलापद बहुत प्रचलित थे।[4] बंगाल के चंडी दास और बिहार के विद्यापति के पद तो तब तक सुविख्यात थे। सूर पर विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट है।[5]

---

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी
2. क्षेमेंद्र का दशावतार चरित्र ८–१७६
3. सूर पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य, डा. शिवप्रसाद सिंह, पृ २९०
4. अनुसंधान और आलोचना, डा. नगेंद्र, पृ २६
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल जी, पृ १६४

२.१.५.२ तेलुगु पद साहित्य :

तेलुगु भाषा भी अपनी मधुरिमा के लिए प्रसिद्ध है। आज भी सारे दक्षिण में संगीत और नाट्य की प्रमुख भाषा तेलुगु ही है। लेकिन इस भाषा में रचे प्राचीन गीतों के सब से पुराने नमूने तो अब हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य के ही मिलते हैं। उनसे पहले के गीतों के बारे में साहित्यिक साक्ष्य तो अवश्य मिलते हैं, किंतु उनमें से एक भी देखने को नहीं मिलता। पाल्कुरिकि सोमनाथ कवि ने ऐसे कितने ही पुरातन भक्ति-गीतों और लोक-गीतों का अपने पंडिताराध्य चरित में उल्लेख किया है।[1] प्राचीन साहित्य के साक्ष्य से केवल गीतों का ही नहीं, अपितु विभिन्न तरह के भजन, कीर्तन, बृंदगान, यक्षगान, गीतिनाट्य जैसी कई संगीत बद्ध रचनाओं के अस्तित्व के बारे में पता चलता है, लेकिन आज उनमें से ईसवी १३ वीं सदी के कृष्णमाचार्य कवि के रचे हुए 'सिंहगिरि वचन' नामक तालगंधि वचनों (गेयों) का संग्रह मात्र देखने को मिलता है। कृष्णमाचार्य अपने समय के प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे और समसामयिक वीर शैवों की पद्धति पर उन्होंने वचन साहित्य का निर्माण किया, जो राग-तालों में गाये जाने योग्य है। यों तो तेलुगु साहित्य का आरंभ धर्मोज्जीवन अथवा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार के महान् उद्देश्य से प्रेरित होकर हुआ था और उसी लक्ष्य के अनुसार महाभारत, रामायण, मार्कंडेय पुराण, हरिवंश, नृसिंह पुराण जैसे काव्यों का निर्माण करके भक्ति, ज्ञान और कर्म का प्रचार नये जोश से किया गया। अन्नमाचार्य के समय तक तेलुगु में संस्कृत के पौराणिक एवं काव्यसाहित्य का बड़ा अंश पुनारचित हो चुका और उनके समकालीन कवियों में से पोतनामात्य के हाथ महाभागवत की और पिन वीरभद्र कवि के हाथ जैमिनी भारत जैसे वीरवैष्णव प्रबंध काव्य की रचना हो गयी। ये सब चंपू मार्ग शैली के हैं।

२.१.५.३ वीर शैव साहित्य :

वीरशैव भक्तों ने विभिन्न देशी शैलियों को अपनाकर साहित्य का सृजन किया तो वैष्णव भक्त कवियों ने भी वही मार्ग अपनाया है। फलतः तेलुगु में मार्ग (शास्त्रीय) और देशी (लोक) साहित्य की धाराएं कुछ दूर तक अलग अलग-सी बहने लगीं। वीरशैव धर्म का समाज के उच्च वर्ग में आराध्य रूप में प्रचलित होना तो निम्न वर्गों में इसके निर्गुणियां संत मत के रूप में बदलने में सहायक बना। बाद में इसका 'अचल मत' रूप भी विकसित हुआ। ये अचल मतावलंबी योगी और साधक शैव गीतों की तरह के कई तत्वार्थ गीत रचते चले। उनमें से

---

1. पाल्कुरिकि सोमनाथ कवि, पंडिताराध्य चरित, पर्वत प्रकरण

गार्लपाटि लक्ष्मय्या जी के 'यागंटिलिंग वचन' नाम के गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। यह लक्ष्मय्या कवि अन्नमाचार्य के समकालीन थे और इन दोनों की परस्पर भेंट और पद रचना संबंधी वाग्वाद की कथाएं भी सुनने को मिलती हैं।

२.१.५.४ यक्षगान पद :

अन्नमाचार्य के समय में आंध्र प्रांत में यक्षगान नाट्यों का खूब प्रचार था। इनसे पहले श्रीनाथ कवि ने इन नृत्य नाटकों का उल्लेख ही नहीं किया, बल्कि 'वीथि' नाटक की भी रचना की है। उन्होंने अपने भीमखंड काव्य की भूमिका में राधा-कृष्ण लीला की स्तुति भी की है।[1] गीत गोविंद एवं कृष्ण कर्णामृत के अभिनय में यहां के कूचिपूडि भागवतों की ख्याति उन दिनों में देश भर में फैली थी। उनसे पहले पोतकमूरि भागवतों के गेय-नाट्य-पद बहुत प्रसिद्धि पा चुके।[2]

२.१.५.५ प्रबंध गान :

ईसवी १३ वीं सदी से तेलुगु देश के वैष्णवालयों में तमिल भाषा में रचे आलवार प्रबंधम के गीतों का पठन-पाठन, गान-अध्ययन नियत रूप से होने लगा। इन आलवारों के गीतों में तिरुमल तिरुपति का और वहां के भगवान श्रीवेंकटेश्वर का प्रमुख रूप से वर्णन मिलता है। आलवार भक्तों की तरह अन्नमाचार्य भी श्री वेंकटेश्वर भगवान का यश गानेवाले कीर्तनिया भक्त बन गये और वैसे ही समय सेवा संबंधी हजारों कीर्तनों की रचना की, भगवान की विविध लीलाओं का वर्णन किया, दशावतार का तत्व बताया और विनय तथा शृंगार के देशी और मार्ग संप्रदायों के कितने ही पद गाये।

उत्तर मे कृष्ण भक्ति और राम भक्ति की साहित्यिक शाखाएं वहां की भक्ति साधनाओं के अनुरूप बनी हैं, लेकिन दक्षिण में ऐसी बात नहीं हुई। यहां शैव वैष्णव भक्ति के भेद हैं। साहित्य भी उसी तरह के शाखा भेद को अपनाये रचा गया। लेकिन राम, कृष्ण, नृसिंह या अन्य किसी अवतार की भक्ति एक ही संप्रदाय के अंतर्गत मानी जाती आयी है। अतएव अन्नमाचार्य की रचना में भी कृष्ण और राम दोनों के प्रसंग वर्णित हुए मिलते हैं।

---

1. श्रीनाथ कवि, भीमखंड, १–३
2. अन्नमाचार्य चरित्र, चिन्नन्ना, पृ ४१

२.२. भक्ति का विकास

२.२.१ भक्ति का सामान्य लक्षण :

अपने इष्टदेव के प्रति भक्त के दिल में जो अनन्य अनुराग प्रकट होता है उसी को भक्ति कहते हैं। शांडिल्य ने कहा है कि ईश्वर के प्रति जो परानुरक्ति होती है वही भक्ति है।[1] परानुरक्ति का अर्थ है अत्यंत अनुरक्ति। 'अनु' उपसर्ग से तात्पर्य है कि वह राग अथवा प्रेम ध्येय के महत्व, नित्यत्व, अनन्यता आदि के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला भाव है। जैसे ध्येय के महत्वादि गुण आत्म दर्शन का रूप धारण करते जाते हैं वैसे ही वैसे वह रागात्मिका वृत्ति अथवा प्रेम भाव भी प्रगाढ और अद्वितीय होता जाता है।[2] नारद के अनुसार भक्ति का फल भक्ति ही है। उनके अनुसार मोक्षोपाय रूपी ज्ञान, कर्म आदि सब उपायों से भक्ति ही उत्तम है।[3]

भारतीय परंपरा के अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का लक्ष्य एक है। अपने लक्ष्य तक पहुंचाने में ये तीनों मार्ग समान रूप से उपयुक्त हैं। साधक अपनी इच्छा या अभिरुचि के अनुसार इनमें किसी एक की साधना कर सकता है अथवा इन तीनों में समन्वय साधकर अपनी साधना में अग्रसर हो सकता है। शर्त यही है कि वह अपनी साधना में अविचल रहे, अप्रमत्त होवे और अनवरत नैरंतर्य भाव से उसका उपाय करता चले। इस तरह साधना में जो चित्त की

---

1. सा परानुरक्तिरीश्वरे ।। शा. भ. सू २
2. भक्ति काव्य के मूल स्रोत, पृ ११
3. फल रूपत्वात्। ना. भ. सू २६ (और)
   सातु कर्मज्ञानयोगोप्यधिकतरा। सू २५

एकाग्रता वरण होती है उसी को योग कहते हैं ।[1] अनुभवी आचार्यों का कथन है कि ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग की अपेक्षा भक्तियोग अधिक सुलभ साध्य है । ज्ञान तो मंद-मध्यम-अधिकारियों को दुष्कर है । कर्म में विधि-विधान की ज्यादती होती है । अतः भक्ति सब से आसान है और सब के लिए वरणीय है । आचार्य शंकर भगवत् पाद ने भी यही कहा है कि 'मोक्ष कारण सामग्र्यां भक्ति रेव गरीयसी' ।

श्रद्धा, प्रीति, अनुराग जैसे भाव हृदय की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं । ये किसी एक वस्तु या विषय के प्रति तभी जागृत एवं उन्मुख होती हैं, जब उस वस्तु अथवा विषय का परिचय व परिज्ञान अच्छी तरह प्राप्त होता है, लेकिन लौकिक विषयों की तरह भगवद् विषय का परिचय सुलभ नहीं है । अतएव गुरु का उपदेश, भक्त का प्रयत्न, भगवान की अनुकंपा आदि सभी को भक्ति साधना के आवश्यक अंग बताये जाते हैं ।

२.२.२.० भक्ति और वेद :

शांडिल्य ने भक्ति तत्व का मूलबीज वेद में निहित बताया है ।[1] सामान्य दृष्टि को वेद में यज्ञ और कर्म की मीमांसा ज्यादा मिलती है, लेकिन इससे यह समझना नहीं चाहिए कि वैदिक काल में ज्ञान तथा भक्ति की कल्पना का आविर्भाव ही नहीं हुआ था । वेद मंत्रों में विशिष्ट देवताओं की स्तुति की गयी है, परंतु यह स्तुति इतनी मार्मिकता से की गयी है कि इसमें स्तोता के हृदय में अनुराग का अभाव मानना नितांत उपहासास्पद है ।[2]

२.२.२.१ उपासना तत्व :

ज्ञान का संबंध बुद्धि से है, तो भक्ति अथवा उपासना का संबंध हृदय से है । यह हृदयगत श्रद्धा और अचंचल विश्वास पर अवलंबित होती है । इसका पूर्व रूप स्तुति और प्रार्थना का होता है, जिसमें भगवान के स्वरूप, माहात्म्य, दया, अनुग्रह आदि गुणों का गान और अनुकंपा की याचना विद्यमान होते हैं । उपासना का लक्षण बताते शंकर भगवत्पाद ने कहा है कि

---

1. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।। पातंजलि योग, सूत्र, १
2. भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः । शा भ सू १–२–९
3. भागवत संप्रदाय, बलदेव उपाध्याय जी, पृ ६४

"उपासनं नाम यथाशास्त्रं उपास्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समान प्रत्यय प्रवाहेण दीर्घकालं यदासनम् ।"[1]

दूसरे शब्दों में, उपासना का अर्थ है कि अपने इष्टदेव के पास में बैठकर उसका कृपापात्र बनना । इष्टदेव की स्तुति, सेवा, अर्चा, पूजा, प्रार्थना आदि सब को इस पास में बैठने के अंतर्गत माना जाता है । इसीसे रागात्मिक वृत्ति का उदय और पोषण होता है । इस तरह उपासना या भक्ति में ज्ञान और कर्म संपत्ति का समन्वय ही वैदिक भक्ति का आदर्श है ।[2]

ऋग्वेद में देव स्तुतिपरक सूक्तों का ही बाहुल्य है । उन सूक्तों में वर्णित देवताओं का स्वरूप तो उनके आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों तत्वों का स्पष्ट निर्देश करनेवाला होता है । फिर, एक देवता के साथ अनेक देवताओं का एक ही प्रकार के शब्दों, विशेषणों और संकेतों का प्रयोग करके वर्णन करने की परिपाटी मिलती है । यास्क ने इसी वैचित्री को सुलझाते कहा है कि 'महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्य आत्मनः अन्ये देवा प्रत्यंगानि भवंति' ।[3] परमात्मा एक ही है । वही विभिन्न नाम, रूपों में व्यक्त होता है, अतः किसी एक के वर्णन में दूसरों के भी लक्षण पाये जाते हैं और हर एक को सबसे बड़ा कहकर भी वर्णित किया जाता है । 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः', कहकर श्रुति ने भी यही सत्य प्रकट किया है ।[4] ऐतेरेयारण्यक में कहा है कि 'एतह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसंत, एतमग्नौ आध्वर्यवः एतं महाव्रते छांदोगाः ।'[5] तात्पर्य है कि विभिन्न उपायों व विभिन्न नाम रूपों से उसी एक परब्रह्म परमात्मा की उपासना की जाती है । व्यक्ति दृष्टि से वह एक है, किंतु वस्तु दृष्टि से वह बहुत है । वह विभूति संपन्न सत्य व श्रुत स्वरूप, कवि, विप्रतम एवं सुचितम है ।[6]

ऋग्वेद की वरुण स्तुतियों की व्याख्या करते डा. राधाकृष्ण कहते हैं कि इन सूक्तों में वे सभी तत्व दिखायी पड़ते हैं, जो भक्ति के बीज कहे जा सकते हैं।

---

1. गीता भाष्य, शंकराचार्य, १२—३
2. भक्ति का विकास, डा. मुंशीराम शर्मा, पृ १११
3. यास्क निरुक्त, ७—४—८,९
4. ऋग्वेद, १—१६४—४६
5. ऐतरेयारण्यण्यक, ३—२—३—४२
6. ऋग्वेद, ८—४४—२१

आगे चलकर वे कहते हैं कि वैष्णव धर्म का मूल ऋग्वेद में पाया जाता है, जहां कि विष्णु को 'बृहत् शरीरः' कहा गया है, अर्थात् जिसका शरीर बड़ा है अथवा संसार मात्र जिसका शरीर है, 'प्रत्येत्याहवयम्', अर्थात् जो भक्तों के बुलाने पर आ उपस्थित होता है। विपत् ग्रस्त मनुष्य केलिए उसने पृथ्वी को तीन पगों में नाप लिया।[1]

२.२.२.२ विष्णु भक्ति :

ऋग्वेद में विष्णु के वर्णन में छः सूक्त मिलते हैं।[2] यह तथ्य है कि इंद्र, अग्नि, सविता, वरुण आदि – विशेषतः इंद्र, अग्नि आदि – से संबद्ध सूक्तों व ऋचाओं की संख्या जैसी विशाल है, वैसी विष्णु संबंधी सूक्तों की नहीं है, परंतु विष्णु को सौर देवता व आदित्यो में एक करके मानकर उसके त्रिविक्रम रूप और उसके परमपद का स्पष्ट वर्णन हुआ है।[3] वैसे ही ऋग्वेद में विष्णु को 'इंद्रस्ययुज्यः सखा' कहकर उसके उपेंद्रत्व की ओर भी संकेत किया गया है।[4] उसी तरह विष्णु को सूर्य रूप चक्रधारी भी बताया गया है।[5] ऐतरेयब्राह्मण में विष्णु का अन्य देवों से आधिक्य माना गया है।[6] ऋग्वेद में विष्णु के परमपद को मधुभंडार कहा गया है। उपासक सूरि जनों का लक्ष्य उसी परमपद ही बताया गया है।[7] विष्णु को भय रहित 'गोपा' अर्थात रक्षक कहा गया है।[8] उनको अन्य देवताओं को व्रज प्राप्त करानेवाला कहा गया है।[9] यजुर्वेद में विष्णु को यज्ञस्वरूप यज्ञपुरुष और यज्ञभोक्ता माना गया है।[10] जो यज्ञ पहले कामना सफल करने और देवताओं को प्रसन्न करने का साधन था, वह अब स्वतःसाध्य हो गया। बृहदारण्यक में यज्ञ की मानसिक उपासना के रूप में व्याख्या की गयी है।[11] आरण्यक

---

1. भारतीय दर्शन, डा. राधाकृष्णन, पृ ७०-७३
2. ऋग्वेद, १-१५४-१ से ६
3. ,, १-१२२-१८ और २०
4. ,, १-२२-१९
5. ,, १-१६४-४८
6. ऐतरेयब्राह्मण, १-१
7. ऋग्वेद, १-१५४-५ और १-२२-१६
8. ,, १-२२-१८
9. ,, १-१५४-४
10. यजुर्वेद, २०-२२
11. सूर की झांकी, डा. सत्येंद्र, पृ १९

के वातावरण और अहिंसा प्रवृत्ति इसके कारण हुए होंगे। यों तो वैष्णव धर्म का मूलधर्म अहिंसात्मक उपासना ही है।

२.२.२.३ सगुण ईश्वर :

वैष्णवधर्म की आधारशिला अवतारवाद है। पं. बाल गंगाधर तिलक जी लिखते हैं कि "परब्रह्म का ज्ञान होने केलिए ब्रह्मचिंतन करना आवश्यक है। इस हेतु परब्रह्म का सगुण प्रतीक प्रथम आंखों के सामने रखना चाहिए, ऐसा छांदोग्य आदि पुराने उपनिषदों ने कहा है। उपासना मार्ग में सगुण प्रतीक के स्थान पर क्रमशः परमेश्वर का व्यक्त मानव रूपी प्रतीक ग्रहण ही भक्तिमार्ग का आरंभ है।"[1] श्रुतियों में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन हुआ है। बृहदारण्यक में निस्संशय रूप से इनका उल्लेख करते कहा है, 'द्वेवा ब्रह्मणो रूपे मूर्तंच-अमूर्तंच, मर्त्यं चामर्त्यं च, स्थितं च यच्च तच्च'।[2] किंतु भक्तों केलिए इन दोनों में समन्वय साध लेना आसान है। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार, "जब कभी वह निर्गुण, निर्विशेष और ज्ञान का विषय होनेवाला भगवान या ब्रह्म भक्त के हृदय में प्रकट होता है तभी भक्त के हृदय की समस्त सीमाओं में बंध कर सगुण निर्विशेष रूप से व्यक्त होता है। यही भक्त का भावगृहीत रूप है।"[3] वास्तव में इसका ऐतिहासिक विकासक्रम भी ऐसा ही हुआ है। ब्रह्मचिंतन का मार्ग पहले यज्ञ तथा उसके विविध अंगों की उपासना में व्यक्त हुआ, तो बाद में ओंकार की और आगे चलकर शिव, विष्णु इत्यादि वैदिक देवताओं अथवा अन्य शक्तियों के सगुण व्यक्त ब्रह्म प्रतीक की उपासना प्रारंभ हो गयी। अंत में अवतारों की कल्पना और उनके विभिन्न प्रतीकों की उपासना प्रचलित हो गयी।

अवतार कल्पना की भी मूल-भित्ति वैदिक साहित्य ही है। अवतार कथाओं का चाहे पुराणों में कितना ही विस्तार हुआ हो, किंतु उनके मूल बीज तो वैदिक साहित्य में ही मिलते हैं। पं. दुर्गाशंकर शर्मा जी लिखते हैं कि "वस्तुतः वैदिक काल में ब्रह्म की नराकार रूप में पुरुषसूक्त द्वारा प्रार्थना की गयी तथा भक्ति साधना में आराध्य के प्रति जिस सान्निध्य भावना तथा सामीप्यता की अवश्यकता होती है उसकी पूर्ति के हेतु अवतारवाद का सिद्धांत आविर्भूत हुआ

---

1. गीता रहस्य, पृ ५३७
2. बृहदारण्यक, २-३-१
3. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ

जिसके कि बीज उक्त पुरुषसूक्त में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं।"[1] फिर, प्रसिद्ध दशों अवतारों में से मत्स्य,[2] और कूर्म का[3] शतपथ ब्राह्मण में, वराह[4] का तैत्तरीय संहिता में और वामन[5] का तो ऋक् संहिता में ही उल्लेख पाया जाता है। नरसिंह[6] का भी तैत्तरीय आरण्यक में उल्लेख मिलता है। बाद में इनमें से किसी किसी का महत्व बतानेवाले अलग अलग उपनिषद ही रचे गये।

२.२.२.४ उपनिषदों में भक्ति :

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मज्ञान है। इसीलिए उनको ब्रह्मकांड अथवा ज्ञानकांड कहते हैं। किंतु शांडिल्य के मत में ब्रह्मकांड का भी प्रतिपाद्य विषय भक्ति ही है।[7] वैसे ही कठोपनिषद में ब्रह्मप्राप्ति का एक मात्र उपाय भक्ति ही बताया गया है।[8] उसी उपनिषद में आत्मा का अनुग्रह या प्रसाद की ओर भी संकेत किया गया है।[9] यही प्रसाद बाद की 'पुष्टि' हैं, जो भागवत के 'पोषणं तदनुग्रहः' वाले वाक्य का सिद्धांत रूप हैं।[10] श्वेताश्वतर उपनिषद में पहले पहल भक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। "यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ", कहकर यह उपनिषद गुरु का भी महत्व बताता है।[11] इसी उपनिषद में प्रपत्ति अथवा शरणागति का महत्व भी सूचित है।[12] जैसे

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देव मात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥"

---

1. भक्तिकाव्य के मूल स्रोत, पृ १९
2. शतपथ ब्राह्मण, २–८–१–१
3. „ ७–५–१–५
4. तैत्तरीय संहिता, ७–१–५–१
5. ऋग्वेद, १–१५४–१
6. तैत्तरीय आरण्यक, १०–१–८
7. शा. भ. सू. २६
8. कठोपनिषद, १–२–२३
9. „ १–२–२०
10. महा भागवत, २–१०–४
11. श्वेताश्वतर उपनिषद, ६–२३
12. „ „ ६–१८

२.२.३ पुराणों में भक्ति :

पुराणों में भक्ति तत्व का विस्तार से निरूपण और विभिन्न सांप्रदायिक भक्ति साधनाओं का विवरण मिलता है। वेद में भक्ति के जो तत्व बीज रूप में पाये जाते हैं उनको पुराणों में कथा कल्पनाओं के साथ खूब विकसित एवं सुदृढ आधारभूमि पर टिके पाते हैं। वस्तुतः ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का पुराणों में भी प्रतिपादन हुआ है, किंतु उनमें समन्वय साधकर, अवतारवाद की प्रतिष्ठा करके, व्रत तीर्थ आदि में विश्वास बढ़ाकर आस्तिकता एवं भक्ति को सर्व साधारण मानव तक पहुंचाने का श्रेय पुराणों का ही है। वे ही जनता के वेद हैं। "इतिहास पुराणाभ्यां वेदः समुपबृंहयेत्" कहकर पुराणों को वेद का ही विस्तृत व्याख्यात्मक विवरण माना गया है।[1] वेदार्थ को स्त्री-शूद्रों तक को सुलभ बनानेवाले इन पुराण इतिहासों को 'पंचम वेद' भी कहा गया है।[2] हिंदू धर्म के आधार ग्रंथों में वेदों का जितना महत्व है, पुराणों का भी उतना ही महत्व है। विषय विस्तार एवं वैविध्य की दृष्टि से इनको हिंदू धर्म का 'विज्ञान सर्वस्व' भी माना जाता है।

श्री करुणापति त्रिपाठी जी लिखते हैं कि "पुराणकर्ता आचार्यों ने आर्य और समस्त आर्येतर मान्यताओं और धार्मिक चर्याओं को एक में मिलाकर उनके विरोध को दूर करने का चिरस्मरणीय और महान प्रयत्न किया। इसमें हजारों वर्षों तक निस्वार्थ भाव से वे लगे रहे। अश्रांत साधक के समान वे अपना कार्य करते रहे। इसी कारण पुराणों में वैदिक, ब्राह्मण-आरण्यकों, उपनिषदों और कल्पसूत्रों की दृष्टियों और सिद्धांतों को जहां एक ओर प्रबद्ध किया गया है, आरण्यकों और विशेष रूप से उपनिषदों के ज्ञानात्मक चिंतन-मनन पक्ष को आत्मांतर्गत किया गया है, दूसरी ओर भक्ति और पूजा के भी विविध मार्गों की समायोजना दिखाई देती है।"[3] परंपरागत सभी विज्ञान पुराणों में संग्रहीत हो गया है। विभिन्न मतों व संप्रदायों में इनके द्वारा समन्वय लाया गया है। इसी का प्रयत्न महाभारत में भी पाया जाता है। उसमें यह भी कहा गया है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।' इस तरह सबको समेटकर भारत में एक अखंड संस्कृति के निर्माण तथा विकास करने में पुराण-इतिहासों का सफल प्रयत्न लक्षित होता है।

---

1. महा भारत, १–१–२६७
2. छांदोग्य उपनिषद, ७–२–२
3. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, प्राक्कथन, पृ १४

जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वेद ने जिस परम तत्व को मनोबुद्धींद्रियों के परे रख दिया था पुराणों ने उसे सर्व-साधारण के मनोबुद्धींद्रियों के समीप ला रखा है। "वेद के सत्यं ज्ञान मनंतं ब्रह्म ने पुराणों में सौंदर्य मूर्ति तथा पतित पावन भगवान के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेद ने घोषणा की है–ब्रह्म सब प्रकार के नाम रूप तथा भावों से परे हैं। पुराण कहते हैं–भगवान सर्वनामी, सर्वरूपी तथा सर्वभावमय है। वेद कहते हैं – 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति'। पुराण कहते हैं – 'एकं सत् प्रेम्णा बहुधा भवति'। विभिन्न रूपों और नामों में, विचित्र शक्ति, सामर्थ्य तथा सौंदर्य को प्रकट कर जगत में रमनेवाले भगवान की ललित लीलाओं का प्रदर्शन पुराणों की विशिष्टता है।"[1] भक्ति का सिद्धांत वैदिक है अवश्य, किंतु पुराणों में ही भगवान के प्रति अखंड अनुराग या परा अनुरक्ति का सिद्धांत खूब विकसित किया गया है और इस तरह भक्ति का एक विशाल साम्राज्य खड़ा किया गया है।

पुराणों के धर्म का पीठस्थान अवतारवाद है। गीता में अवतार का उद्देश्य धर्म-संस्थापन और दुष्ट-शिक्षण कहा गया है।[2] पुराणों में इसका और एक लक्ष्य भी बताया गया है कि भक्त की आर्ति को दूर करने तथा अपने विभव को लोक में प्रतिष्ठित करने के हेतु भी भगवान अवतार लेते हैं,

"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणाय गुणात्मनः॥"[3]

यद्यपि पुराणों में पंचायतन के सभी देवों–शिव, विष्णु, सूर्य, गणपति और अंबिका – के प्रति विविध कथा विधानों के द्वारा उनका माहात्म्य व्यक्त करके श्रद्धा और भक्ति जगाने का प्रयत्न अवश्य हुआ है, तथापि उनमें भी समन्वय लाने का प्रयत्न विद्यमान होता है। बृहन्नारदीय में कहा है कि 'शिवएव हरिः साक्षात्, हरिरेव शिवः स्वयं'।[4] किंतु त्रिमूर्ति में विष्णु का कार्य जगत् पालन जो बताया गया है उसके अनुरूप जगद्रक्षा निमित्त अवतार लेने का धर्म विष्णु में ही बार बार व्यक्त लक्षित किया गया है। फलतः भगवान विष्णु के अनेकों अवतारों की कथाएं पुराणों में वर्णित हो गयीं। भागवत में विष्णु के चौबीस अवतार वर्णित हैं। किंतु उनमें मत्स्य, कूर्म आदि दस प्रधान माने जाते हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ ४८८
2. गीता, ४–७, ८
3. भागवत पुराण, हि. सा. बृ. इतिहास, १ पृ ४९० में उद्धृत
4. बृहन्नारदीय. हि. सा. बृ. इतिहास, १ पृ ४९६ में उद्धृत

भक्ति मार्ग के प्रचार में भागवत पुराण का बड़ा हाथ है। यह भक्ति-प्रधान भागवत धर्म के निरूपण केलिए ही निर्मित हुआ है। भागवत में भक्ति को भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम कहा गया है। उसीको सालोक्य आदि पांचों प्रकार की मुक्ति का हेतु बताया गया है।[1] भागवत के अनुसार भक्त हो तो वस, वही श्रेष्ठ है।[2] भक्ति सभी वर्णों व आश्रमों के लिए विहित है।[3] वह प्रवृत्ति-लक्षण-धर्म होकर भी निवृत्ति मार्ग के अनुयायियों के लिए भी वरणीय है।[4] भगवान के अनुग्रह से ही भक्ति मिलती है और उसी के अनुग्रह से वह पुष्ट होती है।[5] भक्ति का प्रयोजन उसके वासुदेवार्पित होने में ही है।[6] भक्ति साधना के नौ विधान प्रसिद्ध हैं।

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्॥"[7]

भागवत के अनुसार वासुदेव कृष्ण ही परमपुरुष परमात्मा ब्रह्म है। बाकी अवतारों में भगवान के अंश हैं, किंतु कृष्ण तो साक्षात् भगवान हैं।[8] भागवत पुराण के अनुसार भक्त वही है, जो सारे विश्व में भगवान के दर्शन कर सकें।[9] विष्णु पुराण में कहा है कि कृष्ण नाम संकीर्तन अथवा स्मरण मात्र से सभी पाप कर्मों का प्रायश्चित्त हो जाता है।[10]

महाभारत के शांति पर्ववाले नारायणीयोपाख्यान (शांति, ३३४ से ५१ अध्याय) भक्ति योग के प्रतिपादक ग्रंथों में सबसे प्राचीन माना जाता है।[11] नारायणीय के अनुसार नर और नारायण दो अवतार पुरुष थे। उनके कहे

---

1. भागवत पुराण, ३-२९-१२ से १४
2. वही, ११-१८-१३, १४
3. वही, १-४-२५
4. वही, १-५-१२
5. वही, २-१०-४
6. वही, १-२-७
7. वही, ७-५-२३
8. वही, २-३-२८
9. वही, ११-२-४५
10. विष्णु पुराण, २-३-३७
11. गीता रहस्य, पृ ५८०-८९

अनुसार नारद ने श्वेतद्वीप जाकर स्वयं भगवान के श्रीमुख से भागवत धर्म का उपदेश पाया। इसमें पांचरात्रवाले व्यूहवाद का भी विवरण मिलता है। 'वासुदेव भक्ति, अन्य भक्ति का भी वासुदेव को अर्पित होना, भक्ति के आर्त, जिज्ञासु, काम्य और ज्ञान रूपी चार प्रकार, स्वधर्मानुसार भक्ति करते प्रवृत्ति मार्ग में चलना, सन्यास को गौण मानना जैसी बातें गीता और नारायणीयोपाख्यानवाले भागवत धर्म में समान रूप से मिलती हैं। गीता की मनु-इक्ष्वाकुवाली परंपरा और नारायणीय की परंपरा दोनों परस्पर मेल खाती हैं।'[1]

भगवद्गीता तो वैष्णवों का प्रधान प्रामाणिक शास्त्र ग्रंथ है, जिसमें भक्ति का सांगोपांग विवरण मिलता है। मानव हृदय में प्रत्यक्ष अथवा व्यक्त के प्रति जो सहज आकर्षण की प्रवृत्ति होती है, उसमें तत्व ज्ञान का मेल करने की वैदिक धर्म की रीति गीता में भक्ति योग के रूप में प्रपंचित हुआ है। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में जो तात्विक निर्णय हुए हैं उन्हीं का अधिक स्पष्ट रूप में गीता में प्रतिपादन हुआ है। शांडिल्य सूत्र जैसे भक्ति-शास्त्रों का तो गीता ही आधार स्रोत है। प्रपत्तिवाद का मूलमंत्र गीता से ही लिया गया है। (इसी श्लोक को विशिष्टाद्वैती लोग चरम-श्लोक कहते हैं।) अनन्य भक्ति और शरणागति का वह मूलमंत्र है। दूसरे शब्दों में भक्तों को भगवान का वचनदान है।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"[2]

पुराणों में विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि का एक ही परब्रह्म पुरुषोत्तम माना गया है और इन सब की भक्ति को वैष्णव भक्ति कहा गया है। उसी तरह राम, कृष्ण आदि अवतार पुरुषों की भक्ति भी वैष्णव संप्रदाय अथवा भागवत धर्म में मान्य हो गयी। हनुमान जैसे भगवद् भक्तों की भक्ति भी मान्य है।

२.२.४ इतिहास और भक्ति :

श्वेताश्वतर उपनिषद और पाणिनि कृत व्याकरण में 'भक्ति' शब्द का व्यवहार पहले पहल मिलता है।[3] पाणिनि के भाष्यकार पतंजलि ने अपने भाष्य

---

1. वही, पृ ३५७-५८
2. गीता, १८-६६
3. श्वे. उप. ६-२३ और पाणिनि, ४-३-९५

में शिवभागवतों का उदाहरण दिया है।[1] इसी से मालूम पड़ता है कि उसके पूर्व विष्णु भागवतों का अस्तित्व प्रसिद्ध था। पाणिनि के 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' वाले (४-३-१८) सूत्र में वासुदेव भक्तों को वासुदेवक कहने का अधिकार दिया गया है। कैयट के मत में यहां वासुदेव को परमात्मा से अभिन्न मानने का धर्म सूचित होता है।[2] मेगस्तनीज के अनुसार उस समय (४०० ई) मथुरा में शौरसेनी लोग हेरोक्लीज (कृष्ण) की पूजा करते थे। पुरातत्व की खोजों के अनुसार ईसा पूर्व दूसरी सदी में वासुदेव भक्त अपने को भागवत कहते थे ईसा पूर्व १४० प्रांत के वेसनगर शिलालेख में, जो एक गरुडस्तंभ पर मिला है, हेलियोडोरस नामक यवन राजदूत से वासुदेव मंदिर के निर्माण तथा गरुडस्तंभ की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है। चित्तौड़ गढ के समीप नगरी के पासवाले घोसुंडी में प्राप्त शिलालेख से राजा सर्वतात (जो शायद कण्व वंशी थे) के द्वारा भगवान संकर्षण एवं वासुदेव के मंदिर केलिए 'पूजाशिला प्राकार' का निर्माण करने की बात प्रकट होती है। नानाघाट के गुहाभिलेख, जो ईसा पूर्व प्रथम शती का हो, अपने मंगल श्लोक में संकर्षण तथा वासुदेव का उल्लेख करता है। लखनौ संग्रहालय में मूसलधारी द्विभुजोंवाले बलराम की प्रतिमा है, जो ईसा पूर्व दूसरी सदी की मानी जाती है। मथुरा के शक क्षत्रपों में से महाक्षत्रप षोडस (८०-५७ ई पू) के समय का एक शिलालेख बताता है कि वसु नामक किसी व्यक्ति ने महास्थान में भगवान वासुदेव का एक चतुःशाला मंदिर, तोरण तथा वेदिका की स्थापना की थी।

उपरोक्त विवरण से मालूम पड़ता है कि पाणिनि के समय से (ई पू ६००-५००) पहले ही देश के पश्चिमोत्तर भागों में वासुदेव भक्ति का प्रचार शुरू हो गया। ठीक उसी समय के तमिल संघकालीन साहित्य से भी यही पता चलता है कि तब तक दक्षिण में भी मेयान (नील मेघ श्याम) तिरुमाल (विष्णु) की भक्ति, उनके कई मंदिरों के निर्माण और उनकी शयन, आसीन, उत्थान आदि विभिन्न शैलियों में बनी मूर्तियों की अर्चा-आराधना आदि का प्रचार हो गया था। उस साहित्य में तिरुमाल की लीलाओं के वर्णनों में से उनके परमात्मा स्वरूप, क्षीरसागर वास, शेषशायिता, राक्षस दलन, बलराम साहचर्य, लक्ष्मी और नप्पिन्नै (नीला अथवा राधा) वरण, आयर (आभीर) लोगों से बाल एवं प्रेमदेव के रूप में पूजित व अर्चित होने, उनके उत्सवों में कुरवै जैसे नृत्यों के आयोजित होने जैसी कितनी ही बातों का उल्लेख पाया जाता है। यह साहित्य ईसा पूर्व पांचवीं

---

1. पतंजलि भाष्य, (पाणिनि ४-२-७६ पर) "किंचातः शिवभाग्वतोपि प्राप्नोति।"

2. कैयट भाष्य, वृत्ति, ४-३-९३

सदी से लेकर ईसवी दूसरी सदी तक के समय में निर्मित तमिल ग्रंथम् और द्वितीय संघं कालीन साहित्य है। बाद में हुए आलवारों की भक्ति पर इस साहित्य का प्रचुर मात्रा में प्रभाव परिलक्षित होता है।[1]

वेदों में वर्णित विष्णु त्रिविक्रम को (ऋ १–१५४–५) ऐतरेय ब्राह्मण (१–१) शतपथ ब्राह्मण (१४-१-१) काल तक नारायण, वासूदेव एवं विष्णु कहकर उन सब एक माना गया। महाभारत के नारायणोपाख्यान में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धि वाले व्यूहवाद के साथ नारायण के अवतार तत्व का भी प्रतिपादन हो गया। जब इनमें आभीरों का बालकृष्ण एवं पाणिनि के कंसांतक वासुदेव का भी मेल हो गया तो विष्णु चरित का संपूर्ण विकास हो गया। 'आभीर' को द्राविड शब्द माना जाता है। डा. सूनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार 'पूजा' शब्द भी द्राविड शब्द है। प्रचीन तमिल साहित्य में विष्णु और कृष्ण दोनों के तत्व एक मानकर वर्णित हैं और उसमें वासुदेव संकर्षण तत्वों का भी उल्लेख मिलता है। यह सारा विकास ईसा पूर्व ही हो चुका होगा, जिसके परिणाम में तब तक कृष्ण, वासुदेव, विष्णु, नारायण सब को एक माना गया और आभीर बालकृष्ण के साथ नप्पिनै राधा का साहचर्य भी रूढ हो गया।

२.२.५ तंत्र और भक्ति :

यों तो तंत्रों का भी मूल वेद को ही बताया जाता है, किंतु उनका पार्थक्य निगम और आगम परंपरावाले विभेद के रूप में बहुत पहले से ही मान्य होता आया।[2] तंत्रों को ही आगम कहते हैं और तांत्रिक सिद्धांत को आगमिक सिद्धांत कहते हैं। तंत्रों में शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध आदि कई भेद हैं, जो स्पष्टतः सांप्रदायिक हैं। पुराणों में ब्राह्मणों के वेद सम्मत स्मार्त धर्मों और इन तांत्रिक अथवा आगमिक धर्मों का बहुत कुछ समन्वय किया गया है।[3] वैदिक और तांत्रिक परंपराओं का मुख्य भेद अमूर्त और समूर्त अर्चा से आरंभ होता है। वैदिक धर्म में षोडश कर्म बताये जाते हैं, लेकिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा और अर्चा की बात नहीं मिलती।[4] वह आगमों में क्रिया और चर्या के अंतर्गत आती है।

---

1 आलवार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण काव्य, पृ १०-३०

2. श्रुतिश्च द्विविधा प्रोक्ता आगमी चैव तांत्रिकी।

3. हिस्टरी आफ इंडियन पीपुल अंड कल्चर्, क्लासिकल एज्, पृ २९७

4. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ ८६

२.२.५१ समूर्त अर्चा विधि :

आगमों के अनुसार अर्चा के दो भेद हैं ।

"अमूर्तेति समूर्तेति द्विविधा सार्चना मता ।
अमूर्तान्याहुतिःप्रोक्ता समूर्ता प्रतिमार्चना ।।"[1]

समूर्तार्चा के भी समाधि-उपाय और मंत्रोपासना रूपी दो भेद हैं । मंत्रोपासना सुगम है, जब कि समाधि-उपाय तो प्राणायाम और योग मार्ग का कठोर उपाय है । इसके अलावा आगमोपासना के गृहार्चा और आलयार्चा रूपी दो भेद बताये गये हैं ।[2] बलि, उत्सव आदि का विशेष विधान गृहार्चा में असंभव या अल्प संभव है, अतः आलयार्चा को श्रेष्ठ माना गया है । इसी विचार से प्रेरित होकर देवपूजकों ने देवालय को विश्व के अधिपति भगवान का निवास स्थान मानकर उसमें ईश्वर की पूजा सांसारिक सम्राटों के ढंग पर प्रारंभ की थी । कहा भी है कि 'एवमेष हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः' ।[3] देवालय ही भगवान है । जो भगवान है उसकी समस्त देवोपचारों और राजोपचारों से पूजा विधेय हैं । मध्यकाल के अभिलेखों से मालूम होता है कि देवालय के विभव को बढ़ाने केलिए बड़े बड़े साम्राज्य तक दान में देते थे । उडीसा श्रीजगन्नाथ को अर्पित हुआ, तो पूरा मेवाड़ भगवान एकलिंग जी को समर्पित था ।[4]

२.२.५.२ वैष्णव तंत्र :

वैष्णव आगमों में पांचरात्र और वैखानस बहुत प्रसिद्ध हैं । इन दोनों में वैखानस को प्राचीन माना जाता है । इसका संबंध कृष्ण-यजुर्वेद की औखेय शाखा से बताया गया है ।[5] पांचरात्र को एकायन शाखा भी कहते हैं । नागेश भट्ट के अनुसार यह शुक्ल-यजुर्वेद की काण्व शाखा की अपर संज्ञा है । लेकिन अत्रि संहिता में वैखानस को वैदिक, पांचरात्र को अवैदिक (तांत्रिक) कहा गया

---

1. अत्रि संहिता, २८-२९
2. वही, ३५. आलयार्चा गृहार्चेति समूर्तार्चा द्विधा मता ।
   बल्युत्सवादिभिर्हीना न्यूना तस्माद् गृहार्चना ।।
3. अग्नि पुराण, ६१-२६
4. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ २१
5. काश्यप संहिता, भूमिका, पृ ८०

है ।[1] इसका काश्मीरागम से संबंध माना जाता है ।[2] शतपथ ब्राह्मण (१३-६-१) में वर्णित पांचरात्र सत्र एवं महाभारत शांतिपर्ववाले नारायणीय में वर्णित पांचरात्र पद्धति का भी उसी से संबंध है । यामुनाचार्य ने अपने 'आगम प्रामाण्य' में इसे वेद सम्मत सिद्ध किया है ।[3]

पांचरात्र के अनुसार प्रधान उपास्य देव वासुदेव है। उसीसे संकर्षण (जीव) प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार) का व्यूह निकलता है। सर्व व्यापक भगवान वासुदेव षड्गुण वरिष्ट है । उनको भग संज्ञा है । अतः वह भगवान है।

"ज्ञान शक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजांश्यशेषतः ।
भगवत शब्द वाच्यानि विना हेयैः गुणादिभिः ।।"

वह सगुण और हेयगुण वर्जित होने से निर्गुण कहा गया है । इस मत के अनुयायी लोग भागवत कहलाते हैं ।

"सूरिःसुहृद् भागवतः सात्वतः पंचकालवित् ।
एकांतिकस्तन्मयश्च पांचरात्रिक इत्यपि ।।"[4]

पांचरात्र के विषय ज्ञान, योग क्रिया और चर्या रूपी चार खंडों में वर्णित है । वैखानस तंत्र भी इसी तरह का है । लेकिन उसमें व्यूह का निर्माण पांच वीरों से बताया जाता है, जो वैदिक पंचाग्नियों से समन्वय रखता है । विष्णु (गार्हस्त्य) सत्य (आहवनीय) पुरुष (दक्षिण) अच्युत (अन्वाहार्य) और अनिरुद्ध (सत्याग्नि) का यहां व्यूह बनता है । वैखानस तंत्र के अनुसार इज्या (पूजा, अर्चा) में अग्निमुख में हवन करने का विधान भी विहित है । वैखानस गृह्यसूत्रों में विष्णु की प्रतिमा की स्थापना, अर्चा आदि का विधान है ।[5] जयाख्य संहिता के अनुसार इनकी उपास्य मूर्ति वैकुंठ नारायण की है। इस देवता की कई मूर्तियां काश्मीर तथा आसपास के प्रदेशों में मिली हैं । इससे पता चलता है कि वहां

---

1. अत्रि संहिता, पृ ४५३
2. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ २८
3. वही, पृ २८
4. पाद्म तंत्र, ४-२-८
5. भागवत संप्रदाय, पृ १३७

कभी इस मत का बहुल प्रचार था। वैकुंठ नारायण के सौम्य, नृसिंह, कपिल और वराह रूपी चार मुख भी हो सकते हैं।[1]

२.२.५.३ सात्वत लोग :

भागवतों को सात्वत भी कहते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण (१३–५–४–२१) के अनुसार ये उत्तर की एक जाति के लोग हैं। विष्णुपुराण (४–१२–४४,४५) में इनको सत्वत् से उत्पन्न एवं वृष्णि वंश से संबद्ध बताया गया है। श्रीकृष्ण का सात्वतों से संबंध प्रसिद्ध है। कृष्ण के समय में ये लोग द्वारका चले गये और बाद में विदर्भ, मैसूर और द्राविड देश में फैल गये। दक्षिण के राजवंशों में कितने ही का संबंध कृष्णचंद्र से है। ये यादव थे। 'भोज' उपनाम धरते थे। महीसुर (मैसूर) राज्य का राजा 'इरुंगोवाइ' अपने को द्वारकाधीश कृष्ण की ४९ वीं पीढ़ी में बता चुका। दक्षिण भारत में पांचरात्र का प्रचार इन्हीं सात्वतों के प्रयत्न से हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि 'एतस्यां दक्षिणस्यां दिसि ये के च सात्वता राजानो भोज्या यैव ते अभिषिच्यते, भोजेति एनान् अभिषिक्तान् आचक्षते'।[2] इस तरह सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व १०–९ सदियों में सात्वत लोग दक्षिण में आ बस गये।[3]

२.२.६ दक्षिण में विष्णु भक्ति :

पहले कहा जा चुका है कि ईसा पूर्व के तमिल संघकालीन साहित्य में तिरुमाल अथवा विष्णु की भक्ति का प्रचार निरूपित होता है। एट्टुत्तोगे, पत्तुपाट्टु, पदिनेन कील कणक्कु जैसे संघकालीन कविता संग्रहों के साक्ष्य पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसवी सदी के आरंभ काल तक दक्षिण में विष्णु की वराह, नृसिंह, वामन आदि अवतार लीलाओं की कथाएं और बालकृष्ण गोपी-कृष्ण तथा राधा-कृष्ण की कथाएं खूब प्रचलित हो गयीं। विष्णु पारम्य एवं व्यूहवाद का प्रचार हो गया। तिरुवनंतपुरम्, मधुरा, कांचीपुरम्, कावेरी पट्टणम् जैसे नगरों में विष्णुदेव के मंदिर बन चुके। चेर राजा इन मंदिरो का बड़े आदर से पोषण करते थे। इसी तरह संघोत्तरकालीन साहित्य (ईसवी २–५ सदियां) के शिलप्पाधिकारम्, मणिमेखलै, जैसे काव्यों में तिरुवेंगडम् (तिरुमल–

---

1. पांचरात्र रक्षा, पृ १४
2. ऐतरेय ब्राह्मण, ८–३–१४
3. भागवत संप्रदाय, पृ १०५

तिरुपति), कावेरी पोन पट्टणम, मथुरा जैसे नगरों में बने विष्णुमंदिरों का वर्णन मिलता है। संकर्षण-वासुदेव तत्व व रामावतार कथा से भी लोग खूब परिचित थे।[1]

२.२.७ आंध्र में विष्णु भक्ति :

आंध्रप्रांत में शातवाहन राजाओं के समय से संकर्षण, वासुदेव तत्व का परिचय था। हाल कृत गाथाशप्तशती में कृष्ण और गोपिकाओं के साथ राधा का भी उल्लेख मिलता है। कांची के पल्लव राजाओं का प्रतिनिधि धान्यकटक में रहता था। इनके एक प्राकृत लेख से पता चलता है कि महाराज स्कंधवर्मा के समय, युवराज बुद्धवर्मा की स्त्री चारुदेवी ने दालूर नामक गांव के 'कूलि-महातरक' निर्मित भगवान नारायण के देवकुल (मंदिर) को देवभोग में भूमिदान दिया। यह ईसवी चौथी सदी का दान-लेख माना जाता है। ५-६ वीं सदियों में पल्लवों का राज्य विस्तृत हो गया। आंध्र के नेल्लूर प्रांत में इनके कई संस्कृत लेख मिले। उनमें से एक के अनुसार स्कंधवर्मा के प्रपौत्र विष्णुगोपवर्मा सिंहवर्मा ने उरुवपल्लि ग्राम में २०० निवर्तनों (दीपों) की जमीन कंदूर के विष्णु मंदिर को दान में दी। कृष्णा नदी के दक्षिण तीर में ई ४-५ वीं सदियों में भागवत मत फैल गया। राजा लोग अपने को परमभागवत कहा करते थे। कृष्णा-गोदावरी के मध्य देश में विजयवेंगी राजधानी में ईसवी ४-५ सदियों में शालं-कायन गोत्री राजाओं का राज चला। ये लोग चित्ररथस्वामी (सूर्यनारायण भगवान) के भक्त थे। किंतु ये लोग अपने को परमभागवत कहते थे। इस वंश के चौथे पुरुष नंदिवर्मा ने कई विष्णु मंदिरों को भूदान दिये। गोदावरी के उत्तर में कलिंग प्रांत में ईसवी ५ वीं सदी में गांग वंशी राजाओं का शासन चला। ये लोग परम माहेश्वर थे। फिर भी, उनमें से एक हस्तिवर्मा ने रोहिनक ग्राम में भगवान सप्तार्णवशायी, सप्तसामोपगीत, सप्तलोकैकनाथ नारायण को बलि, चरु, सत्र, प्रवर्तन के निमित्त छः हलों की जमीन दान में दी। नौ साल बाद इंद्रवर्मा नामक राजा ने (छठी सदी) भगवान रामेश्वर भट्टारक को बलि, चरु, सत्र, प्रवर्तनों के निमित्त तथा आलय के खंडस्फुटित (मरम्मत) संस्कार के हेतु 'क्रोष्टकवर्तनी' विषय (प्रदेश) के हरिभट गांव में दो हलों की जमीन दान में दी। पल्लव राजाओं में कई विष्णुवर्मा, विष्णुगोप, कुमारविष्णु नाम के राजा हुए। दान प्रतिग्रहीता ब्राह्मणों के भी विष्णुशर्मा, माधवशर्मा जैसे नाम मिलते हैं।[2]

---

1. आलवार भक्तों का तमिल् प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण काव्य पृ २०-३०.
2. आंध्र विज्ञान सर्वस्वमु, भाग ३, पृ ५६०-६२

पूर्वचालुक्य वंशी राजाओं के काल में आंध्रप्रांत में वैष्णवधर्म को और अधिक प्रश्रय मिला। स्थापक राजा था विष्णुवर्धन। इसको 'कारणविष्णु', 'ऐदंयुगीनविष्णु' जैसे उपनामों से बुलाया गया। इस वंश के शासन काल में ही दक्षिण के तमिलप्रांत में आलवार लोग हुए। तिरुमंगै आलवार पल्लवराजा नरसिंहवर्मा प्रथम (६२५–४५ ई) और शैव नायनमार तिरुज्ञान संबंदार का समकालीन बताया जाता है। मामल्लपुरम् (महाबलिपुरम्), कांचीनगर आदि स्थलों में पल्लव राजाओं के समय में निर्मित कई विष्णु मंदिर मिलते हैं। इनमें वराह, नृसिंह, वामन (त्रिविक्रम) जैसी अवतारमूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई है। आलवार के दिव्य प्रबंधम् (नालायिरम्) में दक्षिण देश के १०८ वैष्णव क्षेत्र (दिव्य तिरुपतियां) वर्णित हैं।

२.२.८ आलवार भक्ति :

तमिल देश के विख्यात वैष्णव भक्तों को आलवार कहते हैं। आलवार शब्द का अर्थ हैं, भक्ति-रस-सागर में गोते खानेवाले। आलवार पहुंचे हुए भक्त थे। भक्ति-रस के आनंद में उन्होंने जो गीत गाये, उन्हीं का बाद में संग्रह किया गया। आज वही गीत संग्रह द्राविड प्रबंधम्, नालायिर प्रबंधम्, तमिल वेद आदि नामों से विश्रुत है। यह तमिल के प्राचीन साहित्य भंडार के अनमोल रत्नों में से एक माना जाता है। इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि आज यह वेद और उपनिषदों की तरह आदरपात्र बना है। वैष्णवधर्म, खासकर, विशिष्टा-द्वैत वैष्णव संप्रदाय का तो यही सर्वाधिक प्रमाण ग्रंथ माना जाता है।

आलवार लोग संख्या में १२ थे। ये विभिन्न जाति के थे। उनमें पुरुष और स्त्री, राजा और रंक, ब्राह्मण और चंडाल, जार और चोर सब हुए थे, किंतु ये सब के सब पहुंचे हुए भक्त थे। इनके वचनों के कई उद्धरण देकर विशिष्टा-द्वैती आचार्यों ने अपने मत की पुष्टि की है। आलवारों के समय के बारे में मतैक्य नहीं हो पाया, किंतु बहुमत के अनुसार ये लोग ईसवी ७–९ सदियों के बीच हुए थे। इन प्रातःस्मरणीय भक्तों के नाम एक श्लोक में स्तुति रूप में दिये गये हैं।

> "भूतं सरस्य महदाह्वय भट्टनाथ
> श्री भक्तिसार कुलशेखर योगिवाहान्।
> भक्तांघ्रिरेणु परकाल यतींद्रमिश्रान्
> श्रीमत्परांकुशमुनिम् प्रणतोस्मि नित्यम् ॥"[1]

---

1. आलवारुल मंगलाशासन पासुरमुलु- पृ ५

इनके तमिल नाम क्रमशः यों बताये जाते हैं–पोयगै, पेय्, पूदत्त, तिरुमलिशै, तिरुप्पाणि, तोंडरडिपोडि, कुलशेखर, पेरिय, आंडाल, नम्मालवार, मधुरकवि और तिरुमंगै आलवार। आलवार लोगों का धर्म भागवत धर्म था। विष्णु उनके परम आराध्य देव है। वे भक्ति में वर्ण-भेद जैसी बातों को नहीं मानते। कहा भी है कि

"सर्वे समानाश्चत्वारो गोत्र प्रवर वर्जिताः।
उत्कर्षो नापकर्षश्च जातितस्तेषु सम्मतः।
फलेषु निस्पृहाः सर्वे द्वादशाक्षर चिंतकाः।
मोक्षैक निश्चयाश्चैव सूतकाशौच वर्जिताः।।"[1]

माने, आलवारों की दृष्टि में सभी वर्ण समान हैं। वे जाति, वर्ण, कुल, गोत्र, प्रवर आदि को नहीं मानते। उच्च-नीच भेद नहीं गिनते। वे निष्काम रहते हैं, फल की आशा किये बिना कर्म में प्रवृत्त होते हैं। 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' कहकर वे सदा सर्वदा उस द्वादशाक्षरी का जप करते रहते हैं। उनकी एकैक इच्छा मोक्ष-प्राप्ति है। वे सूतक, आशौच जैसी बातों को नहीं मानते। आलवारों के वचनों में इन बातों का पुनःपुनः उपदेश मिलता है।

———

1. भागवत संप्रदाय, पृ १०५

२.३. भक्ति की दार्शनिक पृष्ठभूमि

२.३.० प्रस्तावना :

भक्ति हृदय का धर्म है । इसकी मूल प्रेरणा मोक्ष की कामना है । मोक्ष-प्राप्ति केलिए कर्म, ज्ञान और उपासना रूपी तीनों प्रशस्त मार्गों का वैदिक काल में ही प्रचलन हो चुका था, किंतु उत्तर वैदिक काल में बौद्ध व जैन दर्शनों के कारण उन परंपरागत मार्गों के प्रति अविश्वास फैलने लगा । लोकायत दर्शनों का प्रभाव इतना बढ़ गया कि सांख्य, मीमांसा जैसे वैदिक दर्शन भी दिनों दिन अधिकाधिक सांप्रदायिक, रूढिवादी एवं ईश्वर निरपेक्ष होने लगे । इसी स्थिति को फिर से यथापूर्व संभालने के उद्देश्य से कुमारिल भट्ट ने पहले पहल इन नास्तिक दर्शनों के विरुद्ध आवाज उठाई । बाद में शंकराचार्य ने इस ओर और भी सुदृढ प्रयत्न करके बौद्ध और जैन जैसे अवैदिक दर्शनों का ही नहीं, बल्कि निरीश्वरवादी वैदिक दर्शनों का भी सफलता पूर्वक विरोध किया । इसी समय दक्षिण में आलवार और नायनमार लोगों का स्वाभाविक रागोदित भक्ति मार्ग जोरों पर चल रहा था, लेकिन शंकर ने इनको अशास्त्रीय बता दिया तो बाद के कितने ही आचार्यों ने उनको शास्त्रसम्मत एवं वेदमूलक सिद्ध करने का महान प्रयत्न किया । कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने तो कर्म और ज्ञान के क्षेत्रों में नास्तिक दर्शनों को परास्त किया तो आलवार व नायनमार भक्तों ने भक्ति के क्षेत्र में से उनको भगा दिया । आस्तिकता एवं शास्त्रीयता में विश्वास रखकर पलने से भक्तों व आचार्यों दोनों को तत्कालीन तंत्र-मंत्र, योग साधना तथा वर्णाश्रम-विरुद्ध आचरण सह्य नहीं था । लेकिन भक्ति भी, जो हार्दिक विश्वास एवं अनन्य अनुराग से प्रेरित होती है, अपने साधना-पक्ष में तर्क-वितर्क, आचार-विचार, अधिकार-अनधिकार जैसी बातों को जगह नहीं देती । अतएव भक्ति साधना में वैयक्तिक रुचि का प्राबल्य होकर कभी कभी उसके शास्त्रदूर होने का डर सहज होता है । इसीलिए आचार्यों ने भक्ति को भी शास्त्रीय आधार पर

चलाने का प्रयत्न करके उसको सर्वमान्य बनाने केलिए विभिन्न तरह के दार्शनिक सिद्धांत प्रकल्पित किये। ऐसों में अद्वैत दर्शन पहला ही नहीं, बल्कि बाद के सभी भक्ति दर्शनों का प्रेरक बना। अतः भक्ति साहित्य की पृष्ठभूमि को जानने केलिए इन सभी दार्शनिक वादों तथा उनमें प्रकल्पित अथवा निर्दिष्ट साधना-मार्गों का अध्ययन अनिवार्य है।

२.३.१ दक्षिण में भक्ति और दार्शनिक संप्रदाय :

इस संदर्भ में यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत के सभी प्रमुख दार्शनिक संप्रदायों का उदय दक्षिण में हुआ। इसका कारण यही था कि गुप्त युग के अंत होते ही हिंदू धर्म और वैदिक संस्कृति का केंद्र उत्तर से दक्षिण में बदल गया। आलवार और नायनसार लोगों का भक्ति आंदोलन का क्षेत्र दक्षिण ही रहा। तब दक्षिण में कितने ही नये मठों व मंदिरों का निर्माण हुआ। कितने ही नास्तिक धर्मों को तब यहां से निर्वासित होना पड़ा। कई बौद्ध विहारों व जैन बसदियों को तब शैव अथवा वैष्णव मंदिरों का रूप मिल चुका। जन मानस में प्रतिष्ठित कितनी ही लोकवार्ताओं व कथाओं को सुरुचि, विश्वास एवं धार्मिक समन्वय की दृष्टि से संग्रहीत करके भागवत जैसे पुराणों का निर्माण किया गया। धार्मिकता को मानों एक नई स्फूर्ति-सी मिली। ऐसे समय में शंकर भगवत्पाद जैसे महान आचार्य का अवतार हुआ, जिनके अद्वैत सिद्धांत का प्रचार व प्रभाव सारे देश में अनतिकाल में ही फैल गया। शंकर के बाद रामानुज, मध्व, निंबार्क, विष्णुस्वामी, रामानंद और वल्लभ तक के सभी दार्शनिक दक्षिण में ही प्रकट हुए और क्या दक्षिण, क्या उत्तर सारे भारत को अपने सिद्धांतों का प्रचार केंद्र व प्रसार क्षेत्र कर गये। आलोच्य काल, अर्थात् ईसवी १५–१६ सदियों के समय में देश में फैले हुए कितने ही भक्ति संप्रदायों पर इन विभिन्न आचार्यों के दार्शनिक सिद्धांतों तथा साधना पद्धतियों का या तो प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास भी यद्यपि वे क्रमशः रामानुज और वल्लभ के दार्शनिक सिद्धांतों व साधना प्रणालियों से प्रत्यक्ष संबंध रखते थे, तथापि परोक्ष रूप से अद्वैत जैसे अन्य संप्रदायों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये। यह तो हम उसके उपयुक्त स्थान में फिर बतायेंगे। अब यहां संक्षेप में उन विभिन्न दार्शनिक वादों का परिचय देकर उनके सिद्धांत एवं आचरण पक्षों का आवश्यक विवरण मात्र दिया जाता है।

२.३.१.१ शंकराचार्य :

आचार्य शंकर (७८८–८२० ई) का जन्म केरल प्रांत के कालडी नामक गांव में हुआ। ये नंबूद्रि ब्राह्मण थे। शिवगुरु और आर्यांबा के पुत्र थे। शंकर

के बाल्य में ही शिवगुरु का देहांत हो गया। आठ वर्ष की अवस्था में ही मां की अनुमति लेकर शंकर ने सन्यास का ग्रहण किया। बाद में वे नर्मदा तीर में जाकर गोविंदपादाचार्य जी के शिष्य बन गये। ये गोविंदपादाचार्य जी मांडूक्य कारिका कर्ता श्री गौडपादाचार्य जी के शिष्य थे। गुरु ने शंकर की प्रखर प्रतिभा से प्रसन्न होकर उनको परमहंस की उपाधि दी और प्रचार कार्य में भेज दिया। शंकर ने सारे देश में भ्रमण करके उस समय के सभी आस्तिक व नास्तिक सिद्धांतवादी पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया और अपने अद्वैत वेदांत सिद्धांत को सर्वमान्य बनाया। इसी यात्रा काल में उन्होंने देश के चारों कोनों में, शृंगेरी, द्वारका, बदरीनाथ और पूरी में, चार मठों की स्थापना की। 'आचार्य ने सबसे पहले जाति-पांति की संकीर्ण परिधि को हटाने का प्रयास किया और स्त्रियों को छोड़ सब जाति के लोगों को सन्यास का अधिकार दिया'।[1] सन्यासी होकर भी वे अपनी माता के श्राद्ध कर्म से विरत नहीं हुए। इन कामों से उनको कट्टर ब्राह्मणों के विरोध का सामना करना पड़ा अवश्य, किंतु उनकी प्रखर प्रतिभा, पांडित्य, वादपटुता एवं निर्माणकार्य दक्षता के कारण देश के सभी प्रांतों में और सभी मत मतांतरों पर उनका प्रभाव अतीव शीघ्रता से फैल गया और बाद के कितने ही आचार्यों ने या तो शंकर के सिद्धांतों में यत्र तत्र सुधार किया या उनसे विरोध प्रकट किया। आज भी वैदिक धर्म के अनुयायियों में अधिक संख्या के लोग अद्वैत वेदांत को मानते हैं। शंकर का अद्वैत सिद्धांत भागवत, शाक्त एवं काश्मीर के शैवसिद्धांतों को भी प्रभावित कर गया, यद्यपि ये सब सगुण ब्रह्म को मानते हैं।[2] शंकर की रचनाओं में प्रस्थान त्रय पर भाष्य प्रमुख हैं। इनके अलावा 'उपदेश साहस्री', 'विवेक चूडामणि' और 'शतश्लोकी' जैसी अन्य छोटी मोटी रचनाओं से भी इनकी दार्शनिक प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण मिलता है। वे उच्चकोटि के कवि भी थे। दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, हरिमीडे स्तोत्र, आनंद लहरी और सौंदर्य लहरी आदि रचनाओं में उनके कविहृदय एवं भक्तहृदय के सरस उद्गार देखते ही बनते हैं।[3]

संक्षेप में शंकर का सिद्धांत यही है कि 'ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः'। शंकर प्रत्यक्ष आदि प्रमाण षट्क को मानते हैं, किंतु प्रत्यक्ष विरोध होने पर वेद को भी प्रमाण नहीं मानते।[4] शंकर के अनुसार व्यवहार

---

1. सूर और उनका साहित्य, पृ ८६
2. भवन्स जर्नल, ता २२-५-५६ में श्री डी. एस. शर्मा का लेख, पृ ४६
3. भारतीय दर्शन, श्री वाचस्पति गैरेला, पृ ३९९
4. आउट लाइन्स आफ हिंदूइज्म, पृ १४५

ज्ञान तो ज्ञान नहीं है। त्रिकालाबाध ज्ञान को ही वे ज्ञान मानते हैं। अतः व्यवहार मिथ्या, अविद्या मूलक एवं भ्रम है। वह माया है, जो अध्यास से सत्याभास सी लगती है। यथार्थ ज्ञान तो आत्मज्ञान ही है। आत्मा ही ब्रह्म है। वह सच्चिदानंद होकर भी निर्गुण, निर्विकार और निराकार है। वही एकमात्र सत्य है, उसके सिवा अन्य कोई तत्व यहां नहीं है, अतः वह अद्वैत है। माया से आच्छिन्न ब्रह्म ही ईश्वर बनता है। यह परिणाम नहीं, उसका विवर्त (विशेष वर्तन) है। माया अचिंत्य है। उसके सत और असत दोनों रूप हैं। वह अनिर्वचनीय है। वह अनादि है, किंतु ज्ञान प्राप्ति पर उसका नाश होता है।[1] जीव ब्रह्म ही है। लेकिन वह अविद्या में फंसा है। ब्रह्म संबंध में जो माया है, वही जीव संबंध में अविद्या कहलाती है। माया के आवरण और विक्षेप शक्तियां होती हैं। आवरण शक्ति से वह सत् ब्रह्म का आच्छादन करती है, तो विक्षेप शक्ति से असत् जगत का सर्जन करती है।[2] जीव अविद्या मोह से उसीको सच मानता है और अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है। यही उसका बंधन है। ज्ञान की प्राप्ति होते ही उसकी अविद्या नष्ट होती है, माया का जाल दूर होता है और वह अपने नैज स्वरूप जानकर ब्रह्म ही बन जाता है। अतः शंकर के अनुसार ज्ञान ही साध्य है। यहां जानना माने होना ही है। ब्रह्म-ज्ञान का तात्पर्य ब्रह्मभाव से है। यही ब्रह्मभाव मोक्ष है। इसका अनुभव इसी लोक में हो सकता है। उस स्थिति में आदमी जीवन्मुक्त कहलाता है।[3]

२.३.१.१.१ अद्वैत भक्ति :

'ज्ञानान्मुक्तिः' कहने पर भी शंकर भक्ति और कर्म को साधना काल में उसके लिये आवश्यक मानते हैं। वे जगत को व्यावहारिक सत्य मानकर, जब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं तब तक लोक संग्रह को अनिवार्य बताते हैं।[4] उनके मत में ज्ञानविरोधी विषयों पर जीत पाने तथा ज्ञानसंचय करने में कर्मों की सहायता वरणीय है।[5] इसी तरह चूंकि अधिकार भेद से आत्मसाक्षात्कार या आत्मज्ञान सबको सुलभ नहीं है, इसीलिए साधनाकाल में उपासना या भक्ति की भी नितांत आवश्यकता होती है। पराभक्ति ब्रह्मज्ञान में फलती है।[6]

---

1. इन्ट्रोडक्शन टु वेदांत, डा. पी. नागराजा राव, पृ ८८
2. वाक्य सुधा, १४
3. आउट लाइन्स आफ हिंदूइज्म, डा. टी. एम. पी. महदेवन, पृ १४६
4. शारीरक भाष्य, ४–१–३
5. बृ. उप. ४–५–१५
6. गी. भाष्य, १८–५५

२.३.१.१.२ प्रभाव और परिणाम :

शंकर का ब्रह्म सामान्य व्यक्ति की पहुंच से परे है। संसार को मिथ्या कहकर उन्होंने उसकी निस्सारता का प्रतिपादन किया, उससे साधारण मानव को संसार के प्रति वैमुख्य सा हो गया। सन्यास को आवश्यक बताकर शंकर ने समाज धर्म की ओर उपेक्षा की। सगुण ब्रह्म को भी माया से युक्त बताकर उन्होंने भक्ति को निरर्थक साबित किया। इन्हीं कारणों से बाद के दार्शनिक अद्वैत के विरोध में जुट गये। ये लोग अब शंकर के मायावाद का खंडन करके उसके प्रभाव से जनमानस को मुक्त करने की दीक्षा में देशाटन पर निकले, जगह जगह पंडितों से शास्त्रार्थ किया, वैदिक धर्म के महत्व की स्थापना की, अवैदिक मतों का बहिष्कार किया और शंकर के ज्ञानवादी सिद्धांत के स्थान में शरणागति तत्ववाले भक्ति सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने का अथक प्रयत्न किया। ऐसे आचार्यों में नाथमुनि जी का नाम पहले आता है।

२.३.१.२ वैष्णवाचार्य :

शंकर विरोधी वैष्णवाचार्यों में श्री नाथमुनि जी ने पहले पहल दक्षिण के आलवार भक्तों के भक्तिगीतों का संग्रह करके, उनको श्रीरंगनाथ जी के मंदिर में वेदमंत्रों के समान विनियोग में लाने का प्रयत्न किया और उत्तर की भी यात्रा करके भक्ति एवं आलवार भावधारा का प्रचार किया। इस तरह श्रीसंप्रदाय के प्रथम प्रवर्तक होने का श्रेय नाथमुनि को मिलता है। संस्कृत में इन्होंने न्यायतत्व, पुरुष निर्णय, योग रहस्य आदि ग्रंथ रचकर विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का पहला रूप निश्चित किया। इनके पौत्र यामुनाचार्य जी ने इस कार्य को और आगे बढ़ाया। उन्होंने स्तोत्ररत्न, चतुःश्लोकी, सिद्धित्रय, आगम प्रामाण्य जैसे कई ग्रंथ रचे और शंकर ने पांचरात्र के व्यूहवाद का जो खंडन किया, उसका फिर से मंडन किया। रामानुजाचार्य इन्हीं के भांजे थे। कहते हैं कि रामानुज ने इन्हीं के मनोभीष्ट की पूर्ति में ब्रह्मसूत्रों का विशिष्टाद्वैतवादी भाष्य लिखा।

२.३.१.२.१ रामानुजाचार्य :

रामानुजाचार्य (१०१७–११३७ ई) मद्रास के समीप में श्रीपेरुंबुदूर नामक जगह पैदा हुए। इनको शेषांश माना जाता है। ये पहले कांचीनगर में यादव-प्रकाश के यहां शिष्य रहे। लेकिन गुरु से मतभेद होने पर वे श्रीरंगम् चले गये और वहां श्रीवैष्णव धर्म में दीक्षित होकर विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का अध्ययन किया। बाद में श्रीसंप्रदाय की स्थापना करके उसके प्रचार में भारत के सभी

प्रसिद्ध स्थानों की यात्रा की और जगह जगह श्रीवैष्णव मठों की स्थापना की। यामुनाचार्य जी के बाद श्रीरंगम की गद्दी इन्हीं को प्राप्त हुई। १०९६ ई में राजा कुलोत्तुंग चोल के विरोध से इनको मैसूर प्रांत के मेलकोटा में जाकर अज्ञात रहना पड़ा। वहां तब होयसाल वंशी राजा बिट्टिदेव राज करता था। रामानुज ने उसको वैष्णव दीक्षा देकर विष्णुवर्धन नाम रखा। रामानुज के 'वेदांत सार', 'वेदांत संग्रह', 'वेदांत दीप' आदि विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के प्रतिपादक ग्रंथ हैं। ब्रह्मसूत्रों पर 'श्रीभाष्य' और भगवद्गीता का विशिष्टाद्वैतवादी भाष्य लिखकर रामानुज ने अपने मत का संपूर्ण शास्त्राधार पुष्ट किया। रामानुज ने अपने सिद्धांत के निरूपण में वेद शास्त्रों से ही नहीं, बल्कि तमिल प्रबंधम् और विष्णु-पुराण जैसे पुराणों से भी सहायता ली।[1]

२.३.१.२.२ विशिष्टाद्वैत सिद्धांत :

रामानुज के अनुसार ब्रह्म ही सब का कर्ता, भोक्ता और नियंता है। वह अंतर्यामी रहकर चित जीव और अचित जगत दोनों का नियंत्रण करता है। वह इन दोनों में व्याप्त और इनसे परे भी है। यही उसकी विशिष्टता है। उसका यह संबंध अपृथक सिद्ध संबंध है।[2] सृष्टि के सूक्ष्म और स्थूल रूप होते हैं। जगत का सूक्ष्म मूल रूप ही प्रकृति है। वह अंतर्यामी ब्रह्म की इच्छा से ब्रह्मांड का स्थूल रूप धरता है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों का मूल होकर ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण बनता है।[3] जीव अणु और अस्वतंत्र है, किंतु ज्ञानानंद रूप है। अपने को भगवान से भिन्न और प्रकृति से संबद्ध मानने का जो अज्ञान है वही उसका बंध कारण है। संसार का मूल कारण कर्म है, लेकिन भगवान उस कर्म पर भी अधिकार रखता है। उसकी कृपा से कर्म बंध छूटते हैं। जीव अनेक हैं और उनके बद्ध, मुक्त और नित्य भेद होते हैं। मोक्षार्थी भक्त बनता है। भक्ति तीनों अग्र-वर्णों के लिए ठीक है, लेकिन शरणागति अथवा प्रपत्ति सब के लिए उचित है। ज्ञान और कर्म भक्ति के अंगभूत उपाय हैं। यम नियम आदि के अष्टांगयोग से भक्ति स्थिर होती है, लेकिन प्रपत्ति भक्ति से बढ़कर है।

---

1. इंट्रोडक्शन टु वेदांत, पृ १३१
2. वही, पृ १३१
3. शैविज्म, वैष्णविज्म आदि, आर. जी. भंडारकर, पृ ७३

२.३.१.२.३ वेदांत देशिक :

१४ वीं सदी में रामानुज संप्रदाय के दो दल हो गये। उत्तर के वैष्णव वेदांत देशिक के नेतृत्व में अपने को 'वडहलै' वैष्णव कहकर संस्कृत के और वैदिक आचार के विशेष पक्षपाती हो गये। दक्षिण के वैष्णव मणवाल महामुनि के नेतृत्व में अपने को 'तेंगलै' वैष्णव कहकर तमिल प्रबंधम् के विशेष अनुरागी हो गये। वडहलै लोग भक्ति के साथ ज्ञान का अनुष्ठान भी मुक्ति केलिए आवश्यक अंग मानते हैं। तेंगलै लोग प्रपत्ति को ही मुक्ति का एक मात्र उपाय मानते हैं। वे जाति-पांति के विषय में भी ज्यादा उदार हैं। वडहलै लोग भी भक्ति में जाति-पांति को नहीं मानते। ये भक्ति के साथ ज्ञान के उपार्जन में तथा तमिल प्रबंधम् के साथ वेद में भी अपना विश्वास प्रकट करते हैं। वेदांत देशिक ने तमिल प्रबंधम् के कुछ गीतों का संस्कृत में विवरण सहित अनुवाद किया है और उनकी भावधारा की महत्ता भी मानी है। देशिक जी के सैकड़ों ग्रंथ मिलते हैं। अद्वैतवाद के खंडन में वे अपना सानी नहीं रखते। कहते हैं कि वे तिरुमल-तिरुपति के मंदिर की घंटा के अंश में प्रकट हुए थे। इनके जन्म के पहले इनकी माता को उक्त घंटा का स्वप्न-साक्षात्कार हुआ और इनके जन्म समय में वह घंटा मंदिर से अदृश्य हो गयी। आज भी तिरुमल-तिरुपति मंदिर के गर्भालय में घंटा नहीं रखते और वहाँ घंटावादन भी मना है। आलोच्य कवि अन्नमाचार्य वेदांत देशिक के संप्रदाय के अहोबल मठ में दीक्षित हुए और उन्हीं की विचारधारा के प्रबल पक्षपाती थे।

२.३.१.३ मध्वाचार्य :

रामानुजाचार्य के बाद भक्ति सिद्धांत को और अधिक प्रश्रय देने का यश द्वैतवादी श्रीमध्वाचार्य को मिलता है। मध्वाचार्य (११३७–१२७६ ई) कर्णाटक प्रदेश के उडिपि नामक जगह प्रकट हुए। इनका पहला नाम वासुदेव था। सन्यास लेने के बाद इनका नाम 'आनंद तीर्थ' विश्रुत हुआ। ये सारे भारत की यात्रा कर आये। प्रस्थानत्रयी पर भाष्य के साथ इनके ३७ ग्रंथ मिलते हैं। अपने मत की पुष्टि में इन्होंने महा भारत, भागवत जैसे इतिहास पुराणों से भी उपयुक्त आधार स्वीकार किया। इनके मत को द्वैतवाद अथवा भेदवाद कहते हैं। ये ईश्वर, जीव और जगत तीनों में परस्पर भेद मानते हैं। इनके अनुसार परमात्मा विष्णु (हरि) है। वह अनंत गुण संपूर्ण है, सर्वतंत्र स्वतंत्र है और ज्ञान, आनंद आदि कल्याण गुणों से युक्त है। उसके मूल और अवतार रूपों में कोई भेद नहीं होता। परमात्मा से भिन्न होकर भी केवल उसी के अधिकार में रहनेवाली शक्ति लक्ष्मी है। वह हरि की माया रूपिणी शक्ति है, जो उनके इंगित के अनुसार कार्य संपादन करती है। सृष्टिकार्य उसीके जरिए संपन्न होता है।

माध्वमत में जगत सत्य है और जीव भगवान के किंकर हैं। वे संख्या में अनंत हैं और उनके मुक्ति-योग्य, नित्य संसारी और तमोयोग्य भेद होते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। वही सृष्टि का उपादान कारण है, जब कि परमात्मा उसका निमित्त कारण है। जीव को अपना निजस्वरूप मालूम नहीं है। वह भगवान की कृपा से ही प्रकट होता है। निजस्वरूप को जानने पर जो आनंदानुभूति होती है वही मुक्ति है। वह भक्ति और भगवत् कृपा से ही प्राप्य है। उपासना और ध्यान में तारतम्यभाव भी अनिवार्य है। सबसे प्रधान हरि है, बाद में लक्ष्मी और फिर वायुदेव क्रमशः उपास्य होते हैं। वायुदेव का यह माध्यस्थ मध्व मत में अवश्य अनुसरणीय तत्व है।[1] मध्वाचार्य ने भी मठों की स्थापना करके सन्यासियों का संगठन किया है। आज उनके मत के ११ मठों से आठ दक्षिण में हैं और तीन उत्तर में।

२.३.१.३.१ श्री नरहरितीर्थ और आंध्र प्रांत में भक्ति प्रचार :

आचार्य आनंदतीर्थ के शिष्यों में एक नरहरितीर्थं हुए। वे उडीसा के गजपतियों के यहां बड़ा गौरव पाकर पुरी, श्रीजगन्नाथ में कई दिन रहे। आंध्र प्रांत के श्रीकूर्मम क्षेत्र से भी इनका बड़ा संबंध रहा। श्रीकूर्मम के मंदिर के पुरालेखों के अनुसार नरहरितीर्थ जी सीताराम परिवार की मूर्तियों को प्राप्त करने केलिए उडीसा गये और उस काम में कृतकृत्य हुए।[2] आंध्र प्रांत में भक्ति का प्रचार करनेवाले आचार्यों में इन्हींका नाम पहले आता है। इनके बाद जो श्रीपादराय और व्यासराय आचार्य गद्दी पर आये, उनका भी तिरुमल-तिरुपति क्षेत्र एवं श्रीवेंकटेश्वर मंदिर से बड़ा संबंध रहा। श्रीपादराय जी के कन्नड में लिखे कुछ भक्तिभाव भरे गीत भी मिलते हैं, जिनका प्रभाव व्यासराय के शिष्य पुरंदरदास जैसे कन्नड के भक्तकवियों पर ही नहीं, बल्कि हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य पर भी थोड़ा बहुत विद्यमान होता है। तभी इनकी रचना में राम कथा संबंधी ही नहीं, बल्कि केवल हनुमान की स्तुति में रचे गीत भी कई पाये जाते हैं। कट्टर विशिष्टाद्वैती लोग हनुमान की स्तुति में विशेष रुचि नहीं रखते।

२.३.१.४ निंबार्काचार्य :

दक्षिण से उत्तर में जाकर भक्ति का प्रचार करनेवाले आचार्यों में निंबार्काचार्य का नाम पहले आता है। इनका समय तो निश्चित नहीं है, किंतु

---

1. इंट्रोडक्शन टु वेदांत, पृ १४७
2. आंध्र विज्ञान सर्वस्वमु, भाग ३, पृ २७२–३

भंडारकर जी के अनुसार इनका निधन सन् ११७२ में हुआ था।[1] ये आंध्र प्रांत के बल्लारी जिले के निंबपुर गांव में पैदा हुए। इनको सुदर्शन चक्र का अवतार बताते हैं। इन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र बृंदावन में चुना। इनके संप्रदाय को द्वैताद्वैत संप्रदाय कहते हैं। इनके 'वेदांत पारिजातसौरभ' और 'दशश्लोकी' नामक दो ग्रंथ मिलते हैं।

निंबार्क के अनुसार परमात्मा कृष्ण है। वह सगुण और निर्गुण दोनों है। उसमें ऐसी शक्ति है कि वह अपने को अविकृत एवं अविभक्त रखते हुए भी नाना रूपात्मक पदार्थों में उत्पन्न करके आनंद का उपभोग कर सकता है। जीव और ईश्वर का संबंध शक्ति और शक्तिमान तथा अंश और अंशी का है। जीव और जगत का व्यापार ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। अवस्थाभेद से जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, जैसे मिट्टी और घड़ा।[2] जीव प्रपत्ति द्वारा ईश्वर की कृपा का अधिकारी बनता है और तभी उसमें भक्ति भाव का उदय होता है। भक्ति किसी भी भाव से की जा सकती है, किंतु ऐश्वर्य भक्ति से माधुर्य भक्ति उत्तम है।

निंबार्क संप्रदाय की और एक विशेषता यह है कि इसके भक्ति मार्ग में राधा की उपासना भी मान्य है। इस मत के अनुसार राधा श्रीकृष्ण के वामांक में शोभित है। वह उनके प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति है। वह कृष्ण की अनुरूप सौभगा, स्वकीया, विवाहिता और हजारों आह्लादिनी गोपीस्वरूपा शक्तियों से सदा परिवृता रहती है।[3] इस तरह निंबार्क ने प्रेमलक्षणा रागात्मिका भक्ति को प्रश्रय दिया।

२.३.१.५ विष्णुस्वामी :

दक्षिण के अन्य आचार्यों में विष्णुस्वामी का नाम भी उल्लेखनीय है। विष्णुस्वामी संप्रदाय को रुद्र संप्रदाय और शुद्धाद्वैत संप्रदाय कहते हैं। विष्णुस्वामी कब और कहां हुए स्पष्ट नहीं है। इस नाम के चार आचार्य सुनने में आते हैं। किंतु भंडारकर जी तो इनको तेरहवीं सदी का मानकर विभिन्न आधारों से संग्रह करके इनके मत का सार यों बताते हैं।

---

1. शैविज्म और वैष्णविज्म आदि, पृ २८
2. आउट लाइन्स आफ हिंदूइज्म, पृ १६०
3. दशश्लोकी, श्लोक ६

"विष्णुस्वामी संप्रदाय रुद्र संप्रदाय है। यह पहले पहल रुद्र से वालखिल्यों को प्राप्त हुआ। इस मत के अनुसार सर्वप्रथम एक ही ब्रह्म था और उसकी इच्छा हुई 'एकोहं बहुस्याम्', तो वह अचेतन जगत में परिवर्तित हो गया, जिसका नियंता वह स्वयं था। सृष्टि के समय जीव उसमें से इस प्रकार उत्पन्न हुए जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म ने अपनी अनंत शक्ति द्वारा अदृश्य बुद्धि और आनंद को उत्पन्न किया और अंत में उसके समस्त गुण प्रकट हुए। ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप में वही दृश्यानंद व्याप्त है"।[1]

जो हो, वल्लभ संप्रदाय की गुरुपरंपरा में विष्णुस्वामी का नाम आता है। प्रसिद्ध भक्त कवि लीलाशुक को इन्हीं का शिष्य बताया जाता है। वल्लभाचार्य जी को स्वप्न में दिखायी देकर लीलाशुक ने ही विष्णुस्वामी संप्रदाय की उच्छिन्न गद्दी को स्वीकारने की सलाह दी, ऐसा सांप्रदायिक ग्रंथों का साक्ष्य है।[2]

२.३.१.६ लीलाशुक :

लीलाशुक को विल्वमंगल भी कहते हैं। ये भक्तचिंतामणि गोपालकृष्ण के उपासक थे। इनका संबंध आंध्र प्रांत के कृष्णातीरवाले श्रीकाकुलम्, अमरावती आदि क्षेत्रों से बताया जाता है। इनकी प्रसिद्ध रचना कृष्ण कर्णामृत है। इसमें उन्होंने कृष्ण के बाल और किशोर रूपों के वर्णन में तीन सौ से ज्यादा श्लोक रचे हैं। इसमें वर्णित रासाष्टक का आंध्र प्रांत में बहुत प्रचार हुआ। यहां के नृत्य-नाट्य मंडलियों के द्वारा कृष्ण कर्णामृत के कितने ही श्लोक कभी से अभिनीत होते आ रहे हैं। वल्लभाचार्य की मधुराष्टक जैसी रचनाओं पर भी कृष्णकर्णामृत का प्रभाव दीखता है। जो हो, निंबार्क, विष्णुस्वामी और लीलाशुक के प्रभाव से आंध्र प्रांत में ईसवी १३–१४ सदियों में राधा-कृष्ण, गोपी-कृष्ण एवं बालकृष्ण की भक्ति को विशेष प्रचार मिल गया। आलोच्य कवि अन्नमाचार्य के कई पद बाल-कृष्ण, गोपी-कृष्ण एवं राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन में मिलते हैं। अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों की रचना में कृष्ण कर्णामृत के कई श्लोक अनूदित हुए मिलते हैं।

२.३.२. उत्तर भारत के सगुण भक्ति संप्रदाय व आचार्य :

अब तक जिन आचार्यों के बारे में कहा गया है, वे सब दक्षिण में ही हुए और दक्षिण को ही उनमें से बहुतों ने अपने मत का प्रधान प्रचार क्षेत्र माना।

---

1. भक्ति काव्य के मूलस्रोत, पृ १७२ से उद्धृत
2. सूर की झांकी, पृ ४८

निंबार्क ही ऐसे थे, जो उत्तर में जाकर बस गये और बृंदावन को अपना कार्य क्षेत्र चुन लिया। उन्हीं की तरह वल्लभाचार्य ने भी दक्षिण के होकर भी उत्तर में जाकर व्रजभूमि को अपना प्रधान कार्य क्षेत्र वरण किया था। इस संदर्भ में यह भी देखने लायक है कि शंकराचार्य के बाद जितने दार्शनिक आचार्य हुए वे सब के सब शंकर के मायावाद और विवर्तवाद के खंडन में ही लग गये। ये सभी सगुण ब्रह्म में विश्वास रखते थे और ज्ञान के बदले भक्ति को मुक्ति का मुख्य व एकमात्र उपाय मानते थे। रामानुज ने उपास्य का रूप नारायण में माना और लक्ष्मी, भू, नीला आदि को भी पुरुषकार शक्तियां मान कर भक्ति करने योग्य बताया। मध्वाचार्य ने भक्ति केलिए जो द्वैतवाद परम आवश्यक है, उसी को अपने सिद्धांत में प्रधान स्थान दिया और हरि तथा अवतार रूप राम, कृष्ण आदि को ही नहीं, बल्कि हनुमान जैसे पहुंचे हुए भक्तों को भी उपास्य योग्य रूप में मान लिया। निंबार्क ने कृष्ण के साथ राधा को भी समान स्थान देकर युगल मूर्ति की उपासना का प्रचार किया। विष्णुस्वामी ने गोपाल कृष्ण, बालकृष्ण जैसों की भक्ति को प्रश्रय दिया तो लीलाशुक ने अपने कृष्णकर्णामृत में गोपवेषधारी, राधा-मनोहारी, रासक्रीडा विहारी, गोपीजन परिवेष्ठित एवं वेणुवादनरत परब्रह्म कृष्ण की विविध लीला विशेषों का भक्ति पूर्वक वर्णन किया है। वल्लभाचार्य को इसी अंतिम भक्ति पद्धति, अर्थात् विष्णुस्वामी और लीला-शुक की भक्ति पद्धति का उत्तर भारत में प्रचार करने का यश मिलता है। वल्लभाचार्य से पहले रामानंद उत्तर भारत में राम भक्ति का प्रचार अवश्य किया था, किंतु उनके मत में राम का रूप सगुण की अपेक्षा अधिकाधिक निर्गुण होता चला। अतः सगुण भक्ति को उत्तर में प्रचार करनेवालों में वल्लभाचार्य का नाम अग्रगण्य माना जाता है। वल्लभाचार्य के ही समय में उत्तर में चैतन्य, हरिदास और हितहरिवंश जी के भक्ति संप्रदाय भी प्रचार में आये और उन सब का प्रभाव तत्कालीन कृष्णभक्त कवियों पर अवश्य पड़ा। आलोच्य कवियों में अन्नमाचार्य उत्तर के आचार्यों से पूर्व हुए और रहे दक्षिण में। लेकिन सूरदास वल्लभमत मे ही दीक्षित थे। अतः यहां सूरदास जी के समकालीन उत्तर भारतीय भक्ति संप्रदायों का भी, संक्षेप में ही सही, विवरण अपेक्षित है।

२.३.२.१ वल्लभाचार्य :

आचार्य महाप्रभु वल्लभ (१४७८–१५३० ई) तेलुगु वेलनाटि वैदिक ब्राह्मण थे। ये भारद्वाजस गोत्री थे। लक्ष्मण भट्ट और एल्लम्मा उनके मां-बाप थे। कहते हैं कि ये कृष्णा-गोदावरी प्रांत के काकराडा नामक गांव में रहते थे। लेकिन कृष्णा-गोदावरी प्रांत में इस नाम का कोई गांव नहीं मिलता। किंतु कर्नूल जिले के रायदुर्ग तालूक में इस नाम का एक गांव अब भी मिलता है।

यह भी कहा जाता है कि वल्लभ जी के मातुल हंपी विजयनगर में रहते थे। कृष्णा-गोदावरी प्रांत की अपेक्षा कर्नूल प्रांत विजयनगर से अधिक निकट पड़ता है। यह देखते कि पुराने जमाने के वैवाहिक संबंध सन्निकट प्रदेशवालों के मध्य अधिक हुआ करते थे, यही अधिक संभव है कि कर्नूल प्रांत का काकरापा गांव हीं वल्लभ के पूर्वजों का गांव हुआ होगा। जो हो, वल्लभ के पिता के समय ये लोग उत्तर में जा बस गये।

वल्लभ के पिता लक्ष्मण भट्ट काशी यात्रा गये और वहीं कुछ दिन ठहरे। मुसलमानों के आतंक से डरकर वे परिवार सहित स्वदेश लौट रहे थे, तो रास्ते में मध्यभारत के चंपारण्य नामक प्रदेश में उनकी पत्नी ने शिशु वल्लभ को जन्म दिया। कहते हैं कि मुसलमानों के आतंक के कम हो जाने की खबर लगी, तो लक्ष्मण भट्ट परिवार सहित फिर काशी चले गये। किंतु अनति काल में ही वहां उनका देहांत हो गया, तो बालक वल्लभ अपनी मां के साथ मातुल के घर लौट गये। वल्लभ तब तक वेद-शास्त्रों का अध्ययन पूरा करके अपनी प्रतिभा के बल प्रसिद्धि पाने लगे। माता को मातुल के यहां छोड़कर वे सन् १४८९ में भूप्रदक्षिण यात्रा में निकले। उनकी ऐसी तीन भूप्रदक्षिण यात्राएं गुजरीं। अंतिम यात्रा के समय विजयनगर राजदरबार में उनका पंडितों से शास्त्रवाद हुआ और उसमें उनको जो जीत मिली उसके फल स्वरूप राजा के हाथ कनकाभिषेक का सम्मान मिला। यह घटना सन् १५०८ में हुई। उस समय विजयनगर राजगद्दी पर कृष्णदेवराय के बड़े भाई वीरनरसिंहराय का शासन चल रहा था। हाल ही में गुजरात के सावली नामक गांव में एक कुएं की खुदायी में प्राप्त प्राचीन पत्रोल्लेख इसकी पुष्टि में यों मिलता है, "विद्यापट्टनम, श्री नृसिंहवर्मा सार्वभौम स्वस्ति, श्री साम्राज्ये मीन मासे लोकगुरु आचार्य प्रभु वल्लभ हेमाभिषेकम्। — आवृत्ति-पूर्ण कार्तिक शुक्ल — अब्द १५६५।"[1]

राज दरबार में वल्लभ को अन्य दार्शनिकों पर जो विजय मिली उससे सभाध्यक्ष प्रसिद्ध माध्व मताचार्य श्री व्यासराय जी बहुत प्रभावित हुए और उनसे यह प्रार्थना भी की कि वे माध्व मत की गद्दी स्वीकार करें। लेकिन उसी रात को वल्लभ को लीलाशुक का स्वप्न-साक्षात्कार हुआ और उनसे यह सलाह भी मिली कि वे विष्णुस्वामी संप्रदाय की उच्छिन्न गद्दी को प्राप्त करें और उक्त संप्रदाय का पुनरुद्धार करें।[2] इसे मानकर वल्लभ जी विष्णुस्वामी संप्रदाय को आगे बढ़ानेवाले नवीन आचार्य हुए।

---

1. पुष्टिमार्गनो इतिहास, भक्ति काव्य के मूल स्रोत, पृ १७८ में उद्धृत
2. संप्रदाय प्रदीप, ८२, सूर की झांकी, पृ ४८

विजयनगर से लौटकर वल्लभाचार्य जी प्रयाग के दूसरी और यमुना के किनारे अडैल नामक गांव में रहने लगे। काशी के पासवाले चरणाट में भी इनका दूसरा घर बना, जहां भी वे बीच बीच में रहा करते थे। पंढरपुर के मधुमंगल नामक ब्राह्मण की कन्या महालक्ष्मी से इनका विवाह हुआ और इनके गोपीनाथ और विट्ठलनाथ नामक दो पुत्र हुए।

२.३.२.१.१ तिरुपति से संबंध :

जैसे पहले कहा गया है, वल्लभाचार्य ने तीन बार सारे भारत की यात्राएं कीं। कृष्णदास वल्लभाचार्य के विश्वास पात्र शिष्य थे। आचार्य जी की इन यात्राओं में अकसर वे इनके साथ रहते थे। आचार्य जी अपनी यात्राओं में कहीं कहीं भागवत का पारायण करते थे। ऐसे स्थानों में बैठकें बनवा दी जाती थीं। ऐसी ८४ महाप्रभु जी की बैठकें देश भर में हैं। तिरुमल-तिरुपति जब वे पहली बार आये, तब यहां की स्वामिपुष्करिणी के किनारे श्रीवराहस्वामी के मंदिर के पास इनकी बैठक हुई, तो दूसरी और तीसरी यात्राओं में भी उन्होंने उसी जगह बैठकें लगायीं। आज भी वल्लभ मत के अनुयायी लोग तिरुमल तिरुपति की यात्रा जाने पर उक्त स्थान का दर्शन अवश्य करते हैं।[1]

इस संदर्भ में यह स्मरण रखना चाहिए कि वल्लभाचार्य जी की यात्राओं के काल में (१४८९–१५१० ई) तिरुमल तिरुपति में हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और उनके संततिवालों की कवि, पंडित, गायक व आचार्य करके बड़ी प्रसिद्ध थी और उनका एक मठ भी यहां चलता था। हमारा अनुमान है कि आचार्य प्रभु को उस समय अन्नमाचार्य के तेलुगु व संस्कृत पदों का परिचय मिला होगा।

आचार्य जी ने अपनी भूप्रदक्षिण यात्राओं में दो बार पुरी जगन्नाथ की यात्रा भी की और वहां चैतन्यस्वामी से भी उनकी भेंट हुई। आचार्य जी ने गोवर्धन के श्रीनाथ जी के मंदिर की इतिवृद्धि में खूब योग दिया। वे हरसाल चातुर्मास तो व्रज में ही व्यतीत करते थे।[2]

---

1. आंध्रप्रभा, साप्ताहिक, ता १८–५–६६, श्री जगन्नाथ दास गोविंददास का लेख, पृ २

2. भक्तिकाव्य के मूल स्रोत, पृ १८०

२.३.२.१.२ ग्रंथ रचना :

आचार्य वल्लभ के रचे ग्रंथों की संख्या ८४ बतायी जाती है, किंतु ३५ के नाम तो विश्रुत हैं और ३०–३१ तक ही प्राप्त हैं। उनमें से अणुभाष्य, सुबोधिनी टीका, तत्वदीप निबंध, पूर्वमीमांसा भाष्य, षोडशग्रंथ जैसे ग्रंथ बहुत प्रमुख और प्रसिद्ध हैं। इनके ये सभी ग्रंथ संस्कृत में रचे मिलते हैं। किंतु श्रीदुर्गाशंकर मिश्र जी लिखते हैं कि 'हाल ही में चौरासी अपराध नामक उनकी एक व्रजभाषा गद्य में लिखी हुई पुस्तक प्रकाशित हुई है तथा साथ ही तेलुगु भाषा में रचे हुए कुछ गीत भी प्राप्त हुए हैं'।[1] व्रजभाषा को पुरुषोत्तम भाषा कहकर आचार्य जी ने उसकी उन्नति में खूब योग दिया। राजपुताना, व्रज, कठियवाड़, गुजरात आदि में वल्लभमत का अधिक प्रचार हुआ और इन प्रदेशों में अब तक इनकी गद्दियां चलती हैं।

२.३.२.१.३ शुद्धाद्वैत सिद्धांत :

वल्लभाचार्य जी का सिद्धांत शुद्धाद्वैत सिद्धांत कहलाता है। वे ब्रह्म में किसी भी प्रकार का माया-संबंध स्वीकार नहीं करते। 'माया संबंध रहितं शुद्ध-मित्युच्यते बुधैः', कहकर उन्होंने ब्रह्म को माया से संबंध रहित, अतएव शुद्ध मानते हैं। वे ब्रह्म को कार्य कारण रूप स्वीकारते हैं। उनके मत में ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी सगुण है। ब्रह्म में आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति जो है, उसी के द्वारा वह एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है। वल्लभ के मत में कृष्ण ही परब्रह्म है। इष्टदेव परब्रह्म कृष्ण के लोक-वेद-प्रथित और लोक-वेद-अतीत नामक दो रूप होते हैं। कृष्ण के लोक-वेद-प्रथित रूप में, जिसे कि उनका धर्मरक्षक रूप भी कहा जाता है, उनके मथुरा, द्वारका और कुरुक्षेत्र में विविध लीलाएं करते दुष्ट संहार तथा धर्म संस्थापन करने के रूप पर विशेष ध्यान दिया गया है। लोक-वेद-अतीत रूप को रसरूप कहा गया है। इसके बाल और किशोर लीलावाले दो रूपभेद माने जाते हैं। वल्लभ संप्रदाय में इन दोनों रूपों को भावात्मक, फलात्मक और स्वरूपात्मक कहकर प्रधानता दी गयी है।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्म का ही नहीं, उसके अवतार रूप को भी शुद्ध माना है। ब्रह्म का अवतार अपने अक्षर धाम तथा अपनी अनंतलीला शक्तियों सहित होता है। वल्लभ के अनुसार व्रज तो भगवान का लीला धाम है।

---

1. वही, पृ १८१

वल्लभ मत में जीव को अंश, परमात्मा को अंशी बताया जाता है। परमात्मा की इच्छा से, अग्नि से स्फुलिंगों की तरह उनके चिदंश से जीवों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि काल में जीव ऐश्वर्यादि गुणों का लोप होने से तथा संसार में आकार पंचपर्वा अविद्या से आवृत रहने से दीन, दुखी, अहंकारी, विषयासक्त बनता है और इसीसे उसे संसारचक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है। जीव अनेक हैं। उनके कई भेद भी होते हैं। भक्ति और भगवदनुग्रह रूपी पुष्टि से ही जीवों का संसारबंध छूटता है।

जगत भी जीव की तरह ब्रह्म का अंश एवं ब्रह्मात्मक है। वह उसके सदंश से निर्मित है। अतः सत्य है। वह ब्रह्म की इच्छा से कार्य रूप में आविर्भूत होता है, लेकिन कारण रूप ब्रह्म में इस कार्य से कोई विकार पैदा नहीं होता, वह अविकृत ही रहता है। इस तरह वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवादी हैं। उनके मत में ब्रह्म ही जगत का निमित्त और उपादान कारण है। तिरोभूत अवस्था में जगत का फिर ब्रह्मभाव होता है। इस तरह भगवत् कार्य होने से जगत मिथ्या नहीं, लेकिन जीव की अविद्या से कल्पित होने से संसार मिथ्या है। वह माया है। जीव की मुक्ति में संसार का लय होता है, न कि जगत का।

माया के विद्या और अविद्या रूप होते हैं। अविद्या जीव को संसार में डालती है तो विद्या उसे मुक्त करती है। माया भगवान के अधीन रहती है। अतः उनका अनुग्रह, जिसे पुष्टि कहते हैं, माया को दूर करके जीव को मोक्ष देता है। भगवदनुग्रह या पुष्टि पर जोर देने से ही वल्लभ संप्रदाय को पुष्टिमार्ग अथवा पुष्टि संप्रदाय भी कहते हैं।

वल्लभाचार्य के मत में वैकुंठ से गोलोक उत्कृष्ट है, जहां पुरुषोत्तम कृष्ण की नित्य लीला विभूति पूर्ण विद्यमान रहती है। रस रूप कृष्ण के स्वरूपानंद की शक्ति को प्राप्त करके उसकी लीला में प्रवेश करना, पुरुषोत्तम के अंग रूप बनना और अप्राकृत शरीर से आनंद उठाना पुष्टि सेवा के फल माने जाते हैं। फिर, पुष्टिभक्त की मुक्ति सद्योमुक्ति है, जो अन्य भक्तों की मुक्ति से वरिष्ठ है। क्योंकि पुष्टिभक्त के प्रारब्ध कर्मों का क्षय यहीं होता है और वह नित्य लीला धाम में प्रविष्ट हो जाता है। अन्य भक्तों की मुक्ति क्रम मुक्ति है।

वल्लभ मत में राधा को भगवान की आदि रस शक्ति मानते हैं और अन्य गोपियों को उसीके भिन्न भिन्न रूप। पुरुषोत्तम कृष्ण का रस रूप इन रसात्मक शक्तियों के बिना अपूर्ण रहता है। राधा रस सिद्ध शक्ति होने से स्वामिनी कहलाती है। भक्त को भी गोपीभाव से सान्निध्य का रसानंद सुलभ प्राप्त होता है।

२.३.२.१.४ गोसाई विट्ठलनाथ :

वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी के समय में संप्रदाय की सेवा पद्धति एवं साधनागत मान्यताओं में कई नयी बातें आ गयीं। संप्रदाय में आचार्य जी की स्वयं कृष्ण रूप में मान्यता हो गयी। उनके ठाकुर के साथ स्वामिनी का रूप को भी माना गया। उसी तरह सभी भक्तों को भी सखा और सखी रूप से मानने की परिपाटी-सी चल पड़ी। वस्तुतः वल्लभाचार्य जी ने राधा को उतना प्राधान्य नहीं दिया। अतः मानना पड़ता है कि विट्ठलनाथ जी ने ही समकालीन एवं बृंदावन में सहवर्ती चैतन्य संप्रदाय से प्रभावित होकर इन बातों को संप्रदाय में प्रविष्ट किया होगा। गुसाई विट्ठलनाथ जी ने ही अष्टछाप का निर्माण किया और हमारे आलोच्य कवि सूरदास को उसमें सर्वप्रथम रखा। सूर को कृष्ण सखा और चंपकलता सखी रूप से भी प्रथित किया गया।

२.३.२.२ चैतन्य प्रभु :

चैतन्य प्रभु (१४८५–१५३३ ई) वल्लभाचार्य के समकालीन थे। उत्तर भारत में भक्ति मत के प्रचार में सबसे अधिक श्रेय इन्हींको मिलता है। गौरवर्णवाले होने से इनका गौरांग नाम भी प्रसिद्ध है। ये बंगाल के नाडिया शांतिपुर नामक स्थान में प्रकट हुए। १८ वर्ष की उम्र में ही इनकी पहली शादी हो गयी, लेकिन, कुछ वर्षों के बाद पत्नी के देहांत होने के बाद इन्होंने दूसरी शादी भी कर ली। एक बार वे गया तीर्थ गये। वहां ईश्वरपुरी नामक माध्व वैष्णव से इनकी भेंट हुई और उससे ये इतने प्रभावित हुए कि तभी इनके विचार बदल गये और संसार से विरक्ति भी हो गयी। तदारभ्य भक्ति को ही एक मात्र तरणोपाय मानकर पहले वे घर में ही कीर्तन-भजन करने लगे। भजन में वे कभी कभी अपने को भूल जाते थे और उनकी आंखों से आंसू भी बहा करते थे।

चैतन्य ने भारत के सभी प्रमुख तीर्थों की यात्रा की। इन्होंने दक्षिण भारत की भी यात्रा की और वहां के सभी प्रसिद्ध वैष्णव क्षेत्रों का दर्शन किया। कहते हैं कि उसी यात्रा में वे राजमहेंद्रवरम (आंध्रप्रांत) में रायरामानंद जी से मिले और उनसे कृष्णकर्णामृत तथा ब्रह्मगीत नामक ग्रंथों को प्राप्त किया।[1] इसी तरह उनको आलवार तिरुनगरी (तमिल प्रांत) में द्राविड प्रबंधम् की प्रति

1. राधा का क्रम विकास, डा. शशिभूषण दास गुप्त, पृ १२७

भी मिली।[1] फिर वे पुरीजगन्नाथ आदि क्षेत्रों में कई दिनों तक भ्रमण करके भक्ति का प्रचार करते रहे। अंतिम दिनों में वे कृष्ण भक्ति में इस तरह तल्लीन हुआ करते थे कि कभी कभी भावावेश में आकर मूर्छित हो जाते थे। चैतन्य ने अन्य आचार्यों की तरह सिद्धांत प्रतिपादन या संप्रदाय संगठन का विशेष प्रयत्न नहीं किया। उनके रचे आठ श्लोक मात्र मिलते हैं, अतः उनके अनुयायियों को ही उनके सिद्धांतों को सुव्यवस्थित रूप देना पड़ा।

चैतन्य पर निंबार्क, बिल्वमंगल, जयदेव, विद्यापति, चंडीदास जैसों का गहरा प्रभाव पड़ा। फलतः उनकी भक्ति साधना में शृंगार भक्ति को अधिक प्रश्रय मिला। नाम संकीर्तन से उनकी विशेष रुचि थी। उनके कई शिष्य भी हुए, जिनमें नित्यानंद और अद्वैतानंद बड़े महात्मा थे। इसी तरह उनकी शिष्य परंपरा में 'षट् गोस्वामी' के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन गोस्वामियों ने वृंदावन को चैतन्य मत का केंद्र बनाया और संप्रदाय की भक्ति का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते कई ग्रंथ रचे। ऐसे ग्रंथों में रूप गोस्वामी के 'भक्ति रसामृत सिंधु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' बहुत प्रसिद्ध हैं। सनातन गोस्वामी के 'बृहत भागवतामृत', 'दशम स्कंध टीका' तथा जीव गोस्वामी के 'षट्संदर्भ' और 'गोपाल चंपू' आदि ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं। बलदेव विद्याभूषण ने चैतन्य मत के अनुसार ब्रह्मसूत्रों पर 'गोविंद भाष्य' लिखा है।

२.३.२.२.१ अचिंत्य भेदाभेदवाद :

चैतन्य के सिद्धांत को अचिंत्य भेदाभेदवाद कहते हैं। इसके अनुसार परम तत्व स्वयं श्रीकृष्ण है। वह सच्चिदानंद स्वरूप, अनंत शक्ति संपूर्ण, अनंत गुण संपन्न एवं अनादि है। वह अपनी शक्ति से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है। उनका संबंध अचिंत्य है। उसका पूर्ण घनानंद रूप है। उसका साक्षात्कार भक्ति से ही संभव है। भगवान को वश में करने का वही श्रेष्ठ साधन है। भक्ति भी भगवान की कृपा से ही मिलती है। उसके वैधी और रागानुगा भेद होते हैं। वैधी मर्यादा मार्ग है, तो रागानुगा माधुर्य मार्ग है। माधुर्य भाव की भक्ति सबसे श्रेष्ठ भक्ति है। इस भाव को अपनाकर भक्त भगवान से प्रेम और उनकी सेवा उनके आनंद केलिए ही करता हैं। भक्ति में विधि नियम या शास्त्र मर्यादा का ध्यान असंगत है। मधुर भाव ही परिणत दशा में महाभाव या राधाभाव कहलाता है।

---

1. दी लाइफ आफ गौरांग, श्री डी. एन. गंगूली, पृ ४५

चैतन्यमत में रस साधना का प्राधान्य है। चैतन्यस्वामी स्वयं कृष्ण के प्रेम में तन्मय होकर मूर्छित हो जाते थे। वे स्वयं राधा रूप होकर कृष्णप्रेम में महाभाव का अनुभव करते थे। इसी कारण से उनको राधा का अवतार भी मानते हैं।

चैतन्य और वल्लभ संप्रदायों में कुछ बातें समान रूप से पायी जाती हैं। जिस तरह वल्लभाचार्य के ठाकुर जी और स्वामिनी के रूप माने गये हैं उसी तरह चैतन्य के भी कृष्ण और राधा के प्रेम भाव के अवतार रूप बताये गये हैं। परिकर भक्तों के भी इसी तरह सखा और सखी रूप माने गये हैं। चैतन्य संप्रदाय के प्रसिद्ध छः गोस्वामियों तथा अन्य अनुयायियों में गोपी भाव कल्पित किया गया है। अष्टछाप के भक्त कवियों में भी यही बात देखने को मिलती है। भेद यही है कि चैतन्यमत में रसरूप का ख्याल ज्यादा है। चैतन्य प्रभु भजन-कीर्तन में तन्मय होकर भावावेश में मूर्छित हो जाते थे। आचार्य प्रभु के संबंध में ऐसी स्थिति के उल्लेख विरले ही मिलते हैं और भजन-कीर्तन भी भक्तों के द्वारा होते थे, न कि वल्लभ के स्वीयोद्योग से। वल्लभ प्रभु सूरदास जैसों के कीर्तन द्वारा स्मरण और तद्वारा समाधि योग को प्राप्त करते थे। चैतन्य प्रभु खुद कीर्तन करते हुए भावरस तल्लीन होते थे।[1] फिर, वल्लभ संप्रदाय का समस्त प्रमुख पदसाहित्य पृथक भावयोग का साधन न होकर सेवा-प्रणाली में कीर्तन के एक अंग मात्र रह गया है।

२.३.२.३ युगलोपासना के अन्य संप्रदाय :

ईसवी १६ वीं सदी में राधाकृष्ण की युगल-उपासना को लेकर उत्तर भारत में कितने ही भक्ति संप्रदाय प्रचलित हुए। इनमें किसी किसी पर परंपरागत बौद्ध तांत्रिक व बंगाल के सहजिया संप्रदाय जैसों का प्रभाव भी कुछ हद तक परिलक्षित होता है। फिर भी भक्ति आंदोलन में उनका बड़ा योगदान मानना पड़ता है। इन संप्रदायों में विधि-निषेध का ख्याल कम है। सिद्धांतगत तर्क-वितर्क का जाल भी नहीं है। केवल आत्मसमर्पण भाव से भक्ति करके तन्मयी भाव से कुंजविहारी राधा-कृष्ण की दिव्य लीलाओं का रस पाना ही इनका ध्येय है। इनकी साधना और सिद्धि दोनों भक्ति में ही पर्यवसित हैं। यहां जातिभेद लिंगभेद आदि को बिलकुल स्थान नहीं है। ऐसे संप्रदायों में हरिदास जी का 'सखी संप्रदाय' और हितहरिवंश जी का 'राधावल्लभ संप्रदाय' विशेष उल्लेख-नीय हैं।

---

1. सूर की झांकी, पृ ६४

२.३.२.३.१ स्वामी हरिदास जी और सखी संप्रदाय :

हरिदास जी आलीगढ जिले के हरिदासपुर के निवासी थे। इनकी छाप 'रसिक' है। ये युगल (राधा कृष्ण) के नाम जप में निरत होकर कुंज-विहार-लीलाओं के रसास्वाद में तन्मय रहते थे। ये गानकला में बड़े निपुण थे। कहते हैं कि सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन इनके शिष्य थे। हरिदास जी के रचे दो ही ग्रंथ मिलते हैं, साधारण सिद्धांत और रास के पद। फुटकल पदों का संग्रह 'हरिदास जी की बानी' नाम से प्रसिद्ध है।

इस संप्रदाय के अनुसार प्रिया और प्रियतम एक प्राण और दो देह हैं। उनकी समस्त लीला एक दूसरे के आनंद के हेतु होती है। यह आनंद भोग सखियों की प्रसन्नता केलिए ही है, क्योंकि लाडलीलाल के सुख में ही सखियों की प्रसन्नता है। यह प्रेम काम से कोसों दूर है। वहां स्थूल प्रेम या स्थूल विरह की कल्पना नहीं हो सकती। व्रज-गोपियों का प्रेम सर्वोपरि है, किंतु श्याम-श्यामा का निकुंज विहार तक तो ललिता आदि सखियों की पहुंच है, क्योंकि नित्य निकुंज की वे चिर सहचरी हैं। उनका अपना सुख नहीं, किंतु लाडलीलाल की अभिलाषा की पूर्ति ही उनका सुख है।

संप्रदाय में हरिदास जी को ललिता सखी का अवतार मानते हैं। बृंदावन में आज भी इनकी गद्दी चलती है।

२.३.२.३.२ हितहरिवंश जी और राधावल्लभ संप्रदाय :

युगलोपासना का दूसरा उल्लेखनीय संप्रदाय हितहरिवंश जी का राधा वल्लभ संप्रदाय है। हितहरिवंश जी १६ वीं सदी के उत्तरार्थ में सहरानपुर जिले के देवबंद नामक गांव में प्रकट हुए। पहले वे माध्व मत के अनुयायी थे, किंतु जब उनको राधा का स्वप्न-साक्षात्कार हुआ तब से राधा के उपासक हो गये। बृंदावन में उन्होंने एक मंदिर बनवाकर उसमें राधावल्लभ जी की मूर्ति प्रतिष्ठित की। हितहरिवंश जी कर्म, ज्ञान, योग आदि की आवश्यकता न मानकर राधा और कृष्ण की प्रेमानंद लीला के ध्यान व मनन तथा उनकी सेवा को ही मोक्ष अथवा परमानंद प्राप्ति का एक मात्र साधन मानते हैं। इनके मत में कृष्ण से राधा की सेवा व भक्ति अधिक महत्वपूर्ण है। इस संप्रदाय में राधा-कृष्ण प्रेम का संयोग पक्ष ही लिया गया है और युगलमूर्ति की कुंजलीलाओं के आनंद को परमरस माधुरी भाव कहा गया है। अनन्य दास भाव, कुंजकेली-संपत्ति की खवासी (दासी) भाव, विधि-निषेधों का त्याग और इष्टदेवी के रूप में राधा का

स्वीकार इस संप्रदाय की विशेषताएं हैं। राधिका के अनुषंग से ही कृष्ण उपास्य हैं। इस संप्रदाय में स्वकीया या परकीया भेद भी नहीं है।

हितहरिवंश जी के 'राधा सुधानिधि' और 'हित चौरासी' नामक ग्रंथ मिलते हैं। उनमें युगल की रूप-माधुरी और सेवा-माधुरी का कवित्वमय वर्णन मिलता है।

२.३.३ उपसंहार :

इनके अलावा उस समय भारत भर में कितने ही भक्ति संप्रदाय चलते थे। उनमें से कुछ निर्गुण संप्रदाय थे, तो कुछ सगुण के रसिक संप्रदाय। हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास इसी समय में हुए और सगुण भक्ति के निरंतर साधक हो गये। अन्नमाचार्य के जीवनकाल में वल्लभ, चैतन्य, हरिदास हितहरिवंश जैसों के संप्रदाय शुरू नहीं हुए। लेकिन आश्चर्य की बात है कि अन्नमाचार्य की साधना में वे सभी तत्व बहुत कुछ पाये जाते हैं, जिनको लेकर बाद को उत्तर में अलग अलग विशिष्ट भक्ति संप्रदाय प्रचलित हुए। सूरदास तो वृंदावन की उन सभी संप्रदायगत साधना प्रणालियों से परिचित ही नहीं, उन्हीं के वातावरण में पले। अतः उन पर उनका थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा हो, तो आश्चर्य की बात नहीं।

३.१. परंपरा और प्रेरणा-स्रोत

३.१.० प्रस्तावना :

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों सगुण वैष्णव आराधक एवं संकीर्तन-सेवा के साधक थे। दोनों की भक्ति साधना का प्रधान अंग लीला वर्णन द्वारा अपने इष्टदेव के सान्निध्य व साहचर्य में अपने को तल्लीन रखकर अविच्छिन्न भगवदनुभूति का आनंद लेना ही था। भक्त हृदय की तात्विक एकता और साधनागत लक्ष्य की समानता के कारण, यद्यपि उनके प्रेरणा-स्रोत, दार्शनिक संप्रदाय और स्वीकृत साधना मार्ग अलग अलग थे, तो भी इन दोनों की रचनाओं में अत्यंत निकट संबंध व साम्य दीखता है। अन्नमाचार्य की रचना का प्रधान प्रेरणास्रोत तमिल भाषा में आलवार वैष्णव भक्तों द्वारा विरचित नालयिर प्रबंधम् है। यही प्रबंधम् श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धांत एवं श्रीसंप्रदाय साधना का मूलभूत प्रेरक व उज्जीवनकारी ग्रंथ है। विज्ञ आलोचकों का मत है कि इस ग्रंथ का थोड़ा-बहुत प्रभाव भागवत पुराण पर भी पड़ा होगा।[1] सूरदास की रचना इसी भागवत पुराण के अनुसरण में हुई है। आचार्य प्रभु वल्लभ ने भागवत पुराण को प्रस्थानत्रयी के समकक्ष माना और उक्त त्रयी में उसे भी जोड़कर प्रस्थान चतुष्टय के आधार पर अपने शुद्धाद्वैत सिद्धांत एवं पुष्टिमार्गीय साधना को सुनिश्चित रूप दिया। आचार्यजी ने ही सूरदास को भागवत की अनुक्रमणिका एवं पुरुषोत्तम सहस्रनाम का उपदेश देकर उन्हें श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन-सेवा में नियुक्त किया। सूरदास की समस्त रचना भागवत के अनुसरण में, पुष्टिमार्ग के सेवा-संप्रदाय के अनुकूल हुई तो इधर अन्नमाचार्य की सारी रचना प्रबंधम् के अनुकरण में तिरुमल-तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर मंदिर में संकीर्तन

---

1. सूर और उनका साहित्य, पृ १३०–१४० और तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्णभक्तकवि, पृ १७५–६

सेवा के रूप में प्रस्तुत हुई। दोनों भक्तकवि लीला गान में ही निरत थे। दोनों की लीला रस में एक ही तरह की आसक्ति थी। भगवद् विषय में अनुरक्ति और तदन्य विषयों से विरक्ति दोनों में समान रूप से मिलती हैं। भेद कहीं कुछ है तो वह उपरोक्त प्रेरणा-स्रोत व संप्रदाय निष्ठ साधना के कारण से ही है। अतः उनकी रचनाओं की तुलना में उनके पीछे सक्रिय रहनेवाले उन सांप्रदायिक व ऐतिहासिक तत्वों का भी परिचय आवश्यक है। इन तत्वों के विश्लेषण पर ही इन भक्तकवियों की रचनाओं के तत्व स्पष्ट होते हैं और इनके साम्य व वैषम्य का भाव भी साफ झलकता है।

३.१.१ रामानुज मत और रामानुजाचार्य :

३.१.१.१ रामानुज मत :

जन्म से अन्नमाचार्य स्मार्त थे, लेकिन संस्कार से वैष्णव थे। बचपन में ही उन्होंने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय में दीक्षा ली। बाद में उन्होंने अहोबल मठ के स्थापनाचार्य आदिवन् शठगोपयतींद्र के श्रीचरणों में बैठकर विशिष्टाद्वैत वेदांत एवं द्राविड (तमिल) प्रबंधम् का विधिवत् अध्ययन किया। उनके मत में द्रविड प्रबंधम् तो साक्षात् पंचमवेद और कलि-कलुष-विध्वंस का एक मात्र गुरु मंत्र है।[1] उसी तरह वे रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत को ही अपने इह-पर-धर्म का मार्ग एवं कर्म व धर्म का मर्म मानते थे।[2]

३.१.२.२ प्रबंधम् :

द्राविड भाषा में आलवार वैष्णव भक्तों की जो रचनाएं मिलती हैं, उन्हीं का संग्रह आज द्राविडवेद, द्राविडप्रबंधम्, नालायिर प्रबंधम्, पंचमागम आदि नामों से विश्रुत है। ये आलवार संख्या में बारह थे, किंतु उनमें श्रीरामानुज को भी मिलाकर कुछ लोग आलवारों की संख्या को तेरह मानते हैं।[3] आलवार शब्द का अर्थ है भक्ति रस सागर में गोते खानेवाला। ये सभी आलवार भक्त एक ही जगह या एक ही समय में नहीं हुए। ये विभिन्न जाति या वर्ण के लोग थे। इनमें एक स्त्री भी हुई। इन सब की रचनाएं २४ भागों में ४००० पदों

---

1. अ. सं. भा ११–२ प ६०
2. अ. सं. ५–१० और ७–२३७
3. हिस्टरी आफ तिरुपति–२, श्री टी. के. टी. वीरराघवाचार्य, पृ ९७१

(पाशुरों) के रूप में संग्रहीत होकर मिलती हैं। इन भागों को अलग अलग नाम दिये गये हैं, और सब को मिलाकर "नालायिर (४०००) प्रबंधम्" नाम प्रचलित किया गया है। पहले श्रीमन्नाथमुनि के प्रयत्न से नम्मालवार की ही रचनाएं मिलीं। रामानुजचार्य के समय में नम्मालवार की रचना 'तिरुवायिमुड़ि' पर ही 'आरायिरप्पडि' नामक व्याख्या रची गयी, जिसे रामानुज ने 'भगवत् विषयम्' कहकर मान्यता दी।[1] बाद में अन्य आलवारों की रचनाएं भी प्राप्त की गयीं। रामानुज की स्तुति में भी 'रामानुज नूट्रंदादि' नामक १०० पद्यों की रचना प्रस्तुत हुई। इन सबको मिलाकर द्राविडवेद, पंचमवेद, दिव्य प्रबंधम् आदि नामों से सम्मान के साथ प्रचार में लाकर उनकी एक से एक बढ़कर कई व्याख्याएं भी प्रकाशित की गयीं। मूल ग्रंथ तो तमिल में है, किंतु व्याख्याएं तमिल व संस्कृत मिश्रित मणिप्रवाल शैली में होकर मूल का गौरव बढ़ाने तथा उसे शास्त्रज्ञानी पंडितों के यहां भी मान्यता प्राप्त करने में नितांत सहायक हुईं। प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य वेदांत देशिक ने प्रबंधम् का सारांश देते संस्कृत में 'द्रमिडोपानिषत्सारम्' और 'द्रमिडोपानिषत् तात्पर्य सारावली' नामक दो ग्रंथ रचे। कहते हैं कि संस्कृत भाषा में इन्होंने प्रबंधम् की एक व्याख्या भी रची, लेकिन वह अब अप्राप्य है।

श्रीमन्नाथमुनि (९५० ई) ने ही पहले पहल नम्मालवार की तिरुवायिमुड़ि को राग-ताल-युक्त संगीत शैली (इशै शैली) तथा पद पदार्थ बोधक पठन शैली (इयलशैली) में श्रीरंगम के रंगनाथालय में गाने का प्रबंध किया। उन्होंने तिरुवायिमुड़ि की प्रशस्ति में जो श्लोक (तनियन) रचा, उसमें उसको उपनिषद् समान एवं श्रुति सागर बताया है। वह श्लोक यों है :

"भक्तामृतं विश्वजनानु मोदनं, सर्वार्थदं श्रीशठगोपवाङ्मयम्।
सहस्र शाखोपनिषत् समागमम् नमाम्यहं द्राविडवेद सागरम्॥"

नम्मालवार को ही शठगोपयति, परांकुशमुनि, मारन् आदि कई अन्य नामों से पुकारते हैं। ये जन्म से शूद्र थे। इनकी रचना को वेद समान मानना और उसे वेद के साथ अध्ययन करना श्रीवैष्णव संप्रदाय की उदारता का प्रबल पमाण है। भक्ति को सर्वजनीन मानकर, भगवान के सामने हर एक को अपनी इच्छा के अनुसार अपनी मातृभाषा में प्रार्थना करने या विनतियां सुनाने का अधिकार देने में श्रीवैष्णव संप्रदाय अग्रगण्य है। श्रीरामानुजाचार्य ने अपने गुरु के आदेश के भी विरुद्ध तिरुमंत्र (नारायण अष्टाक्षरी) को मंदिर के गोपुर पर चढ़कर सामूहिकरूप से सब वर्णवालों को उपदेश दिया। वैष्णवालयों में प्रबंधम्

---

1. हिस्टरी आफ तिरुपति–२, श्री टी. के. टी. वीरराघवाचार्य, पृ ९७२

के पठन-पाठन व अध्ययन-उत्सव मनाने का संप्रदाय इसी जाति-कुल-लिंग विभेद साहित्य के आदर्श का परिणाम है। नाथमुनि ने तिरुवायिमुड़ि का ही वेदमंत्रों के साथ अध्ययन करने का संप्रदाय शुरू किया, किंतु बाद के आचार्यों ने अन्यान्य आलवारों की रचनाओं में से भी उपयुक्त भागों को लेकर मंदिरों में नित्यार्चा के समय में भी विनियोग करने का संप्रदाय आरंभ किया। ये इस प्रकार हैं :

रचना	कवि	विनियोग
१) तिरुप्पल्लांडु	पेरियालवार	अर्चामूर्ति का जयगान
२) तिरुप्पल्लि एलुच्चि	तोंडरडिपोडि आलवार	जगाऊ
३) नीराट्टम्	पेरियालवार	अभ्यंजन या अभिषेक
४) पूच्चूट्टल	"	फूल मालाएं चढ़ाना
५) काप्पिडल	"	स्वस्ति वाचन
६) वारणमायिरम्	आंडाल	कल्याणोत्सव
७) तिरुप्पावै	"	धनुर्मास व्रतोत्सव
८) कण्णिण्णुल चिरुत्तांबु	मधुरकविआलवार	सौंदर्य, रूप वर्णन
९) तिरुवायिमूड़ि	नम्मालवार	सेवा, तत्व प्रपत्ति
१०) अमलनादिप्पिरान्	तिरुप्पाणिआलवार	शृंगार शोभा वर्णन
११) माणिक्कं कट्टि	पेरियालवार	डोला (झूला) सेवा
१२) मन्नुपुगल कोसलैतन	कुलशेखरालवार	"
१३) वेण्ण मलेंद कुणुकुम्	पेरियालवार	भोग निवेदन

इनके अलावा रंगवल्ली, यात्रा, व्रत, सात्तुमुरै (समाप्ति) जैसे अवसरों पर भी प्रबंधम् में से उपयुक्त भागों को लेकर गाते हैं। याद रहे कि आलयार्चा आगमोक्त विधान से चलती है। उसमें प्रबंधम् को कोई स्थान नहीं। अर्चक लोग मंदिर में स्थित भगवत् विग्रह के विविधोपचारों में वेद मंत्रों का ही विनियोग करते हैं। उसी समय श्रीवैष्णव भक्त प्रबंधम् के पद्य गाते जाते हैं। अर्चा में कोई आतंक नहीं होने पाता। अर्चक और ब्राह्मण विद्वान वेद मंत्रों को पढ़ते हैं और अन्य वैष्णव लोग प्रबंधम् के पद्य पढ़ते हैं। इस तरह भगवदाराधना में सब कोई सक्रिय भाग लेते हैं।

३.१.१.३ अध्ययनोत्सव :

इस संदर्भ में वैष्णवालयों में होनेवाले अध्ययनोत्सव का भी परिचय देना आवश्यक है। हम पहले कह चुके हैं कि नाथमुनि ने तिरुवायिमुड़ि को वेद के

साथ पढ़ने का संप्रदाय शुरू किया। बाद में जब सभी आलवारों की रचनाएं प्राप्त हुईं तब उनको भी अध्ययनोत्सव में स्थान देने का संप्रदाय शुरू हुआ। लेकिन मात्र तिरुवायिमुड़ि को वेदाध्ययन के समय साथ साथ पढ़ने तथा उससे पूर्व व पश्चात् अन्य रचनाओं को पढ़ने का रिवाज चल पड़ा। हर साल मार्गशीर्ष (धनुष) मास में शुक्ल एकादशी के दिन से लेकर दस दिन तक अध्ययनोत्सव मनाया जाता है और उस समय वेद और तिरुवायिमुड़ि दोनों का अध्ययन होता है। इससे पहले के दस दिन और बाद में तीन-चार दिन अन्य रचनाओं का अलग रूप से अध्ययन करते हैं। तिरुवायिमुड़ि को उत्सवमूर्ति के सामने ही गाते हैं, अन्यत्र नहीं। इन सब बातों से तिरुवायिमुड़ि का प्राधान्य स्पष्ठ है। श्रीवैष्णव लोग नम्मालवार को 'कुलपति' कहते हैं और आचार्य परंपरा में उनको स्थान देते हैं। जैसे

> "अस्मत् देशिक मस्मदीय परमाचार्यान् अशेषान् गुरून्
> श्रीमल्लक्ष्मण योगि पुंगव माहापूर्णो मुनिम् यामुनं।
> रामं पद्मविलोचनं मुनिवरं नाथं शठद्वेषिणं
> सेनेशं श्रिय मिंदिरा सहचरं नारायणं संश्रये ॥"

यहां 'शठद्वेषिणं' कहकर नम्मालवार को ही याद किया गया है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, नम्मालवार शूद्र थे। फिर भी उनको कुलपति कहने, गुरु-परंपरा में स्थान देने तथा उनकी रचना को वेद समान मानने का मुख्य हेतु श्रीवैष्णवों के भक्ति में जाति भेद न मानने का आदर्श ही है। इसी आदर्श से प्रेरित होकर श्रीरामानुजाचार्य ने भी ७४ जीयर सन्यासियों को मत प्रचार के कार्य के लिए संगठित करके भी उनमें केवल चार को श्रीभाष्य के प्रचार में और बाकी ७० को प्रबंधम् के प्रचार में नियुक्त किया था।

३.१.१.४ तिरुवेंगडम् :

तिरुमल-तिरुपति का प्राचीन नाम तिरुवेंगडम् है। आलवार लोगों की रचना में देश के विभिन्न स्थानों में बिलसित १०८ वैष्णवालयों की अर्चामूर्तियों का वर्णन मिलता है। लेकिन तिरुवेंगडम् के श्रीवेंकटेश्वर का वर्णन तो औरों की अपेक्षा अधिक मिलता है। बारहों आलवारों में से १० तक की रचनाओं में तिरुवेंगडम् की प्रशस्ति मिलती है। श्रीरामानुज के पूर्व श्रीतिरुमलनंबि तिरुमलै में आकर स्वामी की सेवा में लग गये। उन्हीं के पुत्र और रामानुज के ज्ञानपुत्र 'पिल्लान' ने तिरुवायिमुड़ि के प्रथम व्याख्याता हुए। आचार्य रामानुज ने तिरुपति में गोविंदराज स्वामी के मंदिर के निर्माण में योग दिया। यहां उनका

एक मठ भी खुला। इस तरह तिरुपति क्षेत्र और श्रीवैष्णव धर्म का घनिष्ठ संबंध हो गया। तिरुमल-तिरुपति आंध्रप्रांत की दक्षिणी सीमा पर है। आलवार प्रबंधम् में यह अयोध्या, नैमिशारण्य, बदरिकाश्रम, देवप्रयाग, द्वारका, गोकुल, गोवर्धन, अहोबलम् जैसे उत्तर के तीर्थ क्षेत्रों की श्रेणी में (वडनाडु के मंदिर) गिना गया। पेन्ना नदी के उत्तर का भूभाग द्राविड देश में वडनाडु कहलाता है। यहां देश-भेद के साथ भाषा भेद भी है। इस कारण से यद्यपि तिरुमल-तिरुपति से श्रीवैष्णओं का प्राचीन संबंध रहा तो भी आंध्रप्रांत में रामानुज के बाद १३ वीं सदी में ही संगठित रूप से विशिष्टाद्वैत वेदांत और श्रीवैष्णव संप्रदाय का प्रचार शुरू हुआ।[1] तब यहां रेड्डी, वेलम राजालोगों के यहां आश्रय पाकर दक्षिण के कितने ही वैष्णवाचार्य राजा और प्रजा को वैष्णव दीक्षा देते चले। उनके प्रोत्साह से कई वैष्णवालय भी निर्मित हुए। आलयों में आगमिक अर्चा-विधान के साथ प्रबंधम् का भी नित्यार्चा, नित्यानुसंधान, व्रतोत्सव आदि अवसरों पर विनियोग होने लगा। लेकिन प्रबंधम् के तमिल में होने से तेलुगुवालों को उसके पठन-पाठन व अर्थबोध में कठिनाई मालूम पड़ती थी। जिस महान उद्देश्य से समष्टि प्रार्थना व सामूहिक अर्चा में जाति-वर्ण-विचक्षण के बिना प्रबंधम् का अध्ययन संप्रदाय शुरू किया गया, वह आंध्रप्रांत में भाषाभेद के कारण कुंठित-सा हो गया। इसीलिए आंध्रप्रांत के कुछ वैष्णव भक्त कवियों ने प्रबंधम के अनुकरण में तेलुगु भाषा में भी उसी तरह की भक्ति तत्व निरूपण शैली में रचनाएं प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इस ओर १३ वीं सदी के प्रसिद्ध वैष्णव भक्तकवि श्रीकृष्णमाचार्य ने सबसे पहले कदम बढ़ाया और 'सिंहगिरि वचन' नामक ग्रंथ सिंहाचल क्षेत्र के श्रीवराह नृसिंह भगवान के यशोवर्णन में प्रस्तुत किया। इस दिशा में फिर दूसरा प्रयत्न हमारे आलोच्यकवि अन्नमाचार्य का ही हुआ। प्रबंधम् में ४००० पद्य या गीत हैं तो अन्नमाचार्य ने ३२००० गीत रचे। आप के पुत्र-पौत्रों ने भी इस काम में हाथ बंटाया, मंदिर व मठ बनवाये, आचार्य पुरुष होकर कितने ही लोगों को—ब्राह्मणेतरों को भी श्रीवैष्णव धर्म में दीक्षा दी और प्रबंधम् के साथ अपने संकीर्तनों का भी आलयार्चा में विनियोग करने की प्रथा प्रचलित की। प्रबंधम् को द्राविडवेद कहते हैं, अब उसके समकक्ष में बनी अन्नमाचार्य की रचना आंध्रवेद कहलाने लगी। इस संदर्भ में अन्नमाचार्य के पौत्र चिन्नन्ना ने 'अन्नमाचार्य चरित्र' में जो पंक्तियां लिखीं वे भी देखने लायक हैं। यह काव्यारंभ का भाग है, अतः स्तुति रूप में है।

---

1. आंध्रविज्ञान सर्वस्वमु, ३

"जगत् प्रसिद्ध, द्राविड आगम् के सार्वभौम कहलानेवाले अपने पूर्वजों और आलवारों का स्मरण करके, फिर[1]

"सभी वेदों को तमिल में प्रवर्तित करके, वेदांत के पारंगत पंडित होकर, गुरु पद को चरितार्थ बनाये हुए परांकुश (नम्मालवार) आदि योगियों का स्मरण करके,[2]

"वेदों को तेलुगु में प्रवर्तित करके संसार का खेद मिटाये हुए कृष्णमाचार्य और पंचमागम सार्वभौम श्री ताल्लपाक अन्नमाचार्य का स्मरण करके, मैं उन सभी की वंदना करता हूं।"[3]

इसी सिलसिले में 'अन्नमाचार्य चरित्र' की पीठिका में स्वर्गीय श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्रीजी के लिखे वाक्य भी उल्लेखनीय हैं। 'द्राविड वेद की रचना करने श्री शठगोपयति का अवतार हुआ। उसी तरह आंध्रप्रांत में आंध्रवेद की रचना करने अन्नमाचार्य का अवतार हुआ। आलवारों की रचना तमिल में द्राविडवेद और पंचम-आगम के नाम से चार हजार पद्यों (पाट्टुओं) से भरी है। इसी रचना को दिव्यप्रबंधम् भी कहते हैं। ये पद्य तेलुगु के सीस पद्य जैसे होते हैं। जो हो, आलवारों की रचना जब चार हजार पद्यों की है तब अन्नमाचार्य की रचना बत्तीस हजार पद्यों की है। ये पद भी दिव्य प्रबंधम् के आदर्श पर भक्त जीव और परमात्मा में पति-पत्नी भाव और नायक-नायिका भाव का वर्णन करते उज्जवल शृंगार रस की व्यंजना करते हैं। इन में भी कितने ही मंदिरों की अर्चामूर्तियों का विशद वर्णन मिलता है। यहां भी शरणागति का तत्व जोर-शोर से प्रतिपादित किया गया है। साथ साथ ये वेद लोक-नीति, धर्मबोध, भूत-दया जैसे आनुषंगिक विशेष बिषयों से विभूषित होकर वेद-वेदांत-इतिहास सूक्तियों.

---

1. "क्ष्मानुत द्राविडागम सार्वभौमु, लैन मा वारल नालुवारलनु।"

   अन्नमाचार्य चरित्र, पृ १

2. "वेंदम्बुलेल्ल द्राविडमुगा जेसि वेदांत विदुलु कोविदुलु नैनट्टि,
   गरुतरुलगु परांकुश मुख्य योगिवरुल नेन्नि।"

   अन्नमाचार्य चरित्र, पृ २

3. "वेदंबु तेलुगु गाविंचि संसार खेदंबु मान्पिन कृष्णमाचार्यु,
   घनतर पंचमागम सार्वभौमु ननधु श्रीताल्लपाकान्नमाचार्यु दलचि
   प्रशंसितु।" अन्नमाचार्य चरित्र, पृ २

तथा उनके अर्थ के वर्णनों से विपुल होकर, अगर पेरिय वाच्चान् पिल्लै† जैसे भाष्यकार मिले तो कितने ही अर्थ चमत्कारों को निकाल कर दिखाने योग्य विज्ञान-निधि बन पड़े हैं।"[1]

३.१.१.५ प्रबंधम् और अन्नमाचार्य की रचना :

निष्कर्ष यह है कि अन्नमाचार्य की रचना 'द्राविड प्रबंधम्', के आदर्श पर हुई तेलुगु पदावली है। इसका यथार्थ जानना है तो इन दोनों रचनाओं, द्राविड प्रबंधम् और अन्नमाचार्य के अध्यात्म व शृंगार संकीर्तनों, का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। अन्नमाचार्यजी आलवारों की पंक्ति में स्थान पा चुके। दिव्य प्रबंधम् में जो बातें वर्णित हुई हैं वे ही बातें अर्थात् भगवत् प्रेम, भक्ति का लक्षण, मोक्ष का उपाय, लीला का विलास, नाम संकीर्तन, दैन्य, विरह, परिताप, अवतार विभव, अर्चामूर्तियों का सौंदर्य जैसी सभी बातें अन्नमाचार्य की रचना में भी खूब वर्णित हुई हैं। अन्नमाचार्यजी स्वतंत्र प्रकृति के कवि थे। उत्साह और उद्वेगमयी हृदय रखनेवाले भक्त थे। संगीत शास्त्र के पंडित थे। अतः इनकी रचना द्राविड प्रबंधम् का अनुवाद न होकर उसका एक सफल अनुकरण हो पायी। उदाहरण के लिए आलवारों में प्रथम श्री पोयगै आलवार की एक दो गीतियों के साथ अन्नमाचार्य की रचना की तुलना करने से ये बातें सत्य साबित हो सकती हैं।

पोयगै आलवार की रचना १०० पद्यों की है। उसमें से दस पद्य श्री वेंकटेश्वर भगवान के बारे में लिखे मिलते हैं। उनमें 'एलवार विडैकोलवार' इत्यादि पद्यों में आलवार ने बताया है कि श्रीवेंकटाचल के दर्शन मात्र से ही आदमी को मोक्ष मिलता है, नारद, गरुड जैसे नित्य सूरी भक्त भी वैकुंठ से उतरकर वेंकटाचल में जाकर श्रीवेंकटेश्वर की सेवा करते हैं।[2] अन्नमाचार्य ने भी 'अदिवो अल्लदिवो हरिवासमु' नाम के पद में यही बताया है।[3] उन्होंने वेंकटाचल को देवताओं का निज निवास कहा है। इसे कैवल्यपद एवं हरिवास बताया है।

---

† नालायिर प्रबंधम् का प्रसिद्ध-व्याख्याता

1. अन्नमाचार्य चरित्र, पीठिका, पृ १२०

2. दिव्य प्रबंधम्, आलवारुल मंगलाशासनमुलु, पोयगै आलवार, पद २६

3. अ. सं. गा. पद १

पोयगै आलवार के 'वकै यरुमुपुर केल्वियाय वारकल' वाले पद्य में कहा गया है कि 'परमात्मा श्रीवेंकटेश्वर श्रीवेंकटाचल पर शंख बजाकर खड़े हैं। आज वह पहाड़ चारों ओर से भक्तों को आकृष्ट कर रहा है। कई भक्त यात्री धूप-दीप पुष्पमालाओं को लेकर जाते हैं और श्रीवेंकटेश्वर की अर्चा करते हैं।[1] इसी तरह 'वडैयारंवाण् कण्णरुं' नामक पद में आलवार ने भक्त महिमाओं का भी वर्णन किया है।[2] अन्नमाचार्यजी अपने 'नाना दिक्कुल नरुलेल्ल' वाले पद में कहते हैं कि सभी दिशाओं से यात्री लोग बारिश में भी यहां (श्रीवेंकटाचल) आते हैं। पत्नी-पुत्रों, पडोसी-बांधवों और हित मित्रके साथ सैकड़ों मील की दूरी से भी तीर्थयात्रा का व्रत लिए आते हैं। चढ़ावियों, मनौतियों, गांठों, धन-निवेदनों और मणि-माणिक्यों व गज-तुरगों को साथ लिए आते हैं।[3] आलवारों ने सरलार्चा का ही विधान बताया है। आलवारों के समय (७—९ वीं सदियों) के पूजा-क्रम से अन्नमाचार्य के समय (१५ वीं सदी) का पूजा-क्रम जरा बदल गया सा दीखता है। तभी अन्नमाचार्य की रचना में मणि-माणिक्य व गज-तुरंगों की बात आयी है। आलवार लोग जिस किसी भी अर्चामूर्ति का वर्णन करें, उस भगवान के पर व्यूह विभव आदि अन्य रूपों का भी वर्णन करके, उन सब का अभेद मानकर, अंतर्यामी का तत्व समझकर प्रपत्ति का भाव दिखाते हैं। "वेल्लत्तु नुल्लानुं, वेंगडत्तु सेयानुं, उल्लत्तु नुल्लानु एड्रवोर" कहकर पोयगै आलवार ने क्षीरसागर-शायी भगवान नारायण, वेंकटाचलस्थायी श्रीनिवास और भक्त हृदयांतर्यामी परमात्मा का अभेद व्यक्त किया है।[4] 'उनरवार्नार उन पेरुमै' वाले पाशुर (पद्य) में वेद-वेदांत-अगोचर परमात्मा सर्वजगन् नियंता को ही श्रीवेंकटेश्वर कहकर उनके पर, व्यूह व उर्चा रूपों में समन्वय दिखलाया है।[5] "इडंदडु भूमि, येडत्तडु कुंड्रू" वाले पद में भगवान के वराह, वामन, राम और कृष्ण अवतारों का विभव गाकर श्रीवेंकटेश्वर की महत्ता बतायी है।[6]

अन्नमाचार्य ने भी इसी संप्रदाय का अनुसरण किया। उनके निम्न लिखित पद इसके उदाहरण हैं।

---

1. आलवारुलमंगलाशासनमुलु, पोयगै आलवार, पद ३८
2. „ „ पद ८२
3. अ. सं. गा, पद १४
4. आलवारुल मंगलशासनमुलु, पोयगै आलवार, पद ११
5. „ „ पद ६८
6. „ „ पद ३९

१. "वंदेहं जगद् वल्लभं दुर्लभं ।
मंदर घरं गुरुं माधवम् भूधवं ।।
राम नामं यज्ञ रक्षणं लक्षणं ।
वामनं कामिनं वासुदेवं ।
श्रीमदावासिनं श्रीवेंकटेश्वरं
श्यामलं कोमलं शांत मूर्ति ।।[1]

२. "अंदरिकि सुलभुडै अंतरात्म उन्नवाडु
इंदुने शेष गिरिनि यिरवै विष्णुडु ।।
योगीश्वरुल मति नुंडेटि देवुडु
क्षीर सागरशायि यैन सर्वेशुडु ।
भागवताधीनुडैन परम पुरुषुडु
आगमोक्त विधुल नलरिन नित्युडु ।।[2]

(अंतरात्मा के रूप में रहनेवाला विष्णु भगवान यहीं वेंकटाचल पर बसकर सबको सुलभ प्राप्य बना है । योगीश्वरों के दिल में रहनेवाला और क्षीरसमुद्र में विश्राम लेनेवाला देव यही है । यही भक्तों के अधीन में रहनेवाला परमपुरुष है। आगमोक्त विधानों से अर्चित नित्य परमात्मा यही है ।)

नित्यानुसंधान, नित्यार्चा और विशेष-उत्सवों के अवसरों में विनियुक्त होनेवाले प्रबंधम् के भागों की सूची पहले दी गयी है । अन्नमाचार्य की रचनाओं में भी वैसे सभी अवसरों पर, अर्थात् सुप्रभात, अभिषेक, अलंकरण, पुष्पदान, राज भोग, निवेदन, स्वस्ति, आरती, मंगलाशासन, डोला, झूला, पर्यंक, एकांत-सेवा आदि अवसरों पर काम में आने योग्य सैकड़ों पद मिलते हैं । आखेट, यात्रा, विवाह, ब्रह्मोत्सव, वसंतोत्सव और विविध जयंतियों के समय विनियोग में लाने योग्य पद भी अनेक मिलते हैं ।

आलवारों की तरह अन्नमाचार्य भी देश के प्रसिद्ध क्षेत्रों में स्थित विभिन्न अर्चा मूर्तियों का बड़े उत्साह से वर्णन करते हैं । किंतु, उनसे अपने इष्टदेव श्रीवेंकटेश्वर का अभेद सूचित किये बिना नहीं रहते ।

---

1. अ. सं. गा, पद ६२

2. अ. सं. ८–२८१

३.१.१.६ नम्मालवार और अन्नमाचार्य :

जैसे हम पहले कह चुके हैं, आलवारों में नम्मालवार का नाम अग्रगण्य है। इसीतरह दिव्य प्रबंधम् में उनकी रचना तिरुवायिमुड़ि को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। ११०२ पद्यों की इस रचना में हर एक पूर्व पद्य का अंतिम पद बाद के पद्य का आदि पद होकर निरंतर तैलधारा की तरह बहनेवाली भक्ति धारा का आदर्श दिखाता है। तमिल में ऐसी रचनाओं को "अंदादि" रचनाएं कहते हैं। अन्नमाचार्य के पुत्र पेदतिरुमलाचार्य की "चक्रवालमंजरी" नामक कविता तेलुगु में इस तरह की रचना है। नम्मालवार की रचना उनके श्रीमुख से अनाहूत आशुकविता के रूप में निसृत भक्तिरस का अमृत प्रवाह है। तभी इसे तिरुवायिमुड़ि (श्रीमुखसूक्ति) कहते हैं। प्रपत्ति-भाव-वर्णन की ज्यादती से इसे "दीर्घ शरणागति" भी कहते हैं। इसके पहले पद्य में ही शरणागति-तत्व वर्णित है। बाद के कई पद्यों में भगवान, भक्तजीव, प्रकृति, मुक्ति जैसे तात्विक विषयों का विशद वर्णन हुआ है। अन्यान्य अर्चा-मूर्तियों के साथ श्रीवेंकटेश्वर की अर्चामूर्ति का भी इस में विशेष रूप से वर्णन मिलता है। नम्मालवार के मत में 'वैकुंठ' भगवान श्रीमन्नारायण ही श्रीवेंकटेश्वर हैं, जो तिरुमल पहाड़ पर आ बस गया है। अतः जो लोग वहां जाकर उसकी सेवा करते हैं, वे सचमुच बड़े भाग्यवान हैं।'[1] अन्नमाचार्य का आराध्यदेव यही श्रीवेंकटेश्वर है। नम्मालवार की भक्ति शृंगार-भक्ति अथवा मधुर-भक्ति है। तिरुवायिमुड़ि में नायक (भगवान) के विरह में विकल होनेवाली नायिका (भक्त जीव) की स्थिति, दीनता, उत्कंठा, शरणागति और नायक द्वारा नायिका की स्वीकृति (विवाह) जैसी बातों का सुंदर काव्यमयी ढंग से वर्णन मिलता है। उनकी एक दूसरी रचना "तिरुविरुत्तम्" में भी यही नायक-नायिका भाव रूपी भक्ति वर्णित है, किंतु वहां उसका कथानक-शैली में निर्वाह हुआ है। अन्नमाचार्य के 'शृंगार मंजरी' इसी तरह की रचना है, जिसमें कवि की जीवात्मा रूपी नायिका का नायक भगवान के दिव्य कल्याण गुणानुश्रवण से उनसे अनुरक्त होना, उनके विरह में तड़पना, सखियों द्वारा उसका शीतलोपचार किया जाना, नायक के पास दूती भेजना, नायक का अनुग्रह होना और अंत में विवाह जैसे सभी विषय ब्यौरेवार वर्णित हुए हैं। नम्मालवार की नायिका का कोई नाम नहीं मिलता। हमारी बाला, हमारी लड़की जैसे संकेतों से ही उसका कवि द्वारा व्यवहार होता

---

1. तिरुवायिमुड़ि : नम्मालवार, ९–३

है। अन्नमाचार्य की रचना में भी नायिका की यही स्थिति है। दूसरे शब्दों में, वह कवि की आत्मा है। अन्नमाचार्य अपने को वेंकटेशदासी कहते हैं।[1]

अन्नमाचार्य और नम्मालवार के मनोधर्म एवं रचना धर्म में जो इस तरह का बाह्य-अभ्यंतर साम्य प्रकट होता है उससे प्रभावित होकर ही "अन्नमाचार्य चरित्र की पीठिका" में श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्रीजी लिखते हैं कि द्राविड़वेद की रचना करने श्री शठगोपयति (नम्मालवार) का अवतार हुआ।[2] फिर वे इन दोनों महापुरुषों के संबंध में व्यक्त होनेवाले और कई साम्यों का यों उल्लेख करते हैं। "शठगोपयति वैशाख मास में विशाखा नक्षत्र के दिन पैदा हुए। अन्नमाचार्य का जन्म-दिन भी वैशाख मास में विशाखा नक्षत्र पर पड़ता है। शठगोपयति ने सोलह वर्ष की उम्र में ही ज्ञानी व वाग्मी बनकर द्राविड संकीर्तनों की रचना करने निमित्त भगवान का अनुग्रह पाया। अन्नमाचार्य ने भी उसी तरह सोलह वर्ष की उम्र में ही भगवान का दर्शन-भाग्य पाकर संकीर्तनों की रचना शुरू की। शठगोपयति ने तिरुवेंगडनाथ (श्रीवेंकटेश्वर) की स्तुति में, और कई दिव्य क्षेत्रों में विलसित विष्णुमूर्तियों के भजन में, पाशुरों (पद्यों) की रचना की। अन्नमाचार्य ने प्रधान रूप से श्रीवेंकटेश्वर के भजन में और थोड़ी बहुत अन्य पुण्य-स्थलों में विलसित विष्णुमूर्तियों की स्तुति में पदों की रचना की। कहा जाता है कि शठगोपयति का जन्म श्रीवेंकटेश्वर स्वामी के कौस्तुभ के अंश से हुआ था। अन्नमाचार्य के बारे में भी यही बताया जाता है कि वे स्वामी के नंदक के अंश में पैदा हुए थे।"[3]

नम्मालवार की तिरुवायिमुड़ि के प्रति अन्नमाचार्य की अतीव श्रद्धा है। सभी वे कहते हैं कि 'वेद का चाहे कितना ही अध्ययन करें, भगवान का स्वरूप जानना तो कठिन ही रह जाता है। इसीलिए तिरुवायिमुड़ि रूपी यह पंचमवेद बना, जो कलियुग के लोगों को उपाय रूपी भक्ति और उपेय रूपी भगवान की प्राप्ति दोनों को सुलभ-साध्य करनेवाला दिव्यमंत्र है।'[4]

३.१.१.७ निष्कर्ष :

निष्कर्ष यह है कि अन्नमाचार्य की रचना का प्रेरणास्रोत द्राविड प्रबंधम् ही है। उनकी रचना के आकार, प्रकार व स्वभाव सभी पर प्रबंधम् का प्रभाव

---

1. अ. सं. ७–२४८
2. अन्नमाचार्य चरित्र पीठिका, पृ १२०
3. अन्नमाचार्य चरित्र पीठिका, पृ १२१
4. अ. सं. ११–२–६०

प्रचुर प्रमाण में पड़ा है। हां, इस बात में उनकी वैयक्तिक अभिरुचि, संप्रदायगत निष्ठा, कालोचित नीति आदि अन्य बातें भी सक्रिय रहीं। अन्नमाचार्य की रचना स्वतंत्र रीति से, (प्रबंधम् के अनुकरण रूप में) हुई है, अतः उसमें ऐसी कई अन्य बातों का भी समावेश हुआ मिलता है, जो प्रबंधम् में नहीं मिलतीं। उदाहरण के लिए, हनुमान की स्तुति में रचे पद ले सकते हैं। प्रबंधम् में ऐसी स्तुतियां नहीं मिलतीं। अवतार कथाओं को क्रम बद्ध रूप में वर्णित करने के बदले प्रबंधम् में अकसर उनकी सूचनाएं मात्र दी जाती हैं। सिर्फ कुलशेखर आलवार की रचना 'पेरुमाल तिरुमोलि' में ही अंतिम भाग में राम कथा का क्रम बद्ध वर्णन हुआ है। अन्नमाचार्य की रचना में राम कथा, नृसिंहावतार कथा, आदि के क्रम बद्ध वर्णन में कितने ही पद मिलते हैं। प्रबंधम् में दशों अवतारों की क्रमबद्ध सूची तक कहीं नहीं मिलती। फिर अन्नमाचार्य की रचना में बुद्धावतार की भी स्तुतियां मिलती हैं। अन्नमाचार्य तो तिरुपति के क्षेत्र-माहात्म्य की कथाओं का भी वर्णन करते हैं और कभी कभी अपने जीवन में घटित कुछ विशिष्ट घटनाओं का भी उल्लेख करते हैं। प्रबंधम् में ऐसी बातों को जगह नहीं है।

३.१.२ वल्लभ मत और सूरदास

३.१.२.१ वल्लभ मत :

सूरदास वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए। सांप्रदायिक ग्रंथों का साक्ष्य है कि वल्लभाचार्यजी ने सूर को पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनाया और तभी सूरदास के हृदय में भागवत की सारी लीलाओं का स्फुरण हुआ तो उन्होंने प्रथम स्कंध से लेकर द्वादस स्कंध तक की भागवत कथा पदों में रचकर गायी।[1] तात्पर्य है कि सूरदास की रचना भागवत पुराण के अनुसरण में हुई, किंतु उसमें दान-लीला, मान-लीला आदि का वर्णन भी हुआ है, जिसका कारण पुष्टिमार्ग की नियत सेवा पद्धति है। पुष्टि संप्रदाय में भागवत की विशेष मान्यता है। आचार्य प्रभु ने भागवत को चौथा प्रस्थान माना है। आचार्यजी के अनुसार भागवत में तीन प्रकार की भाषा है—लौकिकी, परमत और समाधि। लौकिकी भाषा उसे कहते हैं जो ऐतिहासिक चरित्र रूप में सूतजी द्वारा कही गयी थी। परमत भाषा वह है जो अन्य ऋषि-मुनियों के विभिन्न मतों के रूप में उपस्थित की गयी है। समाधि भाषा उसे कहते हैं जो स्वयं व्यासजी को समाधि में जो कुछ प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था उसका वर्णन करती है और व्यास-शुकदेव द्वारा कही हुई है। इसी समाधि भाषा को महाप्रभु ने प्रमाण चतुष्टय में स्वीकार किया है। यही

---

1. सूरदास की वार्ता, प्रसंग—२ पृ १०

भाषा भक्ति का मूल है ।[1] सूर की रचना को देखते यही मानना पड़ता है कि उन्होंने इसी व्यास-शुकदेव संवादवाली समाधि भाषा में निबद्ध भागवत कथा को ही अपनी रचना का मूल आधार माना था ।

३.१.२.२ भागवत पुराण :

भागवत पुराण का निर्माण ही भक्ति तत्व के प्रतिपादन केलिए हुआ । महाभारत का नारायणीय धर्म और भागवत पुराण का भागवत धर्म दोनों आदि में एक होने पर भी दोनों ग्रंथों में प्रधानता भिन्न भिन्न सिद्धांतों की हुई है । गीता तो महाभारत का ही एक भाग है । महाभारत और गीता में निष्काम कर्म युक्त प्रवृत्ति मार्ग का जो प्रतिपादन हुआ उसमें भागवतकार ने भक्ति को भी जोड़ दिया और यह सिद्ध किया कि भक्ति के बिना निष्काम कर्म संभव नहीं है । फिर, महाभारत से लेकर पौराणिक युग तक कृष्ण का जो कुछ विवेचन हुआ वह सब भागवत में समन्वित रूप से लिया गया है। यहां आकर श्वेतद्वीप का नारायण ऋषि, वैकुंठवासी या क्षीरसागरशायी नारायण, विष्णु भगवान और बृंदावन विहारी कृष्ण सब एक हो गये हैं । भगवान के विभिन्न अवतारों का वर्णन करके भागवतकार कहते हैं कि 'येते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।'[2] वैसे तो पुराणों में तीन प्रकार के अवतार वर्णित हैं—पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार । वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूपी व्यूह को पुरुष अवतार कहते हैं । ब्रह्म, विष्णु और शिव रूपी त्रिमूर्ति को गुणावतार बताते हैं । मत्स्य कच्छप आदि अन्य अवतारों को लीलावतार मानते हैं । भागवत में लीलावतारों की संख्या २४ बतायी गयी है । इसमें कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, धन्वंतरी आदि को भी अवतार माना गया । कृष्ण भी एक अवतार है, किंतु वह ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज रूपी षट् गुणों से युक्त, भू-भार-हरण समर्थ एवं भक्तानुग्रहशील लीलावपुधारी साक्षात् परब्रह्म माना गया है । भागवत में कृष्ण के लोकरक्षक और लोकरंजक दोनों रूप वर्णित हैं । साथ उनके योगीश्वरेश्वर परब्रह्म परमानंद रूप का भी निरूपण हुआ है। भगवान कृष्ण भागवत के अनुसार अनंत लीलामय होकर भी उन लीलाओं के भीतर पूर्ण निर्लिप्त एवं निरामय है ।

हमारे आलोच्यकवि सूरदासजी का मन कृष्ण के इन सभी स्वरूपों में से उनके बाल और किशोर लीला रूपों में ही अधिक रमा है । "श्रीमद् भागवत का बालकृष्ण सब कलाओं से पूर्ण है । वेदांत सुनाता हुआ भी असुरों का संहारक

---

1. सूर और उनका साहित्य, पृ १५७
2. भागवत पुराण, १–३–२८

है, क्षात्र तेज धारण करता हुआ भी मोहन है, गंभीरता का समुद्र होते हुए भी मुरली बजाता, नाचता, गाता हंसता है।"[1] भक्तों को उनका यही व्रज-किशोर रूप परमप्रिय है। भक्त लोग ब्रह्मानंद से भी एक ऊंची कक्षा का आनंद, परमानंद चाहते हैं। उनके मत में भागवत का बालकृष्ण ही परमानंद है। इसकी प्राप्ति भक्त को भगवान से अलग रहकर उनकी सेवा व ध्यान-मनन से ही होती है। इसी से वह कैवल्य मुक्ति स्वीकार न करके भजनानंदी ही बना रहता है। सूरदास भजनानंद को ही परमानंद माननेवाला भक्त कवि है। अन्नमाचार्य का भी यही वास्तविक रूप है।

भागवत पुराण के निर्माण काल के बारे में विद्वानों के कई मत हैं। भंडारकर, परजीटर, विंटरनीट्ज जैसों के मत में यह नौवीं सदी की या बाद की रचना है।[2] किंतु भागवत का उल्लेख पद्म पुराण, स्कंध पुराण, मत्स्य पुराण आदि में हुआ है। इसकी स्कंध, अध्याय व श्लोक संख्या भी बताई गई है। "सांख्य कारिका पर माठर आचार्य की जो टीका है उसका अनुवाद परमार्थ नामक बौद्ध पंडित ने सन् ५५७–५५९ ई के मध्य किया था। उसमें भागवत के पहले स्कंध के छठे अध्याय का ३५ वां श्लोक ज्यों का त्यों दिया हुआ है। उसी तरह आठवें अध्याय का ५२ वां श्लोक भी उसमें उद्धृत है।"[3] लेकिन उसमें रासक्रीडा का वर्णन, राधा का अभाव जैसी बातें जो हुई उनसे यह अनुमान किया जाता है कि शायद भागवत का कोई प्राचीन संस्करण एक रहा हो, जो कई प्रक्षिप्तों से बढ़कर आज के संस्करण का रूप पा चुका हो। पर आज का यह रूप भी नौवीं सदी से बाद का नहीं हो सकता। क्योंकि गौडपाद आचार्य की रचना में भागवत में से उद्धरण मिलता है।

भागवत पुराण के रचयिता के बारे में भी पंडितों में मतभेद है। "किसी ने यह बात उड़ा दी है कि भागवत पुराण के रचयिता बोपदेव थे। यह अत्यंत भ्रांति मूलक बात है। बोपदेव ने भागवत के वचनों का एक संग्रह ग्रंथ तैयार किया था। लेकिन यह बात धीरे धीरे विश्वास की जाने लगी है कि इस महा पुराण की रचना कहीं दक्षिण देश में ही—केरल या कर्णाटक में हुई होगी, क्योंकि बृंदावन के प्रसंग में शरत् काल में जिन पुष्पों के फूलने का वर्णन इस ग्रंथ में आया है, उनमें से कई बृंदावन में उस समय नहीं फूलते और केरल-कर्णाटक में

---

1. सूर और उनका साहित्य, पृ १३५
2. आलवार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण काव्य, पृ १७५
3. सूर और उनका साहित्य, पृ १३९

फूलते हैं। इस विषय में भी कोई संदेह नहीं कि भागवत अन्यान्य पुराणों की अपेक्षा एक हाथ की रचना अधिक है।"[1]

३.१.२.३ भागवत और आलवार प्रबंधम् :

इस संदर्भ में डा. हरिवंशलाल शर्मा जी लिखते हैं कि "यदि श्रीमद् भागवत को हम नौवीं शताब्दी की रचना मानें और उसको दक्षिण देश में लिखा हुआ स्वीकार करें तो उस समय की धार्मिक परिस्थितियों के ठीक मेल में श्रीमद् भागवत का विषय उतरता है। श्री शंकराचार्यजी का अद्वैत मत प्राचीन भागवत धर्म का पोषक था। भक्ति पद्धति में जिन नवीन तत्वों का समावेश आलवार और अडियार भक्तों के संपर्क से बढ़ रहा था उनको शंकराचार्यजी ने अपने मत में कोई स्थान नहीं दिया और न ही उन्होंने भक्ति को सर्वोपरि माना। श्रीमद् भागवत पुराण में इस बात का उल्लेख है कि नारायण के भक्त कलियुग में कहीं कहीं होंगे, परंतु द्राविड देश में, जहां कि ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी और महानदी नदियां बहती हैं, विशेष रूप से होंगे। इन नदियों के जल का पान करनेवालों के हृदय शुद्ध होंगे। (भागवत, ११–५–३८ से ४०) इससे पता चलता है कि भागवत पुराण की रचना के समय तमिल देश में कृष्ण भक्ति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था।"[2]

कहने की जरूरत नहीं कि भागवत में जिन द्राविडदेशी भक्तों का उल्लेख हुआ है, वे प्रसिद्ध आलवार वैष्णव भक्त ही हैं। श्री नम्मालवार की स्तुति में उनको इसी ताम्रपर्णी नदी तट के आलवार तिरुनगरी में प्रसिद्ध इमली के पेड़ के मूल में विराजनेवाले महात्मा बताया गया है।[3] इससे सिद्ध होता है कि भागवतकार को आलवारों तथा उनके प्रबंधम् का अच्छा परिचय था। अवतारों का एवं लीलाओं का विस्तार जो प्रबंधम् में अन्य पुराणों की अपेक्षा अधिक मिलता है और भक्ति का जो सर्वाधिक महत्व भागवत में प्रतिपादित हुआ है, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भागवतकार प्रबंधम् से अवश्य प्रभावित हुआ होगा। लेकिन याद रहे कि प्रबंधम् भिन्न भिन्न व्यक्तियों से भिन्न भिन्न

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ ७१
2. सूर और उनका साहित्य, पृ १४०
3. श्रीनगर्यां महापुर्यां ताम्रपर्ण्युत्तरे तटे।
   तिंत्रिणी मूलधाम्ने श्रीशठगोपाय मंगलम्॥
   हिस्टरी आफ तिरुपति, भाग २, पृ ४१ में उद्धृत।

समयों में रचे हुए पद्यों का संग्रह है, जब कि भागवत पुराण एक ही व्यक्ति की रचना है। अतः अवतार लीलाओं का जो क्रमबद्ध वर्णन भागवत में मिलता है वह प्रबंधम् में नहीं मिलता। फिर भी "प्रबंधम् में बिखरे पड़े भक्ति तत्वों और कृष्ण-लीलाओं को सुव्यवस्थित रूप में अथवा क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय तो प्रबंधम् और भागवत के वर्ण्यविषय में विशेष अंतर नहीं दीख पड़ेगा।"[1]

प्रबंधम् तो आलवार भक्तों के भावाकुल हृदय से निकले हुए भक्तिभरे उद्गारों का संग्रह है, अतः वह मुक्तक गीति शैली में मिलता है। न तो उसमें दार्शनिक तत्वों का तर्कबद्ध शैली में प्रतिपादन मिलता है न किसी भगवल्लीला का क्रमबद्ध कथानक शैली में वर्णन। भगवान, भक्त-जीव, मोक्षोपाय, वैराग्य जैसी बातों के जिस तरह इतस्ततः बिखरे हुए उल्लेख मिलते हैं, उसी तरह उसमें कृष्ण-चरित संबंधी बाललीला, गोपलीला, गोपीप्रेम, रासक्रीडा, वेणुवादन, पूतनाहरण, शकटासुर-भंजन, यमलार्जुन विजय, गोवर्धनोद्धार जैसी कितनी ही घटनाओं की पुनः पुनः प्रस्तावित सूचनाएं प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। प्रबंधम् में कृष्ण के बाल-चरित से संबंध रखनेवाली कुछ ऐसी घटनाओं की सूचनाएं भी मिलती हैं, जिनकी चर्चा भागवत पुराण में नहीं मिलती। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रबंधम् और महा भागवत के निर्माण काल तक दक्षिण देश में कृष्ण चरित संबंधी ऐसी कई कहानियां प्रचार पा चुकी थीं और इन कवियों ने अपनी अभिरुचि के अनुसार उनको लेकर अपनी रचनाओं में उनका यथोचित रूप में वर्णन किया है। मुक्तक रचना होने से प्रबंधम् में इनका संक्षेप में सूचना-प्राय वर्णन हुआ तो महापुराण होने से भागवत में इनका क्रमबद्ध कथारूप में वर्णन हो पाया है।

३.१.२.४ भागवत-भक्तिमार्ग और सूरदास :

भागवत पुराण की रचना का मुख्य उद्देश्य भगवद् यशोवर्णन व गुणानुकीर्तन है। यही भक्ति को सुदृढ करने का मूलमंत्र है। इससे निष्काम कर्म एवं निर्मल ज्ञान की सिद्धि संभव है। भागवत के प्रथम स्कंध के पांचवें अध्याय में बताया गया है कि नारद मुनि के द्वारा व्यास जी को यह उपदेश मिला कि वे समाधिस्थ होकर भगवल्लीलाओं का अनुस्मरण करें।[2] उसी स्कंध के सप्तमाध्याय में कहा है कि व्यास ने नारद के कहे अनुसार समाधिनिष्ठ होकर भगवान के

1. आलवार तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण काव्य, पृ १७५
2. भागवत, १–५–८ से १३ तक

गुण-लीलाओं का साक्षात्कार करके भागवत की रचना की ।[1] फलस्वरूप इसमें वर्णित भगवल्लीलाओं से मर्त्यों व अमर्त्यों दोनों को आनंद देनेवाला अमृतोपम रसानंद मिलता है । समस्त वेदांतों का सार और आत्मा की एकता रूपी अद्वितीय वस्तु इसका प्रतिपाद्य है । कैवल्य मुक्ति ही इसके निर्माण का प्रयोजन है ।[2] यद्यपि इस तरह भागवत में श्रौतधर्म की ही पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है और श्रुतियों के अनुसार यज्ञ, दैवत और अध्यात्म रूपी अर्थ किये गये हैं, तो भी विभिन्न वैष्णव संप्रदायों में इसकी अपने अपने मतानुकूल व्याख्याएं हुई हैं । पुष्टि संप्रदाय के आचार्य वल्लभ ने 'समाधिः व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्' कहकर भागवत की सुबोधिनी टीका केवल उन्हीं स्कंधों पर की, जिनकी संगति उन्हें अपने सिद्धांतों से जोड़नी थी । उन्हें दशम स्कंध ही बहुत प्रिय था और उसी की उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है । सूरदास ने अपने गुरु वल्लभ से इसका तत्व सुना होगा । अतएव उनकी भी रुचि दशम स्कंध की कथा से अधिक लगी हो । इसीलिए हो यद्यपि सूरदास ने कहा कि

> "व्यास कहे सुकदेव सो द्वादश स्कंध बनाइ
> सूरदास सोई कहै पद-भाषाकरि गाइ ।"[3]

तो भी उन्होंने भागवत का यथावत् अनुवाद न करके उसका अपने मनोनीत अनुसरण ही किया है । फलतः सूरसागर और भागवत की तुलना करने पर हमें निम्न लिखित विषय स्पष्ट होते हैं ।

१) सूर का भागवतानुसरण दशम स्कंध को छोड़ कर अन्य स्कंधों में उनके वर्णनात्मक प्रसंगों तक ही सीमित है । गेयों में उसका अनुसरण नहीं मिलता ।

२) सूर ने भागवत के कितने ही पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रसंगों को यों ही छोड़ दिया है और कथाओं में परस्पर संबंध सूत्र का भी ठीक तरह से निर्वाह नहीं किया है ।

३) भागवत के दार्शनिक पक्ष को सूरसागर में प्रश्रय नहीं दिया गया है ।

४) सूरदास ने कथाओं के निर्वहण में वर्णनात्मक शैली को और हरिलीला गान में गेय पद शैली को अपनाया है ।

---

1. भागवत १–७–२, ३, ४, ११
2. भागवत १२–१३–११, १२
3. सूरसागर, २२५

५) लीलागान में भी सूर ने दशम स्कंध में वर्णित लीलाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य लीलाओं को भी स्वीकृत किया है। उनका स्रोत भागवतेतर पुराण साहित्य है। पुष्टि मार्गीय सेवा-प्रणाली को भी उनका प्रेरणा-स्रोत मान सकते हैं।

६) सूर ने भागवत में वर्णित लीलाओं में से कइयों को अपनी भावना के विस्तृत क्षेत्र में लेकर उनका तन्मयता-पूर्ण परिपक्व शैली में विपुल व्याख्या-सरीख वर्णन किया है।

इनके अलावा राधा-कृष्ण प्रेम, पनघट प्रसंग, दानलीला, मानलीला आदि का वर्णन सूर ने अपनी प्रतिभा, कल्पना एवं भावना-शक्ति के बल स्वतंत्र एवं मौलिक ढंग से किया है। संभव है, यहां कुछ अन्य भक्ति संप्रदायों का प्रभाव भी सूरदास पर पड़ा हो।

गुरु-प्रसाद से सूर को भगवल्लीला का स्फुरण हुआ और गुरु के आदेश पर ही उन्होंने श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन-सेवा को अपनाया। फलतः व्रजभाषा में भी प्रबंधम्, अन्नमाचार्य पदावली, सहजिया साहित्य जैसा साहित्य निर्मित होने लगा और संप्रदाय को भी पुष्टि मिलने लगी। सूर को इस कीर्तन-वर्णन रूपी सेवा के अनुसार नित्य नई उद्भावनाओं को काम में लाकर भगवल्लीलापरक नित नये विषयों को नित्य नूतन शैली में रचकर गाने की आवश्यकता हुई होगी। तभी उन्होंने भागवत के दशम स्कंध की कथा को ही अपना प्रधान वर्ण्य माना होगा और उसी स्कंध की कथा से संबंध रखनेवाले पदों को ही सहस्रों की संख्या में रचा होगा। अब तक प्राप्त सूरसाहित्य का अस्सी प्रतिशत भाग दशम स्कंध से ही संबंध रखता है। फिर, पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण और किशोर कृष्ण ही आराध्य देव हैं। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में संप्रदाय में नई नई बातों का समावेश हो गया, जिसके फलस्वरूप माधुर्य भाव और राधा-कृष्ण प्रेम भाव की साधना को अधिक प्रश्रय मिल गया। उस समय के कुछ अन्य भक्ति संप्रदायों में भी यह राधा-कृष्ण भक्ति प्रमुख दीखती है। वृंदावन में चैतन्य संप्रदायवालों की साधनाएं गुजरती थीं। संकीर्तन के साथ लीलाप्रदर्शन व अभिनय भी हुआ करते थे।[1] फलतः सूर की रचना में भी ऐसी कई लीलाओं का विस्तार से वर्णन हो पाया है, यद्यपि उनमें से कुछ का भागवत में उल्लेख नहीं मिलता।

---

1. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—डा. दशरथ ओझा, पृ १८२—३

३.१.२.५ सूरदास और भागवतेतर तत्व :

भागवत में राधा का उल्लेख नहीं मिलता। बदले में किसी एक विशिष्ट गोपी का उल्लेख मिलता है, जिसे कवि ने गुप्तनामा रखा है।[1] प्रबंधम् में 'नप्पिन्नै' नाम से एक गोपी का चरित वर्णित है। उसके साथ और अन्य गोपियों के साथ मिलकर कृष्ण का 'कुरवैकूतु' (रासलीला) में भाग लेना भी वहां वर्णित है। कई आलोचकों का मत है कि नप्पिन्नै राधा का ही नामांतर या रूपांतर है।[2] तमिल से अनूदित तेलुगु और संस्कृत रचनाओं में नप्पिन्नै को 'नीला' कहा गया है।[3] जो हो, चरित के साम्य से नप्पिन्नै और राधा को एक मानने में कोई असंगति नहीं है। उसी तरह 'कुरवैकूतु' को भी रासक्रीडा मान सकते हैं। गोपिकाओं का कृष्णप्रेम और उनके गोदावरी-तीर में कृष्ण-विरहाकुलित होने का वर्णन क्षेमेंद्र के दशावतार चरित में मिलता है।[4] फिर, गीतगोविंद में राधा और कृष्ण की प्रेमकथा का क्रमबद्ध वर्णन हुआ है। इधर लीलाशुक बिल्वमंगल के कृष्णकर्णामृत काव्य में बालकृष्ण से लेकर राधा-कृष्ण एवं रासकेली-लोल-कृष्ण तक की समस्त भूमिकाओं का वर्णन हुआ है। लीलाशुक को विष्णुस्वामी के शिष्य अथवा मतानुयायी कहते हैं और वल्लभ संप्रदाय के वार्ता-साहित्य के आधार पर यही विश्वास किया जाता है कि लीलाशुक ने ही वल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत संप्रदाय की गद्दी को स्वीकार करने का प्रोत्साह दिया था।[5] यह भी कहा जाता है कि वल्लभाचार्य के पूर्वज विष्णुस्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे।[6] विष्णुस्वामी का उपास्य देव गोपाल कृष्ण थे। लीलाशुक का भी वही आराध्य देव था। लीलाशुक कृष्णातीर में अमरावती, श्रीकाकुलम् आदि जगहों में कुछ दिन विचरते रहे। उनका संबंध पूरी जगन्नाथ, बृंदावन और पंडरीक्षेत्र से भी बताया जाता है। इन सभी स्थानों में उनके अनुयायी शिष्य बने होंगे। चैतन्य चरितामृत में लिखा है कि चैतन्यप्रभु को गोदावरी-तीर में ही कृष्णकर्णामृत की प्रति प्राप्त हुई।[7] कृष्णा-गोदावरी मंडल के आंध्र भागवत-

---

1. भागवत, १०–३०–२८, २९, ३०
2. आलवार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण काव्य, पृ २०५
3. तिरुप्पावै सप्त पदुलु—श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, पद्य २०
4. क्षेमेंद्र का दशावतार चरित, ८–१७६
5. संप्रदाय प्रदीप, पृ ८७
6. आलवार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण काव्य, पृ ७५
7. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, परिच्छेद ९

नर्तकों के नृत्य-नाटकों में गीतगोविंद एवं कृष्णकर्णामृत का कभी से अभिनय होता आ रहा हैं। आलोच्य काल में, अर्थात ई १५–१६ सदियों में उनके नाट्यों का प्रचार श्रीजगन्नाथ से लेकर हंपी विजयनगर तक होता रहा। इनके नृत्य-नाटकों में बाल-गोपाल, राधा, रास आदि विशिष्ट भूमिकाएं प्रदर्शित एवं अभिनीत होती हैं। संभव है, वल्लभाचार्य जी को, स्वयं तेलुगुवाले और कृष्णा-गोदावरी तीर के होने से अथवा अपनी भूप्रदक्षिणाओं में कभी देखने से भागवत नर्तकों का परिचय प्राप्त हुआ होगा। आचार्य जी को अपनी तिरुपति-यात्राओं में अन्नमाचार्य के पदों का भी परिचय मिला होगा। अन्नमाचार्य के पदों में गोपी-कृष्ण संवाद और राधा-कृष्ण केली विनोद के वर्णन में कितने ही पद मिलते हैं। उदाहरण केलिए उनका संस्कृत में रचा हुआ एक पद नीचे दिया जाता है।

राग : शंकराभरण

अहो सुरत विहारोयं, सहज पराजय शंका नास्ति ॥

यमुनाकूले सुमलतागृहे, विमल सैकत विजन स्थले ।
रमणी रमणा रमतस्तयोः, प्रमदस्य परात्परं नास्ति ॥

रजनी का वा प्रातः किंवा, त्यजनं भजनं तत् किं वा ।
विजयः को वापजयंः को वा, भुज परिरंभः स्फुटं नास्ति ॥

चीनांशुक रंजित मेखला विताने जघनं तरति सति ।
मान विकलने मानिनीमणे, हीनाधिक परिहृति र्नास्ति ॥

किं वा मिलनं किं वामिलनं, त्वं वाहं वा तन्नास्ति ।
संवादो वा सरसः को वा, किं वा वाच्या क्रिया नास्ति ॥

आदि देव पीतांशुक बद्धा, स्वेद सुरभित स्मार जलं ।
सा दुरूह लज्जा विवशतया, खेदेन वचः किंचिन्नास्ति ॥

परिमल भरित प्रचुर सुशीतल, वरमृदु वायौ वाति सति ।
तिरुवेंकटगिरिदेव राधया, सरस रति सुख श्रांतिर्नास्ति ॥[1]

आचार्यप्रभु वल्लभ की रचनाओं पर लीलाशुक के कर्णामृत का प्रभाव भी दीखता है। उनके मधुराष्टक को कर्णामृत के निम्नलिखित श्लोक का विपुलीकरण माना जा सकता है।

---

1. अ. सं. ३–३८

"मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो र्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगंधि मृदुस्मित मेत दहो मधुरं मधुरंमधुरं मधुरम् ।।"[1]

शुद्धाद्वैत के रसानंद रूपी परब्रह्म कृष्ण को लीलाशुक के मधुराद्वैत परब्रह्म में ढूंढ सकते हैं ।

"अतिभूमि मभूमि मेव वा वचसां वासित वल्लवी स्तनम् ।
मनसा मपरं रसायनं मधुराद्वैत मुपास्महे महः ।"[2]

वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित अपर बिल्वमंगल सूरदास पर भी लीलाशुक का प्रभाव साफ झलकता है । निम्न लिखित श्लोक और उनके अनुवाद में सूरदास के रचे पद देखने से यह बात स्पष्ट होती है ।

"कालिंदी पुलनोदरेषु मुसली यावद्गतः खेलितुं
तावत् कार्परिकं पयः पिब हरे वर्धिष्यते ते शिखा ।
इत्थं बालतया प्रतारणपराः भृत्वा यशोदागिरः
पायान्नः स्वशिखांस्पृशन् प्रमुदितः क्षीरेऽर्थपीते हरिः ।।"[3]
कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौं तेरी बल बैस चढ़े ।
जैसे देखि और ब्रज बालक, त्यौ बल बैस चढ़ै ।
यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यौं त्यौं लयौ लढ़ै ।
अंचवत पय तातौ जब लाग्यौ, रोवत जीभ डढ़ै ।
पुनि पीवत हीं कच टकटोरत, झूठहिं जननि रढ़ै ।
सूर निरखि मुख हंसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़े ।।"[4]

"राधा पुनातु मधुसूदन दत्तचित्ता, मंथान माकलयती दधि रिक्त पात्रे ।
यस्याः स्तन स्तबक चंचल लोल दृष्टिः, देवोऽपि दोहन धिया वृषभं निरुंधन् ।।"[5]

---

1. कृष्ण कर्णामृतम्, १—९१
2. „ ३—३८
3. „ २—६१
4. सूरसागर, पद ७९२
5. कृष्ण कर्णामृत, १—७५

"आजु राधिका भोरहीं जसुमति कै आई।
महरि मुदित हंसि यौं कह्यौ, मथि भान-दुहाई।
आयसु लै ठाढ़ी भई, कर नेति सुहाई।
रीतौ माठ बिलौवई, चित जहां कन्हाई।
उनके मन की कहा कहौं, ज्यौं दृष्टि लगाई।
लैया नोई वृषभ सौं, गैया बिसराई।
नैननि तें जसुमति लखी, दुहुं की चतुराई।
सूरदास दंपति-दसा, कापै कहि जाई।।"[1]

"हस्तमाक्षिप्य यातोसि, बलात् कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि, पौरुषं गणयामि ते।।"[2]

"बांह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहिं।
हिरदै ते जब जाहुगे, मरद बदोंगौं तोहि।।"[3]

वल्लभ संप्रदाय में जो स्वामी-स्वामिनी और सखा-सखी वालेरूप-द्वंद्व व भावद्वंद्व की मान्यता हुई उसके बीज भी कृष्ण कर्णामृत में मिलते हैं।

"मालाबर्हं मनोज्ञ कुंतलभरां वन्यप्रसूनांचितां
शैलेय द्रव क्लृप्त चित्र तिलकां शश्वन्मनोहारिणीम्।
लीलावेणुरवामृतैकरसिकां लावण्य लक्ष्मीमयीं
बालां बाल तमाल नील वपुषां वंदे परां देवताम्।"[4]

कृष्ण कर्णामृत में चंद्रावली जैसी अन्य सखी-सहचरी गोपियों के प्रेम का भी वर्णन हुआ है।

राधामोहनमंदिरादुपगतः चंद्रावलीमूचिवान्
राधे क्षेममयेऽस्ति, तस्य वचनं श्रुत्वाऽह चंद्रावली।
कंस क्षेममये विमुग्ध हृदये, कंसः क्व दृष्टस्त्वया
राधा क्वेति विलज्जितो नतमुखः स्मेरो हरिः पातु वः।।[5]

---

1. सूरसागर, पद १३३३
2. कृष्ण कर्णामृत, ३—७६
3. सूर की झांकी, पृ १५० में उद्धृत
4. कृष्ण कर्णामृत, ३—६६
5. कृष्ण कर्णामृत, ३—१०६

सनत्कुमार संहिता, गोपाल कल्प जैसे ग्रंथों में कृष्णकर्णामृत के कितने ही श्लोक विभिन्न अक्षर संपुटियोंवाले गोपाल मंत्र के ध्यानश्लोक बताये गये हैं। अतः गोपालकृष्ण व बालकृष्ण को उपास्यदेव माननेवाले वल्लभ जैसे महान् आचार्य को इससे परिचित व प्रभावित होना नितरां संभव है। सूरदास पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इन सभी बातों का प्रभाव पड़ा होगा तो आश्चर्य या असहज की बात नहीं है।

३.१.२.६ निष्कर्ष :

सूरदास के समस्त प्रेरणास्रोत आचार्य वल्लभ के द्वारा सुनिर्दिष्ट हैं। वल्लभाचार्य और लीलाशुक का संबंध, स्वप्नगत ही क्यों न हो, संप्रदाय में स्वीकृत तथ्य है। वल्लभ के समय तक लीलाशुक के आदर्श पर गोपी-भक्ति और राधाभक्ति का प्रचार आंध्रप्रांत में खूब हो चुका। तभी विशिष्टाद्वैत के आचार्य-पीठ पर रहकर भी अन्नमाचार्य ने राधा-कृष्ण लीलाओं का वर्णन किया है। लीलाशुक का 'रासाष्टक' तब तक खूब अभिनीत होता रहा। आचार्य वल्लभ को अपनी भूप्रदक्षिण-यात्राओ में इन सब के परिचय के साथ तिरुपति के मंदिर में तब तक अन्नमाचार्य द्वारा सुप्रतिष्ठित संकीर्तन-सेवा संप्रदाय का भी यथेष्ट परिचय मिला होगा। वल्लभ महाप्रभु के द्वारा सूरदास पर भी इन सब का प्रभाव पड़ा होगा। इस तरह हमारे आलोच्य कवियों में एक प्रभावगत संबंध का होना संभव-सा प्रतीत होता है।

———

३.२. | दार्शनिक विचार

३.२.१ अन्नमाचार्य के दार्शनिक विचार :

अन्नमाचार्य बचपन से वेंकटेश्वर भक्त थे। आठ वर्ष की उम्र में ही वे तिरुमल-तिरुपति की यात्रा गये और उसी समय वहां घनविष्णु नामक वैष्णवाचार्य से विशिष्टाद्वैत संप्रदाय में दीक्षा ली। बाद में उन्होंने अहोबल मठ में रहकर वेदांत का अध्ययन किया। जन्म से अद्वैतवादी होकर भी बीच में स्वीयांतः प्रेरणा से विशिष्टाद्वैतवादी बन जाने से बंधु-बांधवों और हित मित्रों का उनसे जो विरोध हुआ, उससे उनकी दीक्षा और भी दृढ एवं साधना और भी तीव्र हो गई। अचिर काल में ही लोगों ने उनको एक सिद्धपुरुष, शापानुग्रहदक्ष एवं कारणजन्मा पहचाना और राजा नरसिंहराय ने भी उनको अपना गुरु माना। इस तरह अन्नमाचार्य साधक ही नहीं, अपितु आचार्य भी हुए। उनकी रचना में ये दोनों तत्व पाये जाते हैं। साधक के रूप में वे अपने इष्टदेव वेंकटेश्वर को परब्रह्म मानकर उनके दिव्य चरणों में अपने को सर्वात्मना समर्पण करते मिलते हैं, तो दूसरी और आचार्य के रूप में विशिष्टाद्वैत तत्व एवं श्रीवैष्णव भक्ति तत्व को सरलातिसरल शैली में उपदेश देते मिलते हैं। कभी अन्य मतवादों का शास्त्रीय ढंग पर खंडन करके वे अपने स्वीय मत का बड़े उत्साह से मंडन करते मिलते हैं तो दूसरे ही क्षण अपने को वेंकटेश-दासी कहकर इष्टदेव के एकांतसेवा-कैंकर्य में तल्लीन होकर सब कुछ भूले मिलते हैं।

३.२.१.१ विशिष्टाद्वैत व अर्चामूर्ति तत्व :

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के अनुसार मंदिरों में स्थित अर्चामूर्तियों का तत्वतः परब्रह्म से कोई भेद नहीं है। भक्तों को सुलभ प्राप्य होने केलिए ही भगवान अर्चामूर्ति के रूप में प्रकट होते हैं। महाभारत के मौसल पर्व में[1] और भागवत

---

1. महाभारत, मौसल पर्व, ५-२० से ३५

के बलराम के तीर्थाटन प्रसंग में[1] अर्चामूर्तियों का यह तत्व वर्णित हुआ है। आलवार वैष्णव भक्तों का भी यही विश्वास है। नम्मालवार ने कहा है कि श्रीमन्नारायण ही श्रीवेंकटाचल पर विराजमान है।[2] रामानुजाचार्य जी ने अपने श्रीभाष्यम् के आरंभ में 'ब्रह्मणि श्रीनिवासे' कहकर श्रीवेंकटेश्वर की स्तुति की है। अन्नमाचार्य इसी परंपरा में आते हैं। अतः उनके मत में तिरुमल-तिरुपति में व्यक्त श्रीवेंकटेश्वर साक्षात् पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीमन्नारायण ही है। वे कहते हैं,

"यही श्रीवेंकटेश्वर नित्यात्मा और नित्य हैं। यही सत्यात्मा हैं। यही सत्य हैं। यह यहां प्रत्यक्ष हैं और वहां परब्रह्म हैं।

"जो इन सभी लोकों का पालन करता है, जिसे ब्रह्मादि देवता लोग प्राप्य मानकर ढूंढते हैं, जो स्वरूप-मोक्ष देने में समर्थ है, जो सभी लोकों का एकमात्र हित है, जिसकी मूर्ति सच्ची मूर्ति है, और जो कोई भी मूर्ति नहीं है, जो त्रिमूर्तियों की सम्मिलित मूर्ति है, जो सर्वात्मा और परमात्मा है वह यही श्रीवेंकटेश्वर-मूर्ति है।

"जिस देव की देह से यह सब निकला और जिसकी देह में यह सब फिर लीन रहा, जिसका ही रूप यह सकल दृश्य प्रपंच है और जिसके नेत्र ये सूर्य और चंद्र हैं, जो देव इन सभी जीवों में रहता है और जिसका चैतन्य इन सब का आधार है, जो अव्यक्त और अद्वंद्व है वही देव यह श्रीवेंकटेश्वर है।

"जिस भगवान के जमीन और आसमान पाद-युग हैं, जिसके आपाद-केशांत यह अनंत विश्व है, जिसका निश्वास यह वायु है, जिसके ये सभी पुण्यात्मा निज सेवक हैं, जो सर्वेश्वर और परमेश्वर है, जो भुवनैक-हित-मनोभाव का है, जो सबसे सूक्ष्म और सबसे घन है, वही यह भगवान श्रीवेंकटेश्वर है।[3]

---

1. महा भागवत, १०–७९–१३
2. तिरुवाइमुडि, ९–३
3. अ. सं. २–७६

नित्यात्मुडै युंडु नित्युडै वेलुगोंदु सत्यात्मुडै युंडि सत्यमै तानुंडु।
प्रत्यक्षमै युंडि ब्रह्ममै युंडु, संस्तुत्यु डी तिरुवेंकटाद्रि विभुडु॥
ए मूर्ति लोकंवु लेल्ल नेलेडु नात डेमूर्ति ब्रह्मदुलेल्ल वेदकेडु नात
डे मूर्ति निजमोक्ष मिय्यजालेडु नात डेमूर्ति लोकैक हितडु।
एमूर्ति निज मूर्ति एमूर्तियुनु गाडु एमूर्ति त्रैमूर्तु लेकुमैन यात
डेमूर्ति सर्वात्मु डेमूर्ति परमात्मु डा मूर्ति तिरुवेंकटाद्रि विभुडु॥
ए देवु देहमुन निन्नियुनु जन्मिंचे—आदेवुडी तिरुवेंकटाद्रि विभुडु।
ए वेल्पु पादयुग मिलयु नाकाशंबु—आवेल्पु तिरुवेंकटाद्रि विभुडु॥

३.२.१.२ परब्रह्म तत्व :

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के अनुसार परमात्मा नित्य परिपूर्ण और सगुण है। उसके सूक्ष्म और स्थूल रूप होते हैं। सूक्ष्म रूप को कारण-शरीर और स्थूल रूप को कार्य शरीर कहते हैं। परमात्मा का सूक्ष्म कारणशरीर चित् और अचित् से युक्त रहता है। स्थूल कार्य रूप में वही जगत और जीवों का रूप धरता है। फिर वही अंतर्यामी होकर उनका नियमन और संचालन करता है। इस तरह सृष्टि का वही कर्ता, धर्ता और भोक्ता है। वह सबके बाहर भी है और भीतर भी है। वह एक होकर भी अनेक है। वही सबका आधार और आश्रय है। तभी अन्नमाचार्य जी कहते हैं,

> "परमात्मा सर्वपरिपूर्ण है। वही नरों और सुरों का आश्रय है। वह इन सबका वहन करता है और सबका मन जानता है, लेकिन साक्षी की तरह लगे हुए भी अलग रहता है। वह माया की माया और जीव का जीव होकर गुरियों की माला में सूत जैसा रहता है। अनंत-विध विश्व का रूप धरकर वही एक विश्वात्मा इन सभी रूपों में फूलों में सुगंध की तरह व्याप्त रहता है। वही निराकार और साकार ब्रह्म श्रीपति इस वेंकटाचल पर प्रकट है।"[1]

"आदि पुरुष, अच्युत, अचल, अनंत और अमल जो है वही देव हरि यह श्रीवेंकटेश्वर है।"[2]

---

1. अ. सं. ६–२३२ परमात्मुडु सर्व परिपूर्णुडु
सुरलकु नरुलकु चोटयि युन्नाडु ।।
तनुवुलु मोचियु तलपुलु देलिसियु
येनसियु येनयक यिट्लुन्नाडु ।
चेनकि मायकु माये जीवुनिकि जीवमै
मोनसि पूसल दारमु वले नुन्नाडु ।।
वेवेलु विधमुलै विश्व मेल्ला नोकटै
पूवुलु वासन वले पोंचि युन्नाडु ।
भाविंच निराकारमै पट्टिते साकारमै
श्रीवेंकटाद्रि मीद श्रीपतै युन्नाडु ।।

2. अ. सं. २–८१ आदिपुरुषु डच्युतु डचलु डनंतु डमलुडु
आ देवु डितडे पो हरि वेंकट विभुडु ।।

"यह विश्वात्मा है ।[1] इस अखिल विश्व का यही ईश्वर है । यही सभी भूतों में रहता है ।[2] इसका महत्व बहिरंतरव्याप्त रहकर स्पष्ट समझ में नहीं आता ।[3] यही सर्वेश्वर और समधिकानंद रूप परब्रह्म नारायण है ।[4] विष्णु ही सर्वात्मक है । वैष्णवता ही सबकुछ है ।"[5]

"एवं श्रुतिमतमिदमेव तत् भावयतु मतः परं किंचिन्नास्ति ।"[6]

३.२.१.३ ब्रह्म, जीव और जगत का संबंध :

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत में ब्रह्म, जीव और जगत या प्रकृति का जो नित्य धर्म-धर्मी-रूप संबंध है, वही उसका विशिष्ट अद्वैत है । इन तीनों को तत्वतः स्पष्ट करते अन्नमाचार्य कहते है,

"सुनो, यही बात ढिंढोरा पीटकर श्रुति कहती है कि यही वेंकटेश्वर ब्रह्म है । पर, अपर और प्रकृति जो हैं, उनको ठीक ठीक समझना ही विवेक है । पर यही देव है, अपर तो जीव है और यह देह प्रकृति है ।[7] ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान-गम्य को जानना ही योग है । ज्ञान माने जीवात्मा और ज्ञेय माने परमात्मा है । मन के द्वारा ज्ञान-गम्य की सिद्धि होती है । क्षर, अक्षर और साक्षी का परिचय पाना ही सात्विक गुण (ब्रह्मविद्या) है।

---

1. अ. सं. २–१६७ हरि विश्वात्मकुडु अंदरिलो नुन्नाडु ।
2. अ. सं. ५–११२ एतदखिलंबुनकु नीश्वरुंडै सकल
   भूतमुल लोन ता बोदलुवाडितडु ।
3. अ. सं. ५–१७३ नी महत्वंबु लोपलिकि वेलुपलिकि गप्पि
   कामिप निट्टिदनि कानरादटु गान ।
4. अ. सं. ५–१४८ नमो नारायणाय नमः समधिकानंदाय सर्वेश्वराय ।
5. अ. सं. ७–१११ विष्णु डोक्कडे सर्वात्मकुडु
   वैष्णवमे सर्वमुनु ।
6. अ. सं. २–४
7. अ. सं. ५–२२१
   ओहो डेंडें ओगि ब्रह्ममिदि यनि, साहसमुन श्रुति चाटेडिनि ।
   परमु नपरमु प्रकृतियु ननगा, वेरवु देलियुटे विवेकमु
   परमु देवुडनु अपरमु जीवुडु, तिरमैन प्रकृति यी देहमु ।।

क्षर यह प्रपंच है और अक्षर यह जीव है। साक्षी पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीवेंकटेश्वर है।[1]

३.२.१.४ व्यूह रूप ब्रह्म :

विशिष्टाद्वैत मत में भगवान अथवा ब्रह्म के आदि मूल रूप को पर अथवा परा वासुदेव कहते हैं। सृष्टि कार्य के निमित्त इसी पर के संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप होते हैं। वासुदेव से मिलकर ये ही उसके व्यूह रूप बनते हैं। लोक हित में ब्रह्म के जो विभिन्न समयों में विभिन्न तरह के अवतार होते हैं, उनको उसका विभव रूप कहते हैं। सबके दिल में परमात्मा का जो रूप रहता है उसे अंतर्यामी कहते हैं। भक्तों के हित विविध मंदिरों में स्थित भगवान के शयन, आसीन, उत्तिष्ठ व चलन विग्रहों को अर्चा-रूप ब्रह्म कहते हैं। सुलभ प्राप्य होने से अर्चारूप को ही सर्वश्रेष्ठ उपास्य रूप माना जाता है। इसीलिए अन्नमाचार्य कहते हैं,

"इसी वेंकटेश्वर-मूर्ति से हमें सद्गति पानी है, इसमें विश्वास न करें तो और कोई उपाय नहीं है। परब्रह्म को हमने कब देखा? अवतार कथाओं को सुनते हैं और मानते हैं अवश्य, किंतु उनको देखा कब? दिल में जो भगवान है उसे कैसे प्रत्यक्ष किया जाए? वैकुंठ लोक में रहनेवाले व्यूह से हमारा क्या लगाव है? अतः जो हमारे सामने प्रत्यक्ष है उसी वेंकटेश्वर ब्रह्म से ही विश्वास करके गति पानी है।"[2]

---

1. अ. सं. ५–२२१

ज्ञानमु ज्ञेयमु ज्ञान गम्यमुनु, पूनिक देलियुटे योगमु
ज्ञानमु देहात्म, ज्ञेयमु परमातम, ज्ञानगम्यमे साधिंचु मनसु।
क्षरमु नक्षरमनु साक्षि पुरुषुडनि, सरवि देलियुटे सात्विकमु
क्षरमु प्रपंच मक्षरमु कूटस्थुडु, सिरि पुरुषोत्तमुडे श्रीवेंकटेशुडु॥

2. अ. सं. ६–२०६ कलदि ई मूर्ति वलन गति गन वलेनु
इर्लनिदु लेकुंटे येंदु मरि लेदु।
कंटिमा ब्रह्ममुनु वेंकटपति गनिनटुल
कंटिमा अवतारालु कथले गाक,
कंटिमा हृदयमुलो गलिगिन दैवमुनु
कंटिमा वैकुंठमु कडवारि नैनानु॥

इसी विश्वास से प्रेरित होकर अन्नमाचार्य अपने इष्टदेव से कहते हैं,

"तुम परमात्मा, परंज्योति हो, लो, यही तुम्हारा रूप है। अपने असंख्य रोम-कूपों में अगणित ब्रह्मांडों को वहन करनेवाले तुम को त्रिविक्रम रूप धरने में क्या कठिनाई है? तब भी श्रुति 'अत्यतिष्टत् दशांगुलम्' कहकर तुम्हारा आधिक्य बताती है। जब इन जीवरासियों में तुम्हारे सहस्रों रूप प्रकट हैं तब दश-विध-अवतार-धारी होने में तुम्हें क्या कष्ट है? तभी 'विश्वतो मुख, अनंत मूर्ति' कहकर श्रुति तुम्हारा यश गाती है। तुम्हारे शरीर से जो ये सभी देवता लोग प्रभूत हैं, वे असल में तुम्हीं हो। इसीलिए श्रुति 'एको नारायणः' कहकर तुम्हे दिखाती हैं।"[1]

विशिष्टाद्वैत में भगवान के लोक रक्षक और लोक रंजक दोनों रूपों में प्रगाढ़ विश्वास रखा जाता है। उस सिद्धांत के अनुसार भगवान सकल कल्याण गुणाकर एवं निखिल हेय गुण वर्जित है। वह निर्हेतुक करुणास्पद, नित्य निर्मलानंद, निरवधिक शक्ति संपन्न और निरतिशय सौंदर्य विग्रह है। उसी 'निगम निगमांत वर्णित मनोहर रूप'[2] की स्तुति में अन्नमाचार्य गाते हैं,

"वेदांत वेद्याय विश्व रूपाय नमो
आदिमध्यांतरहि ताधिकाय
भेदाय पुनरप्य भेदाय नमो नमो
नाद प्रियाय मम नाथाय तस्मै।
परम पुरुषाय भवबंध हरणाय नमो
निरुपमानंदाय नित्याय,

---

1. अ. सं. ११–६१

परमात्मुडवु नीवु परंज्योतिवि नीवु, इरवुग गंटि निदिवो नीरूपमु।
पेक्कु रोम कूपमुलनु पेनु ब्रह्मांडमुलु मोसे. वेक्कसपु नीकु त्रिविक्रम कृति येमि,
अक्कड वेदश्रुतिं 'अत्यतिष्टद्दशांगुलं', एक्कुवयनि पोगडें निदिवो नीरूपमु।
वेदक नी जीवुललो वेवेलु नीरूपुलु नीकु, येदुटि दशावतारालेमि यरुदु,
आदिविश्वतोमुख अनंतमूर्ति यनि, इदे श्रुति वोगडीनि यिदिवो नीरूपमु।
यिंदुवडि देवतलु नी तिरुमेनुनबोडमग, यिंदरु नीवे यगुट येमियरुदु
येंदुनु श्रीवेंकटेश 'एको नारायण' यनि, यिंदुलो श्रुति चाटी निदिवो नीरूपमु॥

2. अ, सं. ५–१४६

निगम निगमांत वर्णित मनोहररूप, नगराजधर श्रीनारायण

दुरित दूराय कलि दोष-विध्वस्ताय
हरि अच्युताय मम आत्माय तस्मै ।
कालात्मकाय निज करुणाकराय नमो
श्रीललामा-कुच-श्रितगुणाय,
हेलांक श्रीवेंकटेशाय नमो नमो
पालिताखिल ममाचरणाय तस्मै ।।"[1]

३.२.१.५ जीव :

विशिष्टाद्वैत के अनुसार चेतन जीव भगवान का शेष है। अचेतन जगत चेतन का शेष है। इन चेतन व अचेतन दोनों का शेषी भगवान है। उसी के ये दोनों अंशभूत हैं, वह अंशी है। इस प्रकार जीव ज्ञान स्वरूप, ज्ञान गुणक, निर्मल, भगवच्छेषैक रस एवं भगवदेक भोग्य है। लेकिन वह अणु स्वरूप है, अस्वतंत्र है और देहोपाधि से बद्ध है। प्रकृति में रहकर स्व-स्वरूप और परमात्म स्वरूप का निश्चित ज्ञान खोकर, शरीर के भोग्यविषयों को ही अपने भोग्य विषय समझकर, अज्ञानवश कर्माचरण में आत्माभिमान को बढ़ाता है। अहंकार और ममकार को पालकर वह कर्म फलों का भोक्ता बनता है। उसीसे उसको जन्म-मरण रूपी संसार चक्र में घूमना पड़ता है। जो यह रहस्य जानकर, अपने को प्रकृति का नहीं, किंतु भगवान का मानता है, उसका अज्ञान दूर होता है। उसे प्रकृति से सहज ही विरक्ति होती है और तभी भगवत् कृपा से भक्ति और मुक्ति प्राप्त होती हैं। इसी को स्पष्ट करते अन्नमाचार्य कहते हैं,

"जीव अणु है, ज्ञान विभु है। इस तरह देखने पर वे सभी जीव ब्रह्म में हैं और उनका चैतन्य वही है। कर्म उनका संसार कारण है तो भक्ति मोक्षफलदायी है।[2]

"यहां कोई भी चतुर नहीं, भगवान ही चतुर है, वही सबका कारण है और जीव उसीका कार्यरूप है। सब कुछ भगवान ही है, सिर्फ सत्ता जीव है। अतः चेतन-जीव का धर्म यही है कि वह श्रीविभु भगवान की सेवा में

---

1. अ. सं. ६–८३
2. अ. सं, ९–२३५ जीवुडणुवु ज्ञानमु चिंतिचगा विभुवु
यी विधमु नाना जीवुलिदे नीयंदे।
श्रीवेंकटेशुड नीवे चेकोन्न चैतन्यमवु
काविप कर्म भक्तुले कारण फलमुलु ।।

लगे और कर्मपाश से मुक्ति पावें।"[1] उसका नैज संबंध भगवान से है, न कि प्रकृति से। यह जाने तो बस, उसका संसार बंधन टूट जाता है।[2] जीव अणुमात्र और अत्यल्प है, उसका कर्म तो समुद्र जैसा वारापार है। फिर माया उसे बार बार अपने में फंसा देती है।[3] लेकिन अस्वतंत्र होकर भी यह मूर्ख जीव भगवान के यहां जाकर 'दासोहं' कहने का मन नहीं करता।[4] वह अभिमान तो करता है, किंतु यह नहीं सोचता कि यह देह अनित्य है और देही नित्य है।[5] सच कहे तो यह जगत हरि की माया है। जो 'यद् भावं तद् भवति' कहा गया, उसी के अनुसार माया को भूले तो जीव भगवान से भिन्न नहीं है। वह सगुण है, यह भी सगुण है, और वह निर्गुण है तो यह भी निर्गुण है।[6] यह भगवान लोकोन्नत है, आदि पुरुष

---

1. अ. सं. ८–१३२ नर मेल्ला जीवुनिदि नेरुपेल्ला देवुनिदि.........
कारणमातडु दाकार्यमिते।
सकलमु नातडु सत्ता मात्रमु तानु.........।
श्रीविभुडातडु दानु चेतन मात्र मिते
केवल मातनिवाडै गेलुचुटे सुखमु॥

2. अ. सं. ६–२०४ दैवमु तोडिदे तन तगुलु,
जीवुडिदि येरिगिते चिक्कि नीदि तगुलु॥

3. अ. सं. ११–११ जीवुडिंचुकंत चेत समुद्रमंत,
चेवेक्कि पलुमारु चिगिरिंची माय॥

4. अ. सं. ८–४० तामु स्वतंत्रुलु गारु 'दासोह' मनलेरु
पामरपु देहुलकु पट्टरादु गर्वमु॥

5. अ. सं. ७–१८५ देहि नित्युडु देहमुलनित्यमुलु,
ईहल ना मनसा यिदि मरवकुमि॥

6. अ. सं. ७–२०१ धरलो 'यद्भावं तद्भव' तने गान,
हरि माययं जगमंतानु।
सारे श्रीवेंकटपति सगुणमु दलचिन
सारपु जीवुडु सगुणमे।
नेरुपुल नातनि निर्गुणमु दलचिन,
तारतम्यमु लेनि तानू निर्गुणमे।

है और सभी में परिपूर्ण है। उसकी शरण जाए तो जीव का उद्धार निश्चित है।"[1]

३.२.१.६ जगत :

विशिष्टाद्वैत के अनुसार जगत भी जीव की तरह नित्य है, किंतु वह जड है। वह माया है, त्रिगुणात्मिका है और जीवों को अपने मोह में डालनेवाला है। अन्नमाचार्यजी कहते हैं,

"यह अनंत प्रकृति अखिल विकार युक्त होकर भगवान की माया कहलाती है। वही प्रपंच है। यहां तो वह जड है, लेकिन वहां तो वह भी दिव्य है।[2] प्रकृति की भी आत्मा वही परमात्मा है। उसका भी कारण वही है।[3] अतः वह भी शाश्वत है। वह उसका विराड रूप है।[4] लेकिन जीवों को मोह में डालकर, उनको अज्ञान में छोड़कर यह उनके बंधन का कारण बनता है। वह सुख-सा दीखता है, किंतु दुख ही देता है।"[5]

संसार का स्वरूप अन्नमाचार्य यों बताते हैं,

"यह संसार कितना ही दुखदायी है। इसमें जीना समुंदर में तैरना जैसा है। वहां रहना काल के मुह में रहना है। यह संसार तैल रहित दीप जैसा है। यह अंत तक न छोड़नेवाला रोग है। इसमें रहना युद्धक्षेत्र में रहना ही है। यह संसार एक कठोर बंधन है। यहां सीधा मार्ग है ही नहीं। चंद्रमा की तरह यह संसार भी कभी वृद्धि पाता है तो कभी क्षय पाता है। क्या कहें, यह शीत में उष्ण जैसा है। बाहर चमकनेवाला सोने

---

1. अ. सं. ७–७९ आतडु लोकोन्नतुडादिम पुरुषुडु अन्निटापरिपूर्णुडु,
चतुरडतडे रक्षिंच गलवाडु शरणनि व्रतकवो मनसा।

2. अ. सं. ९–२३५ अनंतमैन प्रकृति अखिलविकारमुलै,
पनिवडि नी माययै प्रपंचमै,
ओनर जडमैयुंडु नोकचो दिव्यमै युंडु,
निनुपै इह परालु नीयैश्वर्यमुलु।

3. अ. सं. ८–१३२ प्रकृति कातुम तानु परमात्मुडातडु।

4. अ. सं. ९–२४१ विश्व मेल्लानी विराड् रूपमु
शाश्वत हरि नी शरणमुलु।

5. अ. सं. ५–२११ इदिवो संसारमेंत सुखमोकानि,
तुदलेनि दुख मुनु तोडवु गडियिंचे ।।

का मलाम जैसा है। इतना होने पर भी श्रीवेंकटेश्वर के दास-भक्तों के लिए तो यह अत्यंत सुख-शीतल है।"[1]

अन्नमाचार्य संसार तरण का उपाय भी बताते हैं,

"ज्ञान होवे तो कोई भी मुक्त होता है। उसका फिर से जन्म नहीं होता। उसे शाश्वत मोक्ष मिलता है। वह ज्ञान यही जानना है कि यह आत्मा अतीव सूक्ष्म है, किंतु उसीमें भगवान हैं। उसके बारे में सुन पड़ता है, किंतु वह देख नहीं पड़ता। जीवधारियों के शरीर प्रकृति के विकार हैं। जगत २४ तत्वों से भगवान भी इच्छा से बनकर उसी की आज्ञा से अनेक प्रकार के कार्य दिखाता है। लेकिन सबका कर्ता वही भगवान है। भगवान स्वतंत्र है और जीव परतंत्र है। काल भगवान की सृष्टि है। विभव उसी की कल्पना है। ये सब भगवान श्रीवेंकटेश्वर की लीलाएं हैं, जिनको साफ साफ बताना या समझना कठिन है। गुरु कृपा से यह रहस्य जानकर वेंकटेश्वर की महिमा का ध्यान करना ही ज्ञान है।"[2]

---

1. सडि वेट्टि कट कटा संसारमु, चूड जलधि लोपलि यीत संसारमु।
जमुनोरिलो व्रतुकु संसारमु. चूड चमुरु दीसिन दिव्वे संसारमु
समयिचु वेनु देवुलु संसारमु चूड, समरंवुलो नुनिकि संसारमु।
संदि गट्टिन त्राडु संसारमु चूड, संदि कंतल त्रोव संसारमु
चंदुरुनि जीवनमु संसारमु चूड, चंद मेवले नुंडु संसारमु।
चलुव लोपलि वेडि संसारमु चूड. जल पूत बंगारु संसारमु
यिललोन तिरुवेंकटेश नीदासुलकु, चलुवलकु गडु जलुव संसारमु॥
अ. सं. ७५

2. अ. सं. ८–२११ इट्टि ज्ञान मात्रमुन नेव्वरैन मुक्तुले
पुट्टुगुलु मरिलेवु पोंदुदुरु मोक्षमु।
अतिसूक्ष्म मी आत्म अंदुलो हरि युन्नाडु
कतले विनुट गानि कानरादु
क्षिति देहालु प्रकृति चेंदिन विकारालु
मति निदि देलियुटे महित विज्ञानमु।
लोकमु श्रीपति आज्ञलो दत्वालिरुवदि नालुगु
गैकोनि सेतलु सेसे गतलु लेरु
सार्किरिते जीवुडु स्वतंत्रुडु देवुडु
यीकोलदि गनि सुखियिचुटे सुज्ञानमु।
कालमु दैवमु सृष्टि कलि मन्युल भाग्यमु
वालायिचि येव्वरिकि वचियिपरादु
यीलीललु श्रीवेंकटेशुनिवि आचार्युडु
तालिमि जेप्पगा विनि देलियुटे विज्ञानमु॥

३.२.१.७ मोक्ष :

विशिष्टाद्वैत मत में मोक्ष माने वैकुंठ-प्राप्ति है। वैकुंठ श्रीमन्नारायण का नित्यनिवास है, जहां वे श्री, भू, लीला आदि रमणियों के साथ गरुड, अनंत, नारदादि परिजनों व नित्य सूरियों से सेवित एवं कीर्तित होते रहते हैं। नारायण उनके परिवार और उनके लोक अप्राकृत तत्वों से बनते हैं। मुक्तजीव इसी लोक में तदुपयुक्त शरीर से, भगवान का साधर्म्य पाकर सुखी रहता है। सर्वकर्तृत्व शक्ति को छोड़कर बाकी सर्वज्ञत्व, सत्य-संकल्पत्व आदि सभी गुण मुक्तजीव में भी विद्यमान होते हैं। चतुर्भुज-धारी, शंक-चक्राद्यायुधों से विभूषित, कौस्तुभ, श्रीवत्स, वैजयंतीमणिमाला शोभित, दिव्य सुंदर विग्रहवाले भगवान लक्ष्मीरमण के सामीप्य लाभ और उसके नित्य सान्निध्य संदर्शन लाभ मुक्तावस्था में जीव को प्राप्त होनेवाले ब्रह्मानंदरूपी फल है। अन्नमाचार्य उस वैकुंठ भगवान की स्तुति में कहते हैं,

"करुणानिधि गदाधरं
शरणागत वत्सलं भजे।
शुक वरदं कौस्तुभाभारणं
अकारण प्रिय मनेकदं
सकल रक्षकं जयाधिकं से-
वक पालक मेवं भजे।
उरग शयनंइहोज्ज्वलं तं
गरुडारूढं कमनीयं
परमपदेशं परमं भव्यं
हरिं दनुज भयदं भजे।
लंकाहरणं लक्ष्मी रमणं
पंकज संभव भव प्रियं
वेंकटेशं वेदनिलयं शु-
भांकं लोकमयं भजे॥"[1]

लेकिन अन्नमाचार्य की भावना में तिरुमल-तिरुपति ही वैकुंठ है, क्योंकि भगवान श्रीवेंकटेश्वर ने उसे अपना आवास बना लिया है। वे कहते हैं कि

---

1. अ. सं. गा १७

"लो यही विष्णु का रूप, विश्वरूप है। हम शाश्वत और धन्य हुए हैं। यही तिरुमल पहाड़ हरि रूप वैकुंठ है। यहां के ये पेड़ कल्पवृक्ष हैं, पशु-पक्षी नित्य मुक्त हैं।" यह प्रत्यक्ष वैकुंठ है।[1]

आलवारों का भी यही मत हैं। निष्कर्ष यही है कि अन्नमाचार्य ने विशिष्टाद्वैत सिद्धांत को अपनी रचना में खूब ओतप्रोत किया है और उसीके अनुसार उनके धार्मिक विश्वास भी निर्मित होने से उनकी रचना में सचाई और अनुभूति के साथ उसका स्पष्ट प्रतिबिंब झलक पाया है।

३.२.१.८ आचार्यत्व :

अन्नमाचार्य की विशिष्टाद्वैत निष्ठा उनकी अद्वैत निंदा से और भी स्पष्ट होती है। साधना को दृढ करने के हेतु, अथवा आचार्य होकर शिष्यों को सब तरह से विरुद्ध सिद्धांत और विपरीत ज्ञान से सावधान करने के निमित्त हो, अन्नमाचार्य ने अद्वैत का खूब विरोध किया। उनके पदों को देखने पर ऐसा भान भी होता है कि उनका अद्वैत वेदांतियों से शास्त्रार्थ भी हुआ होगा। उनका कहना है कि अहं ब्रह्मवादी नास्तिकों के कारण भक्ति एक दम निरर्थक बन जाती है, खैर, ये लोग प्रह्लाद जैसों की कथाएं क्यों भूल जाते?[2] सबके सब ब्रह्म हों तो गुरु कौन रहे और शिष्य कौन रहे? बद्ध कौन है? मुक्त कौन है?[3] वेदों को पढ़ते हैं, फिर विश्व को असत्य मानते हैं, देवताओं की पूजा करते हैं, फिर अपने को देव मानते हैं, कर्म को ब्रह्म कहते हैं, फिर भगवान को निराकार बताते हैं, ऐसे नास्तिकों का आसूरी मत कैसे माना जाय?[4]

३.२.१.९ समन्वय भावना :

अद्वैत के विरुद्ध जो चार भक्ति दर्शन तथा संप्रदाय उठे, याने रामानुज का श्रीसंप्रदाय, निंबार्क का सनक संप्रदाय, मध्व का ब्रह्म संप्रदाय और विष्णुस्वामी का रुद्रसंप्रदाय, वे सब अन्नमाचार्य से पहले ही हुए। अन्नमाचार्य स्वयं श्रीसंप्रदाय में दीक्षित थे। लेकिन अन्य भक्ति दर्शनों या संप्रदायों से वे समन्वय भाव रखते थे। हनुमान, राधा, गोपालकृष्ण आदि की स्तुति में उनके सैकड़ों पद मिलते

---

1. अ. सं. ९–१२० विश्वरूप........मेलुवो जन्मम् ॥
2. अ. सं. ८–६८
3. ,, ८–६५
4. ,, ८–३३

हैं। हां, उन सब देवी-देवताओं को वे वेंकटेश्वर से अभिन्न मानते हैं और बाकी पदों की तरह उन पदों को भी श्रीवेंकटेश्वर या तिरुवेंकटेश्वर मुद्रा से ही अंकित करते हैं। उनका संप्रदाय श्रीसंप्रदाय है। उस संप्रदाय में श्री (लक्ष्मी) को भगवान की पुरुषकारिणी शक्ति मानते हैं। वह नित्या, आद्यंत रहिता, अव्यक्त रूपिणी- नित्यानंदमयी मूलप्रकृति बतायी गयी है।[1] लक्ष्मी-युक्त नारायण ही इस मत में उपास्य देव है। वही श्रीमन्नारायण अन्नमाचार्य का श्रीवेंकटेश्वर या तिरुवेंकटेश्वर है। तिरु का अर्थ है श्री। विशिष्टाद्वैत श्रीवैष्णव संप्रदाय में तिरु शब्द का बहुल प्रयोग होता है। उसका सैद्धांतिक रहस्य उपरोक्त श्रीतत्व को पुनः पुनः सूचित करना ही है।

३.२.२ सूरदास के दार्शनिक विचार :

३.२.२.१ शुद्धाद्वैत और सूरदास :

सूर शुद्धाद्वैत संप्रदाय में दीक्षित थे। संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्यप्रभु वल्लभ ने ही उनको दीक्षा दी। इस तरह आचार्यजी के श्रीमुख से ही शुद्धाद्वैत सिद्धांत एवं पुष्टि मार्गीय साधना के रहस्य सुनने का सौभाग्य सूर को मिला। आचार्य प्रभु के अणुभाष्य और सुबोधिनी टीका का परिचय भी सूर को गुरु से सीधे मिला होगा। अतः सूर के दार्शनिक विश्वास शुद्धाद्वैत वेदांत दर्शन के अनुसार निर्मित हुए हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन संप्रदाय में दीक्षित होने से पहले ही सूरदास साधक, भक्त कवि और गायक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। उन दिनों में भी उन्होंने कई पद रचे थे। इसी तरह संप्रदाय में भी आचार्यजी के बाद गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय जो नये नये विश्वास आचरण में लाये गये, उन सब का भी प्रभाव सूरदास पर पड़ा। फिर, सूरदास की रचना का अत्यधिक भाग भागवत पुराण के अनुसरण में हुआ। यह पुराण भक्ति को प्राधान्य देकर विभिन्न दार्शनिक मतवादों में समन्वय लाने के प्रयत्न में रचा गया। अतः सूरदास की रचना के आधार पर उनके दार्शनिक सिद्धांतों या विश्वासों को जानना हो तो उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर देखना होगा। फिर, सूरदास जी दार्शनिक तत्वों के विवरण की अपेक्षा इष्टदेव की लीलाओं के बहुमुखी वर्णन में अधिक रुचि रखते हैं। इस कारण से उनकी रचना में, यद्यपि उनका शुद्धाद्वैत सिद्धांत एवं संप्रदाय से अविनाभाव संबंध-सा हो गया तो भी उसका दार्शनिक पक्ष उतना जोर शोर से प्रतिपादित नहीं मिलता, जितना कि आत्म-समर्पण-पूर्ण भक्ति का प्रतिपादन मिलता है। हां, भक्ति-विरोधी योग निर्गुण

---

1. मरीचि संहिता, पृ ४८८

मार्ग या ज्ञान मार्ग का वे यथावकाश खंडन करते हैं। बाकी सभी बातों में वे समन्वयवादी, अपनी साधना में निरत एकांत भक्त ही दीखते हैं। फिर भी शुद्धाद्वैत सिद्धांत का प्रभाव उनपर गहरा था, अतः उसी की पृष्ठभूमि में उनकी दार्शनिक मान्यताओं का अध्ययन करना उचित है। तभी आचार्य प्रभु ने उनको 'सूरसागर' जो कहा और गोस्वामी विट्ठलनाथ ने जो 'पुष्टि मार्ग का जहाज' कहा उनकी सार्थकता व चरितार्थता स्पष्ट होगी।

३.२.२.२ ब्रह्म तत्व :

शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार ब्रह्म माया से नितांत अलिप्त रहता है। इसीलिए वह शुद्ध है। ब्रह्म, जीव, जगत आदि सब को इस सिद्धांत के अनुसार एक अखंड अद्वैत माना जाता है। ब्रह्म की शुद्धता का यह भी रहस्य है कि इस मत के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय, स्वगत जैसे भेदों से रहित है। यही आदि अनादि परब्रह्म इस मत में श्रीकृष्ण हैं, जो हमारे आलोच्य कवि सूरदास का इष्टदेव है। सूरदास की रचना में इस शुद्धाद्वैत परब्रह्म कृष्ण के वर्णन में कितने ही पद मिलते है।

१) पहले हों ही हों एक
अमल, सकल, अज, भेद विवर्जित, सुनि विधि विमल विवेक।[1]

२) तुम अनादि अविगत, अनंत गुन पूरन, परमानंद
सूरदास पर कृपा करों प्रभु श्री बृंदावन चंद ॥[2]

३) पूरन ब्रह्म सनातन वेई।[3]

शुद्धाद्वैत में ब्रह्म के तीन रूप हैं, जैसे आदिदैविक या परब्रह्म रूप, आध्यात्मिक या प्रकृति-पुरुष वाला अक्षर ब्रह्म रूप और आधिभौतिक या जगत रूप ब्रह्म। श्रुतिगोचर परब्रह्म का रूप आधिदैविक है। प्राकृतिक गुणों अथवा धर्मों से युक्त रहने से वह निर्गुण है और आनंदादि गुणों से युक्त रहने से वह सगुण है। वह सच्चिदानंद और सदानंद है। वही कृष्ण परमात्मा है। वह हमेशा अपनी आत्ममाया से आवृत रहता है। वह अणु से अणु, महान से महान होकर, सब तरह के विरुद्ध धर्मों का आश्रय रहता है। वह सर्वशक्तिसंपन्न है। स्वयं अविकृत रहकर वह इस सृष्टि के रूप में परिणत होता है। सूरदास जी कहते हैं,

---

1. सूरसागर, पद ३८९
2. ,, पद १६३
3. ,, पद १५९२

१) वेद उपनिषद जासु को निर्गुनहिं बतावे,
सौई सगुण होई नंद के दांवरी बंधावै ।।[1]

२) आदि सनातन हरि अविनासी, सदा निरंतर घट घट वासी
पूरन ब्रह्म पुरान बखानै, चतुरानन शिव अंत न पावै,
गुन-गन अगम निगम नहिं पावै, ताहि जसोदा गोद खिलावै ।।[2]

३) नैननि निरखि श्याम स्वरूप,
रह्यो घट घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप ।
चरन सप्त पाताल जाके शीश है आकाश,
सूर चंद्र नक्षत्र पावक सर्व तासु प्रकाश ।।[3]

४) कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर, हरत विलंब न लावै,
ताको लियो नंद की रानी नाना रूप खिलावै ।।[4]

शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार इसी आधिदैविक परब्रह्म को पुरुषोत्तम कहा जाता है । ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान है । वह अपनी आंतरिक शक्तियों से आत्मारमण करता है । इसीलिए उसको आत्माराम कहते हैं । जब वही आत्माराम ब्रह्म बाह्यरमण में निरत होता है तब उसका बाह्य प्रकट रूप पुरुषोत्तम रूप कहलाता है । यह स्वेच्छागत रूपांतर मात्र है । इसीको सगुण लीलारूप, आनंदमय या अगणितानंद रूप बताया जाता है । सूरदास इसके निरूपण में कहते हैं.

१) अविगत आदि अनंत अनूपम अलख पुरुष अविनासी,
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी ।।[5]

२) सोभा अमित अपार अखंडित आप आत्मा-राम,
पूरन पुरुष प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम ।।[6]

नित्य लीलाओं केलिए पुरुषोत्तम ब्रह्म का प्राकट्य उनकी श्री, ह्री, गिरा, कांति आदि सभी आंतरिक शक्तियों के साथ, उनके आनंद धाम के अवतरित रूप बृंदावन में होता है, जहां सभी श्रुतियां गोपी रूप में उनकी लीला में भाग लेती हैं ।

---

1. सूरसागर, पद ४
2. „ पद ६२१
3. „ पद ३७०
4. सूरसागर, पद ७४४
5. सूर सारावली, पद १
6. सूर सारावली, पृ १

१) जहं बृंदावन आदि अजिर जहां कुंज लता विस्तार,
तहं विहरत प्रिय-प्रीतम दोऊ निगम भृंग गुंजार ।
जहं गोवर्धन पर्वत मनिमय सघन कंदरा सार,
गोपिन मंडल मध्य विराजत निसि दिन करत विहार ।।[1]

२) सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप,
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत विहरत युगल स्वरूप ।।[2]

३) बृंदावन निज धाम कृपा करि तहां दिखरायौ ।।[3]

४) श्रुति कह्यौ ह्वै गोपिका केलि करें तुव संग ।।[4]

ब्रह्म के अध्यात्मिक रूप को अक्षर ब्रह्म कहते हैं । वह पुरुषोत्तम का चरण स्थान कहा जाता है । परब्रह्म के समान आदि सनातन, अनुपम, अविगत होते हुए भी अक्षर ब्रह्म में आनंद की थोड़ी न्यूनता मानी जाती है । इसलिए उसे अगणितानंद कहते हैं । यह ब्रह्म का ओंकार रूप, अतएव श्वास रूप बताया जाता है । वह काल, कर्म स्वभाववाला अक्षर ब्रह्म प्रकृति-पुरुष रूप में सारी सृष्टि का कर्ता, धर्ता और संहारक होता है । त्रिमूर्ति सहित सभी देवता लोग इसीके अंश रूप हैं । जीवों में यही अंतर्यामी रूप में रहता है । भू-भार-हरण के हेतु इसी के कई अवतार होते हैं । इसके वर्णन में सूरदासजी कहते हैं,

१) अपने आप करि प्रकट कियौ हरि पुरुष अवतार,
माया कियौ क्षोभ बहुविधि करि काल पुरुष के अंग ।
राजस तामस सात्विक बहुकरि प्रकृति-पुरुष कौ अंग ।।[5]

२) प्रभु तुम धर्म समुझि नहिं परयौ,
जग सिरजत, पालत, संहारत, पुनि क्यों बहुरि करयो ।।[6]

३) सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब है अंश गुपाल ।।[7]

---

1. सूर सारावली, पृ २
2. ,, पृ २
3. सूरसागर, पद १७९३
4. ,, पद १७९३
5. सूर सारावली, पृ ३८
6. सूरसागर, पद ४९२०
7. सूर सारावली, पृ ३८

४) तुम अच्युत अविगत अविनासी परमानंद सदा सुखरासी,
तुम तनुधरि हरयौ भुव भार नमो नमो तुम्हें बारंबार ॥[1]

५) ब्रह्म अगोचर मन वानी ते अगम अनंत प्रभाव,
भक्तनि हित अवतार धरि जो करी लीला संसार ॥[2]

६) अभिद अछेद रूप मय जान जो सब घट है एक समान,
करत इंद्रियनि चेतन जोई मम स्वरूप जानौ तुम सोई ॥[3]

शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार ब्रह्म का आधिभौतिक रूप जगत है। वह उसके सत् अंश से बनता है, अतः वह भी नित्य और सत्य है। इसको क्षर ब्रह्म भी कहते हैं। जगत का उदय या नाश नहीं होता। उसका आविर्भाव-तिरोभाव होते हैं। इस तरह जगत के निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म ही है। जगत के निर्माण में शुद्धाद्वैत के अनुसार २८ तत्व क्रियमाण रहते हैं।

१) जगत प्रपंच हरि रूप लहै जब दोष भाव मिट जाहीं,
सूरदास तब कृष्ण रूप ह्वै हरि हिय में रहे आही ॥[4]

२) आपुन आपु प्रकट कियौ हरि पुरुष अवतार,
कीने तत्व प्रगट तेही क्षन सबै अष्ट अरु बीस ॥[5]

जगत मिथ्या नहीं है, किंतु मायाकृत है। यह मायिकता आचार्यप्रभु के शब्दों में वैराग्य हेतु है।[6] सूरदास जी भी कहते हैं,

हरि इच्छा करि जग प्रकटायौ।
अरु यह जगत जदपि हरि रूप है तऊ मायाकृत जानि।
तातें मन निकारि सब ठां ते एक कृष्ण मन जानि ॥[7]

---

1. सूरसागर, पद ४२९७
2. ,, पद ३७७
3. ,, पद ३९४
4. सूर निर्णय, श्री द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल, पृ १९७ से उद्धृत
5. सूर निर्णय, श्री द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल, पृ १९६ से उद्धृत
6. मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यामुदीयंते। (तत्व दीप निबंध)
7. सूर निर्णय, पृ १९७ से उद्धृत

३.२.२.३ संसार :

शुद्धाद्वैत मत में जगत और संसार भिन्न हैं। जगत ब्रह्म की स्वेच्छा से, उसी के सदंश से, उत्पन्न उसी का परिणाम है उसका २८ तत्वोंयुक्त निर्माण और विकास जो होता है, वह ब्रह्म की आत्ममाया अथवा विद्या माया से माना गया है। लेकिन संसार जीव की कल्पना है। जीव पंचपर्वा अविद्या माया से जो ममतामयी सृष्टि करता हैं, वही संसार है। अतः वह असत्य है, मिथ्या है। ज्ञान का उदय होते ही अविद्या का नाश होता है और उसके साथ संसार का भी अंत होता है। तभी सूरदास जी कहते हैं,

१) अरे मन मूरख जनम गंवायौ।
यह संसार सुआ सेमर ज्यों सुंदर देखि लुभायौ।
चाखन लाग्यौ रुई उड़ि गयी कछू नहिं आयौ॥[3]

२) मैं मेरी यह हरि की माया, सकल जीव जग यही नचाया॥[4]

३) मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया,
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया॥[5]

४) को तू को यह देखि विचार, स्वप्न स्वरूप सकल संसार॥[6]

३.२.२.४ जीव तत्व :

शुद्धाद्वैत मत के अनुसार अक्षर ब्रह्म के चिदंश से जीव का उदय होता है। जिस तरह अग्नि से विस्फुलिंग निकलते हैं, उसी तरह ब्रह्म से जीवों का निष्कासन होता है। यह भगवान की स्वेच्छा अथवा रमणइच्छा से होता है। ब्रह्म का अंश होने से जीव नित्य और सत्य है, किंतु वह देह की उपाधि प्राप्त करके सीमित शक्तिवाला, अणु और अल्पज्ञ रहता है। आविर्भाव काल में उसमें एश्वर्यादि गुणों का लोप हो जाने से बह दीन, हीन, विपद्ग्रस्त, व्यामोही एवं दुखी बनता है। स्वरूप, देह, इंद्रिय, प्राण और अंतःकरण के अध्यास रूपी पंचपर्वा अविद्या के कारण जीव संसृति चक्र में घूमता है, किंतु अपने निज स्वरूप का ज्ञान होते

---

3. सूरसागर, पद ३३५
4. सूर निर्णय, पृ १९७ से उद्धृत
5. सूरसागर, पद १११०
6. ,, पद ४१६

ही अविद्या का नाश और आनंद की पुनः प्राप्ति करके वह मुक्त होता है। जीव के इन तत्वों के वर्णन में सूरदास कहते हैं,

१) जिय करि कर्म जन्म बहु पावै, फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै।
तनु मिथ्या छन-भंगुर जानो, चैतन जीव सदा चिर मानो।
आत्म अजन्म सदा अविनासी ताको देह-मोह वड़ फांसी।[1]

२) मिथ्या तन कौ मोह बिसार, जाहु रहौ भावै गृह-वार
करत इंद्रियनि चेतन जोइ, मम स्वरूप जानै तुम सोइ ॥[2]

जीवों के शुद्ध, मुक्त व संसारी भेदों का तात्विक विश्लेषण न करने पर भी सूरदास इन सभी तरह के जीवों का वर्णन यथावसर करते ही मिलते हैं। शुद्ध जीवी गोपियों का वर्णन दशम स्कंध के पदों में, संसारी जीवों का वर्णन विनय के पदों में और मुक्त जीवियों का वर्णन तत्तत् कथा-प्रसंगों में खूब मिलते हैं।

३.२.२.५ माया :

शुद्धाद्वैत के अनुसार माया दो प्रकार की है। विद्यामाया अथवा आत्म-माया भगवान की सर्वभवन समर्थ शक्ति है। सूर्य और उसकी दाहक शक्ति की तरह भगवान और उनकी आत्ममाया भी परस्पर भिन्न आभासित होने पर भी मूलतः अभिन्न हैं। आत्ममाया के व्यामोहिका और करण रूप होते हैं। व्यामोहिका भगवान की चरणदासी रहती है। करणमाया जगन्निर्माण में क्रियमाण होती है। सूरदास कहते हैं,

१) सो माया है हरि की दासी निसि दिन आज्ञाकारी।[3]

२) पालन, सृजन, प्रलय के कर्ता माया के गुन जानो।[4]

अविद्यामाया जीवों को तरह तरह की भ्रांतियों में डालती है। वही अज्ञान कहलाती है। वैराग्य, भक्ति और भगवत् कृपा से उसका नाश होने पर जीव को मोक्ष मिलता है। तभी सूरदास अपने इष्टदेव से माया की यों शिकायत करते हैं,

---

1. सूरसागर, पद ४११
2. „ पद ३९४
3. सूर साहित्य नव मूल्यांकन, डा. सी. वी. रावत्, पृ ७८ से उद्धृत
4. „ „ „ „ „

"माया नटी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै ।
दरदर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वांग बनावै ।
तुम सौं कपट करावति प्रभु जू, मेरी बुद्धि भरमावै ।।"[1]

३.२.२.६ मुक्ति :

शुद्धाद्वैत के अनुसार पुष्टिमार्गीय भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मुक्ति है । सूरदास की भक्ति-साधना इसी पुष्टिमार्ग की साधना है, अतः उनकी मुक्ति कामना भी निर्गुण मुक्ति की न होकर भगवद् दर्शन सुखाभिलाष की है ।

"वंशीवट, बृंदावन, जमुना तजि वैकुंठ न जावै ।
सूरदास हरि को सुमरिन् करि बहुरि न भव-जल आवै ।।[2]

इसी भगवदनुस्मरण को ये चारों प्रकार की मुक्ति देनेवाला मानते हैं ।

"सेवत सगुन स्यामसुंदर को मुक्ति लहै हम चारी ।। "[3]

वे मुक्ति को नहीं, भक्ति को ही चाहते हैं ।

"अपनी भक्ति देहु भगवान,
कोटि लालच जौ दिखावहु, नाहिं ने रुचि आन ।। "[4]

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लीलाधाम में पहुंचने की इच्छा सूरदास के कई पदों में प्रकट होती है । प्रसंगवशात् उस भगवद् धाम का स्वरूप भी वर्णित हैं ।

१) चकयी री चलि चरन सरोवर, जहां न प्रेम वियोग
जहं भ्रम निशा होती नहिं कबहूं सोइ सायर सुख जोग ।।[5]

२) चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं,
जिहि सरोवर कमल, कमला रवि बिना विकसौंहिं ।।[6]

३) सुवा चलि ता वन कौ रस पीजै,
जा दिन राम नाम अम्रित-रस-स्रवन-पात्र भरि लीजै ।।[7]

---

1. सूरसागर, पद ४२
2. ,, पद ३४९
3. ,, पद ५४४
4. ,, पद १०६
5. सूरसागर, पद ३३७
6. ,. पद ३३८
7. ,, पद ३४०

शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार भगवान के निज धाम में साधर्म्य पाकर उनकी लीला में भाग लेना ही सायुज्य मुक्ति है। शृंगार के संयोग और वियोगात्मक रूप सायुज्य मुक्ति के ही रूप हैं। सूर ने रासलीला और भ्रमरगीत में इन दोनों का वर्णन किया है।

३.२.३ तुलना और निष्कर्ष :

सूरदास कृष्ण के अनन्य भक्त हैं। भजनानंद को ब्रह्मानंद से अधिक माननेवाले हैं।[1] लीलाधाम 'वृंदावन की एक रेणु' होने की भी कामना करनेवाले हैं।[2] ऐसे भक्त को भक्ति विरोधी अन्य उपायों अथवा उपदेशों से चिढ़ हो जाय तो वह सहज ही है। भ्रमरगीत के प्रसंगों में अवकाश पाकर सूर निर्गुण भक्ति, योग मार्ग, ज्ञान मार्ग जैसी बातों का खंडन करके गोपियों की प्रेम भक्ति को मुक्ति से भी बढ़कर बताते हैं। निष्कर्ष यह है कि सूर की दार्शनिक मान्यताएं शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुकूल ही हैं। उनके कतिपय वचनों को देखकर कुछ आलोचकों ने उन पर प्रतिबिंबवाद या मायावाद जैसों का प्रभाव माना है। किंतु हम ऐसी बातों को कवि के प्रति अन्याय समझते हैं। भक्ति दर्शनों के कई सिद्धांत परस्पर साम्य रखते हैं। दार्शनिक परिभाषा भी कई जगह एक सी लगती है, यद्यपि निर्वचन में भेद रहता है। फिर, सूरदास का लक्ष्य दार्शनिक तत्वों का सूक्ष्म विश्लेषण करना नहीं, बल्कि भगवान की लीलाओं का वर्णन करना है। उन्होंने भागवत के अनुसरण में भगवान की सगुण लीलाओं का वर्णन करते करते बीच बीच में यथासंभव दार्शनिक तत्वों का भी विवरण दिया है। उन सभी तत्वों का शुद्धाद्वैत परक अर्थ किया जाता है। यदि उनका विशेष अर्थ लिया जाय तो वह व्याख्यातृ-प्रतिभा विशेष का फल है, जिससे सूरदास का गौरव ही बढ़ता है।

हमारे आलोच्यकवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों दो विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों को मानकर चलने पर भी बहुत सी बातों में दोनों के मंतव्य परस्पर साम्य रखते हैं। दोनों ब्रह्म के एक, अखंड, अद्वैत रूप में विश्वास रखते हैं। दोनों जगत को नित्य और सत्य मानते हैं। दोनों उसे मायाकृत भी स्वीकार करते हैं। दोनों भगवान के अंतर्यामी तत्व पर जोर देते हैं। दोनों चेतन को नित्य और देह को अनित्य मानकर, देहेंद्रियादि के व्यामोह को ही सांसारिक बंधन का प्रबल कारण कहते हैं। दोनों के मत में भगवान मायापति हैं और

---

1. सूरसागर, पद भजनानंद अलि हम प्यारो, वृंदावन सुख कौन बिचारो।
2. „ पद १११० वृंदावन रज ह्वै रहूं, ब्रह्मलोक न सुहाइ।

उसकी कृपा के बिना मुक्ति दुर्लभ है। दोनों भक्ति को मुक्ति से अधिक मानते हैं और साधर्म्य मुक्ति पाकर भगवान के नित्य सान्निध्य व संदर्शन लाभ को सर्वाधिक वरणीय बताते हैं। दोनों के इष्टदेव भगवान के अर्चावतार ही हैं। अन्नमाचार्य तो श्रीवेंकटेश्वर के रूप को ही अन्य सभी अर्चावतारों में देखते हैं। भगवान के अन्य रूपों के वर्णन में भी उनका श्रीवेंकटेश्वर से अभेद व्यक्त करते हैं। सूरदासजी श्रीनाथजी का हरि नाम से अकसर व्यवहार करते हैं और उसी नाम में भगवान विष्णु के सभी नाम अंतर्गत होते हैं। श्रीनाथ उनका उपास्य परम पुरुष श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। अन्नमाचार्य का तो श्रीवेंकटेश्वर श्रीकृष्ण का ही अर्चारूप है।

अन्नमाचार्य की रचना में दार्शनिक तत्वों का विवरण शास्त्रीय ढंग पर, तर्क-वितर्क एवं श्रुतिवाक्य प्रमाण-उद्धरण आदि के साथ हुआ मिलता है। अन्य मतों की निंदा में भी उनकी वाणी प्रगल्भ दीखती है। यह उनके आचार्यत्व एवं सहज उद्वेग-पूर्ण स्वाभाव का फल है। सूरदास का स्वाभाव जरा नरम है। अतः ऐसी बातों को वे काव्योचित ढंग पर व्यक्त करते हैं।

माया, मोह, सांसारिक तापत्रय, दीनता, अगतिकता, सर्वात्मना भगवान की शरण में जाने की इच्छा, सज्जन संगति, सेवाभाव और आचार्याभिमान के वर्णन में अन्नमाचार्य और सूरदास का नितांत हृदय-साम्य या भाव-साम्य दीखता है। भक्ति को उपाय और भगवान को उपेय मानकर संसार तरण में दृढ विश्वास प्रकट करने में दोनों समानशील हैं। अन्नमाचार्य कहते हैं,

"एवं श्रुति मत मिदमेव, तद् भावयुतु मतः परं नास्ति।
अतुल जन्म भोगासक्तानां, हित वैभव सुख मिद मेव।
संतत श्रीहरि संकीर्तनं, तद् व्यतिरिक्त सुखं वक्तुं नास्ति॥

बहुल मरण परिभव चित्तानां इह पर साधन मिद मेव।
अहि शयन मनोहर सेवा तद् विहरणं बिना विधि रपि नास्ति।
संसार दुरित जाड्य पराणां, हिंसा विरहित मिद मेव।
कंसांतक वेंकटगिरि पतेः प्रशंसैव पश्चादिह नास्ति॥"[1]

सूरदास जी इसी मत को यों व्यक्त करते हैं।

"सब तजि भजिए नंद कुमार।
जिहिं जिहिं जोनि जन्म धरयौ, बहु जोरयौ अघ को भार।
वेद पुरान, भागवत, गीता सब कै यह मत सार।
भव-समुद्र हरि पद नौका बिनु कोउ न उतरै पार।
सूर पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ फिर संसार॥"[2]

---

1. अ. सं. २–३ 2. सूरसागर, पद ६८

३.३. साधारण भक्ति-साधना

३.३.१ भक्ति और भक्त :

भक्ति शब्द की निष्पत्ति 'भज सेवायाम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़कर बतायी जाती है। तात्पर्य है कि भक्ति माने सेवा है। पूज्य व्यक्तियों, मान्यों व गुरुओं से भक्ति की जाती है, लेकिन पूज्यों में पूज्य और गुरुओं के गुरु लोकगुरु भगवान की सेवा जो की जाती है उसे भक्ति शब्द से अभिहित करना रूढ एवं सबसे अधिक सार्थक है। सेवा में सेव्य और सेवक का संबंध अनिवार्य है। बड़े और छोटे का भाव भी इसमें सहज है। किंतु जब तक सेवक में सेव्य के प्रति सहज अनुराग या प्रीति का भाव नहीं रहता, तब तक सेवा में निस्वार्थता, अहमिकता और तल्लीनता नहीं होतीं। जैसे जैसे सेवक पूज्यभाव तथा अनुराग से सेवा में अधिकाधिक तत्पर रहता जाता है, वैसे वैसे उसकी सेवा भी स्वार्थ-रहित एवं अहैतुकी होने में उत्तरोत्तर उत्कर्ष पाती जाती है। भगवत् सेवा में इस तरह की अहैतुक अनुरक्ति जो कहीं होती है, उसी को भक्ति कहते हैं। शांडिल्य ने कहा है कि भक्ति ईश्वर में परम अनुरक्ति है।[1] नारद ने कहा है कि भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा है और वह अमृत स्वरूपा है।[2] क्योंकि उसे पाकर मनुष्य सब तरह से तृप्त, सिद्ध एवं अमर हो जाता है।[3] उसकी सारी इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं, शोक दूर हो जाता है और विषयों से सहज ही उसकी विरक्ति हो जाती है। वह अपने भक्त्यानंद में आप मस्त रहता है।[4]

---

1. सा परानुरक्तिरीश्वरे। शा. भ. सू. २
2. सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा। ना. भ. सू. २
   अमृत स्वरूपा च। ना. भ. सू. ३
3. यंल्लब्धा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। ना. भ. सू. ४
4. ना. भ. सू. ५, ६

भागवत में लिखा है कि मनुष्यों का परम धर्म वही है जिससे उनकी भगवान से भक्ति हो। वह भक्ति भी ऐसी हो, जो निष्काम हो और निरंतर बनी रहे। ऐसी भक्ति से आनंद स्वरूप भगवान का साक्षात्कार पाकर भक्त कृतकृत्य होता है।[1] आचार्यप्रभु वल्लभ का मत है कि महात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ एवं सर्वतोधिक स्नेह को ही भक्ति कहा जाता है और मुक्ति का तो ऐसी भक्ति ही एक मात्र उपाय है।[2]

गीता का भी वचन यही है कि हर्ष, द्वेष, शोक, आकांक्षा जैसे सभी शुभ-अशुभ भावों का परित्याग करके जो भक्ति करता है वही भगवान को प्रिय लगता है।[3] अर्थात् भक्ति निर्द्वंद्व और एकांतिक हो तो श्रेष्ठ है। वैसी ही भक्ति से भगवान को जानना, देखना और पाना शक्य है।[4] ऐसे भक्तों का योगक्षेम भगवान ही देखते हैं। अतः सभी धर्मों को छोड़कर भगवान की शरण में जाकर निश्चिंत रहे तो बस भक्त को मोक्ष देने का भार भगवान खुद अपना लेते हैं।[5] गीता में वैसा कृष्णभगवान का वचन दान है, जो वैष्णवों का प्रधान आलंब है। इससे सिद्ध है कि भक्ति ही मुक्ति का सुलभोपाय है। वह अन्य सभी भावों अथवा उपायों से उत्तम है। नारद ने कहा है कि स्वयं फल रूप होने से भक्ति, कर्म, ज्ञान और योग से अधिक है।[6] शांडिल्य का भी यही मत है कि भक्त ही कर्मी, ज्ञानी और योगी से अधिक है।[7] गीता में भी कहा है कि

---

1. महा भागवत, १–२–६
2. माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः
   स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्ता तथा मुक्तिर्नचान्यथा ।।
   तत्व दीप निबंध, श्लोक ४६
3. यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति नकांक्षति,
   शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान् यः समे प्रियः। गीता, १२–१७
4. भक्तयात्वनन्यवा शक्यः अहमेवं विधोर्जुन
   ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतम। गीता, ११–५४
5. अनन्याश्चिंतयंतो मां यंजनाः पर्युपासते,
   तेषां नित्याभि युक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहं। गीता, ९–२२ और
   सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
   अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। गीता, १८–६६
6. सातु कर्मज्ञान योगेभ्योप्यधिकतरा, फलरूपत्वात्। ना. भ. सू. २५–२६
7. तदेव कर्मि ज्ञानि योगिभ्य आधिक्य शब्दात्। शा. भ. सू. २२

"तपस्विभ्योधिको योगी, ज्ञानिभ्योपि मतोधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्मात् योगी भवार्जुन ।।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।[1]

जो सदा सर्वदा भगवद् भजन में युक्त रहते हैं वे भगवान में ही रहते हैं। भगवान भी उन्हीं लोगों से युक्त रहते हैं।[2] इस तरह भक्त ब्रह्मसंस्थ होकर अमृतत्व को प्राप्त करता है।[3] उसका नाश कभी नहीं होता।[4] भागवत पुराण में कहा है कि अमृतत्व केलिए ही भक्ति कल्पित है।[5] इससे यही सिद्ध होता है कि अनन्य भक्ति भी परमात्मा की कृपा पर निर्भर है। उनकी कृपा के बिना वह भी दुर्लभ है। भगवान जिनको चाहते हैं उन्ही को वह प्राप्त होती है।[6] अतः साधक को अन्याभिलाष-शून्य, अन्योपायविरहित, आनुकूल्य-युक्त-एकांत भाव से भक्ति करनी है।[7] ऐसी ही भक्ति भगवान को वश में लेने समर्थ है।

आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास भगवत् कृपा प्राप्त भक्त थे। बचपन से लेकर अंत तक ये दोनों भक्त कवि अविचल निष्ठा से भक्ति साधना में निरत रहे। दोनों सच्चे अर्थ में भगवदीय थे। अन्नमाचार्य दो सतियों के साथ गृहस्थाश्रम में रहकर भी अपने को सदा सर्वदा भगवान के कैंकर्य में ही समर्पित किये रहते थे। सूरदास तो शुरू से विरागी और भगवद् भजन में आश्रय पाये हुये व्यक्ति थे। सांसारिक संबंधों का जंजाल अन्नमाचार्य को अधिक लगा था, अतः उनकी रचना में संसार की कड़ी आलोचना, उस ओर से होनेवाले अंतरायों का पग पग पर उल्लेख और सब को दूर करके भक्ति को स्थिर करने केलिए भगवान से अनुरोध, अडिग विश्वास से भगवान की शरण में अपने को समर्पित करके निश्चिंत रहने का प्रयत्न, जैसे भाव कई बार वर्णित हुए मिलते हैं। सूरदास जन्म से अंधे और असहाय थे, विरक्त होने पर भी भीड़ के कारण वे अकसर व्यग्र विफल होकर अकेले कहीं उठ जाते थे, और प्रथम दर्शन मे गुरु के

1. गीता, ६–४६, ४७
2. यो भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् । गीता, ९–२९
3. ब्रह्मसंस्थोमृतत्वमेति । छांदोग्य उपनिषद् २–३–२
4. न मे भक्तः प्रणश्यति । गीता, ९–३१
5. मयि भक्तिर्हि भूतानां अमृतत्वाय कल्पते । भागवत, १०–८२–४५
6. येमेवैष वृणुते तेन लभ्यः । कठोपनिषद् १–२–२२
7. अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्
   आनुकूल्येन कृष्णनुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।। ह. भ. सि. १–१–११

सामने भी वे धिधियाते ही रह गये। यह दैन्य सूर के विनय पदों में आमूलचुंबी होकर मिलता है। किंतु साथ ही भगवद् विश्वास और शरणागति के भाव हर पद में प्रकट होते हैं। आचार्यप्रभु ने लीलारहस्य बताया तो सूर की साधना में दैन्य का स्थान उत्साह, उल्लास व प्रेम को मिल गया। लीला वर्णन में उनकी भक्ति साकार होकर रसरूप परब्रह्म का साक्षात्कार ही करती है। अन्नमाचार्य के लीला-वर्णन में ऐहिक को पारलौकिक की सीमा तक उठते पाते हैं तो सूरदास के लीला-वर्णन में पारलौकिक को इहलोक में प्रतिष्ठित होते देखते हैं।

३.३.१.१ वह युग

जिस युग में ये दोनों भक्त कवि प्रकट हुए वह तो अतीव अशांति का युग था। देश का धार्मिक वातावरण तब न जाने कितने ही नास्तिक व अवैदिक दर्शनों और ढोंगी बीभत्सपूर्ण साधनाओं से कलुषित था। राजनैतिक वातावरण में स्वार्थ संकुचित मनोवृत्तिपूर्ण अहिंसा प्रवृत्ति और अवाध विलास भोग की अनुरक्ति आमूलतः व्याप्त थीं। सामाजिक वातावरण में लोभ मोहादि से प्रेरित प्रवंचना, कपट, ऐंद्रिय लोलुपता ऐहिक परायणता का सर्वत्र फैलाव था। ऐसे वातावरण में रहकर हमारे ये दोनों भक्त कवि उन सभी दोषों का एक मात्र निवारणोपाय सिद्ध होनेवाले भक्ति-मार्ग को अपनाकर, अपनी साधना के द्वारा प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति का सामंजस्य पूर्ण उदाहरण पेश करके, स्वयं तर गये और अन्यों के तर जाने में सहायक हुए।

३.३.१.२ हृदय-साम्य :

भक्ति के बारे में अन्नमाचार्य और सूरदास के मंतव्य एक ही तरह के हैं। दोनों के मत में भक्ति ही मुक्ति का एक मात्र उपाय है। अन्नमाचार्य कहते हैं कि

> "हरि ने 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो' कहकर कभी अभय दिया है, और क्या चाहिए ? इस दुनिया में हरि का नाम ही मुक्ति है। उसका दास्य ही मुक्ति है।"[1]

सूरदासजी कहते हैं कि

> "रे मन समुझि सोच-विचारि।
> भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ, कहत निगम पुकारि ॥"[2]

---

1. अ. सं १०–२३३ हरिनाममे मुक्ति अरसि कैकोंटेनु
   घर नातनि दास्यमे तगिन मुक्ति।
2. सूरसागर, पद ३०९

अन्नमाचार्य के मत में योग, ज्ञान, कर्म आदि सभी अन्य उपायों से भक्ति ही भगवत् प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है। वे कहते हैं कि

"यही मेरा व्रत है, मैं कर्मों को नहीं मानता। भगवान की शरण में जाना ही मेरे लिए जप, तप, धर्म और अन्य पुण्य कर्म हैं।"[1]

सूरदास भी इसी सुर में सुर मिलाते हुए कहते हैं,

"साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल, ये सब डारो धोइ।
.... ।
सूरदास स्वामी करुणामय, स्याम-चरन मन पोइ॥"[2]

अन्नमाचार्य कहते हैं कि

"हरि भक्ति के समान और कुछ नहीं है। भक्त होकर श्रीशुकदेव भगवान जैसे बने।"[3]

सूरदास कहते हैं कि

"हरि के जन अति ठकुराई।
महराज, रिषिराज, राजमुनि, देखत रहे लजाई।"[4]

अन्नमाचार्य के मत में भक्ति ही प्रधान है, वह रहे तो सब कुछ है, नहीं तो बाकी जो कुछ है वह सब व्यर्थ है।[5] सुरदासजी का भी यही मत है, तभी वे सलाह देते हैं कि

---

1. अ. सं. २–१७२ यिदिये नाकु मत मिदि व्रतमु
नुदुट कर्ममु नोल्लनिकनु।
निपुणत हरिने निनु शरणनुटे
तपमुलु जपमुलु धर्ममुलु।
नेपमुन सकलमु नीवे चेकोनुमु
उपमल पुण्यमुलोल्ल ने यिकनु॥

2. सूरसागर, पद २६२

3. अ. स. २–४६ हरिनी दास्यमुनकु नवि येमि सरिगावु
अरयशुकुंडुनिन्नंटि नीयंतायेनु।

4. सूरसागर, पद ४०

5. अ. सं. २–६२ हरिभक्तिगलिगिते अन्नियु मुख्यमु गाक
विरद्धाचारमुलेल्ल वृथा वृथा।

"जो बनिता-सुत-जूथ अकेले, हय-गय-विभव धनेरौ ।
सबै समर्पौ सूर स्याम कौं, यह सांचौ मत मेरौ ।।"[1]

अन्नमाचार्य कहते हैं कि

"हे श्रीवेंकटेश्वर, हमें यह कहीं भी देखने में नहीं आया, जहां तुम्हारे भक्तों का नाश हुआ ।"[2]

सूरदास शपथ पूर्वक कहते हैं कि

"जाकौं मनमोहन अंग करै ।
ताको केस खसे नहिं सिर तें, जो जग बैर परै ।"[3]

अन्नमाचार्य का उपदेश है कि

"मानुष हो या दैविक, जो कुछ होना है वह अवश्य होगा, लेकिन वेंकटेश्वर की कृपा हो तो सभी दुख दूर होंगे "[4]

सूरदासजी कहते हैं कि

"भावी के वश तीन लोक हैं, सुर नर देह धरै ।
सूरदास प्रभु रची सु ह्वै है, को करि सोच मरे ।।"[5]

अन्नमाचार्य कहते हैं कि

"अत्यधिक शुभ पाना है तो श्रीवेंकटेश्वर की सेवा करते उनकी करुणा का पात्र होना उचित है । उसीमें सुख है ।"[6]

---

1. सूरसागर, पद २६६
2. अ. सं. २-१३ येडचूचिन नीदासुलेक्कड जेड्डुट लेदु,
   यीड्डुलेदु श्रीवेंकटेश नीकुनु ।।
3. सूरसागर, पद ३७
4. मानुषमु गादु मरि दैविकमु गानि
   रानुन्नदि राक मान बोदु ।
   तिरुवेंकटगिरि देवुनि
   करुणचेत गानि कलुषमितयु बोदु ।। अ. सं. ३-६
5. सूरसागर, पद २६४
6. अ. सं. २-१ चेप्पग रानि मेलु गलुगुट श्रीवेंकटपति गनुटलु
   अप्पनि करुण गलिगि मनुट अब्बुर मैन सुखमुलु ।।

सूरदास कहते हैं,

"तातें सेइयैं श्री जदुराइ ।
संपति विपति तैं संपति, देह कौ यहै सुभाइ ।
सूरदास संपदा-आपदा, जिनि कोउ पतिआइ ।।"[2]

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों सगुण परमात्मा के उपासक हैं। अन्नमाचार्य श्रीवेंकटेश्वर की स्तुति में कहते हैं,

"देव देवोत्तम दिव्यावतार निज
भाव भावनातीत पद्मनाभ
श्रीवेंकटाचल शृंगारमूर्ति नन
सावयव सारूप्य शरणु शरणु ।।"[3]

सूरदास कहते हैं

"रूप-रेखा-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै,
सब विधि अगम विचारहि तातैं सूर सगुन पद गावै ।।"[4]

३.३.१.३ सामान्य भक्ति :

भक्ति साधना के प्रधान अंग संसार से विरक्ति और भगवान से अनुरक्ति हैं। संसार से विरक्ति हुए बिना भगवान से अनुरक्ति स्थिर नहीं होती। इसीलिए सभी आचार्य और आलवारों में वैराग्य का उपदेश देकर उसी के द्वारा भगवदनुरक्ति में स्थिरता को साधने का अनवरत प्रयत्न दीखता है। फिर, कुछ लोगों ने यह बताया है कि संसार पर जो अनुरक्ति है उसे भगवान की ओर लगाने से भी संसारिक व्यामोह को आसानी से दूर किया जा सकता है। लेकिन संसार के प्रति जीव का जो व्यामोह है, उसके पीछे अहंकार तथा ममकार बड़े सक्रिय रहते हैं। अतः जीव को पहले अपने अहंकार को दूर करना चाहिए और ममकार को काट डालना चाहिए। लेकिन यह बात तो आसान नहीं है। इसके लिए जीव का अपनी ओर से सतत प्रयत्न ही नहीं, अपितु भगवान की कृपा भी चाहिए। विनय के बिना भगवान की कृपा प्राप्त नहीं होती। विनय का अर्थ है विशेष रूप से झुकना। अपने को छोटा, अल्पज्ञ और अकिंचन मानकर भगवान

---

1. सूरसागर, पद २६५
2. अ. सं. ११–२५
3. सूरसागर, पद २

को सबसे बड़ा, महान और सर्वज्ञ समझकर भक्त को मनसा, वाचा और कर्मणा अपने इष्टदेव के चरणों में झुकना चाहिए। ऐसा करने में जो दीनता का अनुभव होता है, उसी से उसका अहंकार दूर होता है। जो दीन होता है, उसका ममकार पग पग पर निरर्थक साबित होकर स्वतः नाश होता है। अथवा अपने स्वामी इष्टदेव को ही वह अपनी सारी ममता का लक्ष्य बना लेता है। इसलिए सभी भक्त लोग अपनी साधना में विनय और वैराग्य को पहली सीढी मानते है। उसे साधने तथा उस पर अडिग रहने में सतत प्रयत्नशील रहते हैं। नारद भक्ति सूत्रों में भी बताया गया है कि ईश्वर भी अभिमान से द्वेष करता है और दैन्य से प्रसन्न होता है।[1] अभिमान छोड़कर जो भक्त दीनता लिए भगवान की शरण में जाता है वही उस भगवान को भी सबसे प्रिय लगता है। तभी अन्नमाचार्य 'त्वमेव शरणं त्वमेव शरणं त्वमेवमने श्रसणं प्रसरसि फणींद्र शयन'[2] कहकर श्रीवेंकटेश्वर की शरण में गये तो सूरदास 'प्रभु मेरो अवगुन न विचारो कीजैं लाज शरन आये की'[3] कहकर श्रीकृष्ण की शरण में पहुंचे।

३.३.१.४ विनय :

वैष्णव संप्रदाय में विनय के सात लक्षण बताये जाते हैं, जिनको भूमिका कहते हैं। वे हैं दीनता, मानमर्षण, भय दर्शन, भर्त्सना, अस्वासन, मनोराज्य और विचरण। दीनता विनय की जननी है। मानमर्षण माने अभिमान को मार दबाना, जो अहंकार की सब से बलवती औषधी है। संसार चक्र से जो सच्चा भय लगता है वही जीव को भगवान की शरण में पहुंचाता है। भगवान से विमुख होने से डांटकर, उसके उन्मुख होने से उद्धार की संभावना पर जोर देकर, भक्त अपने मन को पहले वश में कर लेता है और मुक्ति की बड़ी बड़ी अभिलाषाएं करके उनकी पूर्ति के लिए इष्टदेव से प्रार्थना करता है। यही उसका मनोराज्य है। उसमें विचरते रहकर वह बाहर की दुनिया से अपना संबंध मानों भूल जाता है। संसार में रहकर भी वह उससे अपना नाता तोड़ डालता है। वह उससे अलग रहने में ही आनंद मानता है। इस विषय में दार्शनिक बातों का विचार उसे पर्याप्त सहायता देता है। तत्व ज्ञान या तत्वावधान से यही लाभ है। वह जीव को इस संसार के माया-मोह में फंसने से बचाकर भक्ति मार्ग में आगे बढ़ाता है। यह रहस्य जानकर ही अन्नमाचार्य,

---

1. ईश्वरस्याप्यभिमान द्वेषत्वात् दैन्य प्रियत्वाच्च ।। ना. भ. सू. २७
2. अ. सं. २–३०८
3. सूरसागर, पद १११

"मायामय हैं सबके सब,
माया के तुम पति हो ।
माया जीव स्वतंत्र बनूं कब,
तुम्हीं मेरी गति हो ।।"[1]

कहकर श्रीवेंकटेश्वर की शरण में जाते हैं, तो सूरदास,

"छतउत चितवत जनम गयो ।
इन माया तृस्ना कें काओं दुहूं दृग अंध भयो ।"[2]

कहते श्रीकृष्ण की शरण में जाकर निश्चित होते हैं ।

३.३.१.५ शरणागति :

वैष्णवागमों में शरणागति तत्व का विशद वर्णन मिलता है। उनके अनुसार शरणागति के छः लक्षण होते हैं, जैसे

"अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्णनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासस्तथा गोपृत्व वर्णनम् ।
आत्मनिक्षेप कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ।।"[3]

अपने इष्टदेव के अनुकूल गुणों का अभ्यास व धारण करने का संकल्प, उसके प्रतिकूल गुणों का त्याग, रक्षा पाने में अचंचल विश्वास, रक्षक भगवान के निरतिशय गुणों का वर्णन, सर्वात्मना अपने को भगवान के श्रीचरणों में समर्पित करना और दीन होकर भगवान के सम्मुख पहुंचना शरणागति के लक्षण हैं । अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों में ये सभी गुण पाये जाते हैं । उनकी रचनाएं तो भक्ति के कोई लक्षण-काव्य नहीं हैं, किंतु उनकी साधना के बल उनमें उपर्युक्त साधन संबंधी सभी लक्षणों के लक्ष्य प्राचुर्य में मिलते हैं ।

३.३.१.६ अन्नमाचार्य के विचार :

अन्नमाचार्य अहंकार के निराकरण के लिए शास्त्रीय ढंग से पूछते हैं कि "जीव कितना है? उसका चित्र कितना है? दैवी विधान के आगे जीव की क्या

1. अ. सं. ८–२०८ (स्वीयानुवाद)
2. सूर पंचरत्न, विनय, पद १४
3. पांचरात्र आगम

चलती है?[1] तब यह अहंकार किस लिए है? आखिर हम से क्या होता है। "सारे जगत के कर्ता भगवान को हमारी आवश्यकताओं की चिंता नहीं है क्या? बीच में आकर हम अपने को कर्ता मानकर गर्व करते हैं, किंतु वास्तव में सब का कर्ता व धर्ता भगवान ही है।"[2] माया, मोह व ममकार को तोड़ने का उपदेश देते अन्नमाचार्य कहते हैं कि

"लो यह है संसार का फल! नितांत दुख रूपी गहना पहनाया न?[3] अब मालूम हुआ, संसार का रहस्य? भारवाही आदमी को अपने सिर का बोझ बीच बीच में नीचे उतार कर कुछ देर सांस लेने की फुरसत मिलती है, लेकिन संसारी जीव को वैसा अवकाश भी कभी नहीं मिलता।"[4]

सांसारिक मायाजाल का चित्र खींचते अन्नमाचार्य कहते हैं कि

"इस संसार का पार पहुंचना असंभव है। क्योंकि यह बिलकुल माया है इसका निस्तरण किसके वश है? यहां की संपदा चित्त विकार पैदा करती है तो धनहीनता दैन्य ला देती है। यहां के सभी संबंध स्वयं बंधहेतु हैं, किंतु उनको तोड़ने से देहधारण ही असंभव बन जाता है। यौवन खुद मदविकार है। वार्धक्य दुरंत कष्ट है। धनसंचय का कार्य

---

1. अ. सं. २–३१२ जीवुडेंतटिवाडु चित्तमेंतटिदि,
देविकमु गडव नेंतटिवाडु दानु।

2. अ. सं. गा. ३२ भूमितो प्रपंचमेल्ल पुट्टिंचिन देवुडु
आमीदि पारुपत्यान कंदु कोपडा।
नाममात्रपु जीवुलमु नडुमंतरान वच्चि
नेमु कर्तलमनुचु निगिडेमु गाक॥

3. अ. सं. ५–२११ इदिगो संसार मेंत मंचिदो गानि
तुदि लेनि दुःखमनु तोडवु गडियिंचे।

4. अ. सं. ११–२६
मोलगि भारपुमोपु मोचेटिवाडु, अलसि दिंपुकोनेडु नाडाडनु।
अलयु संसारिकि नदियु लेदाये, तोलगनि भार मेंदुनु दिंपरादु॥

निरंतर यातना है, लेकिन उसे छोड़ने से भूख बुझाना असंभव है।[1] कामिनियों के कटाक्ष तो अच्छे लगते हैं किंतु उनके पीछे ही प्राण-संकट जैसे कार्य छिपे रहते हैं। जैसे जैसे अभिलाषाएं बढती जाती हैं, वैसे वैसे संताप का जाल भी बढ़ता जाता है। अपार दुखों की संगति जैसी हो, असार संसार की संगति भी वैसी है।"[2]

अन्नमाचार्य के मत में जीव का कर्तव्य भगवान की शरण में जाना है, न कि संसार का अनुसरण करना। वे कहते हैं कि

"इष्टदेव, घर के अंगन में कल्पतरु, श्रीवेंकटेश्वर को छोड़कर औरों के पीछे दौड़ना नाव को छोड़कर पानी में डूबते मदद की पुकार मचाना जैसा है।[3] मानव जन्म का फल भगवान वेंकटेश्वर का दास बनने में ही है।[4] जीर्णरोग जैसे संसार का एकमात्र राज-औषधी हरि-भक्ति ही है।[5] नारायण ही सब का नायक है, दुराशा किये औरों के पीछे क्यों पड़े? चैतन्य का स्वामी हरि है। सृष्टि उसकी उपज है अंबर का अंतर्यामी वेंकटेश्वर जो हैं, वे ही दिन रात हमारी रक्षा करते हैं। फिर यह गर्व किसलिए? विनीत बनकर उनकी प्रशंसा करना ठीक है न?[6] लो भगवान

---

1. अ. सं. ११–२६९
   एंदुनु वोरादी संसारमु, कंदुव नी माय, गडवग वशमा।
   कलिमे चित्तविकार हेतु वदि, अलर लेमि दैन्य हेतुवु।
   पलु लंपटमुलु बंध हेतुवुलु, तलगिन नडवदु तनु पोषणमु ।।
   मद विकार मिदे महित यौवनमु, तुद वार्धकमे दुरंतमु।
   इदे अर्धार्जिन यातायातन, अदियु मानिते आकलि घनमु ।।
2. अ. सं. ११–३–३३
   एणनयनल चूपु लेंत सोबगै युंडु, प्राण संकटमुलगु पनुलु नट्लुंडु।
   एडलेनि परिताप मे रीति दा नुंडु, अडियास कोरिकलु नटुवलेने युंडु।।
   कडलेनि दुःख संगति येट्ल दानुंडु, अडरु संसारंबु नटेलने वुंडु ।।
3. अ. सं. २–१०४ यिंटिवेलुपु वेंकटेश् गोलुवक परुल
   वेंट दिरुगुट बोड विडिचि वदरिडुट ।।
4. अ. सं. २–२१२ एप्पुडु तिरु वेंकटेशु सेवकुडौट
   तप्पक जीवुडु तानैन फलमु ।।
5. अ. सं. ५–७४ चलपादि रोगमी संसारमु, नेडु
   वलुवैन मंदु हरिभक्ति जीवुलकु ।।
6. अ. सं. ८–२६४ नारायणुडे सर्व नायकुडु, वेरे दुरासलु वेदक चोटेदय्या।।

की भक्ति ही परम सुख है, सच, बाकी सब झूठ है, अतः उनसे भक्ति करो।"[1]

अन्नमाचार्य भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद नहीं मानते। उनके मत में घनिष्ट भक्ति हो तो बस, वह व्यक्ति चाहे अंतिम वर्ण का हो, सचमुच ब्राह्मण के समान है।[2] जाति-पांति का भाव व्यर्थ है। अजामिल आदि की क्या जाति है? जाति भेद तो शरीर का गुण है। वह शरीर के साथ नष्ट होता है। आत्मा सदा शुद्ध, निर्दिष्ट और नित्य है। फिर भगवद् ज्ञान से जो दास्य मिलता है वही एकैक उत्तम जाति है।[3]

अन्नमाचार्य हरि-भक्तों को हरि जैसे मानते हैं। वे कहते हैं कि

"भक्त लोग परोपकारी एवं प्रत्यक्षदैव हैं। वे औरों को ब्रह्मानंद देने में समर्थ हैं।[4] जिस गांव में हरि-भक्त रहते हैं, वहां रहना ही, बस, मोक्षकारक है।[5] संतों का सांगत्य सुज्ञान है। अतः प्रपञ्च जनों का यही परमाचार है कि सब तरह के विपरीत आचारों को छोड़कर, भगवान और भक्तों का अपचार न किये, मात्र श्रीहरि की शरण में विश्वास रखें, आचार्य के कहे अनुसार चलें। इसी में श्रेय है। वही परमवैष्णवता है।"[6]

भगवान की शरण में जाने में विलंब क्यों? अन्नमाचार्य कहते हैं कि

---

1. अ. सं. ९–३३ भक्ति नी पै दोकटि परमसुखमु
   युक्ति जूचिन निजंबोक्कटियु लेदु ॥
2. अ. सं. १०–१२८ कडलेनि नी भक्ति कलिगिते चालु
   कडजन्म मयिना निक्कपु विप्रकुलमे ॥
3. अ. सं. गा. ९५ विजातु लन्नियु वृथा वृथा
   अजामिलादुल कदिये जाति।
4. अ. सं. १०–१९९ परमोप कारुलु प्रत्यक्ष दैवमुलु
   हरिदासु लित्तुरु ब्रह्मानंद सुखमु ॥
5. अ. सं. २–३५२ हरि दासुलुन्न वूर दा नुंडिना चालु।
6. अ. सं ७–८३
   प्रपन्नुलकु निदि परमाचारमु, विपरीताचारमु विडुव वलयु।
   भगवदपचारमु भागवतापचारमु, दगुलक देवतांतरमु मानि
   नगधर शरणमु नम्मि याचार्युनि, बगिवायनिदे परमवैष्णवमु ॥

"पहले अपनी गति देख लो, बाद में दुनिया के काम। आत्मा में जो वेंकटेश्वर हैं उन्हीं के ये सारे संकल्प है।[1] कर्म और कार्य सब कुछ वे ही हैं। वे जो चाहे सो होगा। अनुमान क्यों? आलस्य क्यों? उनकी शरण में जाओ तो सब कुछ मिल जायेगा। 'भक्त-रक्षक' उनकी विरुद है। दास-जनों की रक्षा उनका धर्म है।[2] जल्दी करो, अभी क्यों न हो, उनका ध्यान करो। अपनी अन्य रुचियों को छोड़ दो। यह शरीर अनित्य है। यह संपदा अस्थिर है। संसार माया है। समय मत गंवाओ, शरण में जाओ। श्रीवेंकटेश्वर अवश्य तुम्हारी रक्षा करेंगे।"[3]

संसार का व्यामोह ऐसा-वैसा छूटने का नहीं। उसके कारण जीव यदि भ्रांत हो तो वह उसका दोष नहीं है। आखिर यह माया किसकी है? अन्नमाचार्य कहते हैं कि

"यह सब मायामय है, लेकिन मायापति हरि हैं। तब यहां और कौन स्वतंत्र हैं?[4] अतः संसार से छुटकारा पाना है तो हरि की शरण में जाना ही अंतिमोपाय है। लो, यह भगवान सब को सुलभ है। अंदर का अंतर्यामी ही बाहर शेषगिरि पर प्रकट है। योगीश्वरों के मन में रहनेवाले देव, क्षीरसागरशायी सर्वेश्वर, भागवतों के अधीन में रहनेवाले परमपुरुष आगमोक्त विविध विधानों से अर्चित नित्य परब्रह्म, यही श्रीवेंकटेश्वर

---

1. अ. सं. गा. ४७
मुंदु दागलिगिते मूडु लोकमुलु गल, वेंदु दा लेकुंटे नेमियुनु लेदु।
अंदि श्रीवेंकटेशु डात्मलोनने वीडे, कंदुवल नितनि संकल्प मी पनुलु॥

2. अ.सं.गा. ५१ कर्ममु नतडे कार्यमु नतडे कडगिन श्रीवेंकटविभुडु
निर्मिंचि नट्लनवु निश्चियु मरि ने डनुमानमुलेल
धर्मंबितनिकि ये कालंबुनु दासुल रक्षिंचे विरुदु
अर्मिलि यिननि गोलिचिन जालुनु अंदनि पदवुलु नंदीगाक।

3. अ. सं. २–३२३ सेयरो मनुजुलार चित हरि निकनैन
रोयरो मी भुजियिंचु रुचुल मीद
कायमस्थिरमु यीकलिमध्रवमु चाल
वोयवो येंदुकु गाक पोयें गालमु॥

4. अ. सं. ८–२०८ मायामयमु लिवि मायकु नीवेलिकवु
चायकु देव्वें नंटे स्वतंत्रुड नय्येना॥

हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं।[1] हम जैसे संसार व्यामोही, किंकर्तव्यता विमूढ जीवों का धर्म यही है कि जल्दी उनकी शरण में जाएं। अभी उनकी स्तुति करें। उनका स्मरण करें।

अस्मदादिना मन्येषां
तस्मिन् तस्मिन् तत्रच पुनश्च ।
मोहिना मत्यंत मुष्कराणां गुण-
ग्राहिनां भुवनैक कठिनानाम् ।
देहसंक्षालन वैदेशिको वा सदा
श्रीहरिस्मरण विशेषः पुनश्च ।
किंकुर्वाण दुःखित जीविनां
पंकिल मनोमव भ्रांतानाम् ।
शंका निर्वृतिः सरसा का श्रीं
वेंकटाचलपतेः विनुतिः पुनश्च ॥"[2]

अन्नमाचार्य का हरि-कृपा और हरि-दासों की कृपा पर अतीव विश्वास है। वे कहते हैं कि

"यही विश्वास हमारी पूंजी है। यही हमारा काम-निदान है। बाकी से हमारा क्या मतलब है? हे रमारमण, तुम ने "न मे भक्तः प्रणश्यति" कहकर जो अमोघ वचन दिया वही तुम्हारे सब दासों का एक मात्र आलंब है। हम अब निश्चिंत है। 'मामेकं शरणं व्रज' कहकर तुमने उस दिन जो उपाय बताया और रक्षा का वादा किया, वही हम सभी दासों का अटल आधार है। हमें बाकी कर्म-विधियों से क्या डर है? 'योगक्षेमं वहाम्यहं' कहकर तुमने जो आखरी वचन सुनाया, वही हम सब दासजनों का अवलंब है। हे वेंकटेश्वर, तुम्हारी करुणा मिली, अब हमें और क्या

---

1. अ. सं. ८–२८१
अंदरिकि सुलभुडै अंतरात्म युन्नाडु, इंदुने शेषगिरिनेयिरवैविष्णुडु।
योगीश्वरुल मतिनुंडेटि देवुडु क्षीरसागरशायियैन सर्वेशुडु
भागवताधीनुडैन परमपुरुषुडु, आगमोक्तविधुलंदु नलरिन नित्युडु।

2. अ. सं. २–३४२

चाहिए ?[1] यह कृपा इस तरह रहे तो बस, हम किसी से नहीं डरते, किसी भी लोक का भय नहीं खाते। अगर तुम्हारे दास हमें माने तो बस, काल तथा कर्म की जो कोई भी गति होवें, हम उसकी परवाह नहीं करते।[2] हम शरणागत हैं, मृत्यु कौन है ? काल कौन है ?[3]

अन्नमाचार्य कहते हैं कि "हम में सद्‌बुद्धि कब जगी ? और हम भगवान की शरण में कब गये। भगवान ने ही हम पर दया की तो हम उसके दास बने।[4]"

अन्नमाचार्य अपनी भूल मानते हैं और अपने इष्टदेव के सामने यह विनती लेकर पहुंचते हैं कि

"हे वेंकटेश्वर, मैं अतीव दुष्ट हूं, अत्यंत अलस हूं। मुझ में विवेक कहां ? मेरी भूलें करोड़ों की संख्या में हैं, जो ज्ञान कृत भी हैं और अज्ञान कृत भी हैं। अब मुझे आश्वासन देकर, मेरा भय दूर करके उद्धार करने का भार अब तुम पर है। तुम मुझे भूलो तो, भगवान, मेरी और क्या गति है ?[5] तुम स्वयं दया करो तो ठीक है, लेकिन मुझे ही सब कुछ विनती

---

1. अ. सं. २–५१
यिदिये कामनिदान मिदिये मूल धनमु, यिदिये नम्मुट गाक यितरमु लेल।।
अलयोग क्षेमं वहाम्यहमनु माट, अलरुचु तुदि पद मे वुंडगा ।।
नेलवैन श्रीवेंकटेश निन्नु गोलिचिन माकु, गलिगे नी करुणये कथलु नेल।।

2. अ. सं. २–३० यं लोकमैन वेरव येक्कुव श्रीवेंकटेश
पालिचि नी कृप नापै बारित्ते जालु
काल मेट्लैन वेरव कर्ममेट्लैन वेरव
येलिन नीदासुलु नन्निय्य कोंटे जालु ।।

3. अ. सं. २–२३ येमिटि वाडु जमुडु येक्कडि मृत्युवु
सामजवरद नी शरणु जोच्चितिमि ।।

4. अ. सं. २–५४ येन्नडु देवुनि गने मेन्नडु बुद्धेरिगेमु
तन्नंदाने हरि मम्मु दय जूचे गाक ।।

5. अ. सं. २–७९
अति दुष्टुंड नलसुडनु, यितर विवेक मिक नेदि ।
येरिगि सेसिन येरुगक सेसिन, कोरतलु ना येड गोट्टुलिवे
वेरवु दीर्चि श्रीवेंकटेश कावु, मरवक ना गति मरि येदि ।।

करके सुनाना है, तो उसका अंत कब होगा ?[1] मैं अधमाधम हूं, भगवान, मेरा उद्धार ही उद्धार है। जो पुण्यों से अधिक है, उसके उद्धरण में आश्चर्य क्या है, मेरे जैसे अधम का उद्धार ही सच्चा उद्धार है ।[2]

३.३.१.७ सूरदास के विचार :

भक्तवर सूरदास का भी यही मत है कि नर-जन्म की सार्थकता हरि-भक्त बनने में ही है । आदमी होकर जो भक्त नहीं बनता वह पशु के बराबर है ।

"भगति विनु सूकर कूकर जैसे ।
बिग बिगुला अरुगीध धुघुवा आय जनम लियौ तैसे ।
... ... ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु जैसे ऊंट सर भैंसे ।।"[3]

नरजन्म दुर्लभ है, क्योंकि इसी जन्म में जीव को विवेक से काम लेने का अवसर मिलता है । वह अवसर अब खो जाय तो बस, जन्म ही खो जायगा ।

१) आछे गात अकारथ गार्‌यौ ।
करी न प्रीति कमल-लोचन सौं, जनम जुवा ज्यौं हारयौ ।।[4]

२) औसर हार्‌यौ रे, तें हार्‌यौ ।
मानुष-जनम पाइ नर बौरे, हरि कौ भजन विसार्‌यौ ।।[5]

संसार के व्यामोह में पड़कर जीव उसके पीछे दौड़ता है और भगवान का भजन भूलता है । लेकिन वह यह नहीं सोचता कि संसार से नहीं, बल्कि भगवान से ही उसका उद्धार संभव है ।

१) क्यों तू गोविंद नाम विसार्‌यौ,
आजहूं चेति भजन करि हरि को, काल फिरत सिर ऊपर भार्‌यौ ।

---

1. अ. सं. २–९ करुणिचि नीवु गाक गाचितिवि गाक
शरणनि ने विन्नविंच संगतुला नाकु ।।
2. अ. सं. ५–२७ अधिकुनि गाचु टेमरुदु नन्नु
नधमुनि गाचुट यरुदु गाक नीकु ।।
3. सूरसागर, पद ३५७
4. सूरसागर, पद १०१
5. सूरसागर, पद ३३६

धन-सुत-दारा-काम न आवैं, जिनहि लागि अपनपौ खोयौ ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, चल्यौ पछिताय नयन भरि रोयौ ।। [1]

२) रे मन जनम गंवायौं ।
करि अभिमान विषय रख गीध्यौ स्याम-सरन नहिं आयौ ।। [2]

संसार को क्षणभंगुर जानकर भी जीव जो अभिमान करता है, वह कितना शोचनीय है !

"जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै,
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहै ।
या देही को गर्व न करिये स्यार काग गिधिं खैहें ।।" [3]

हरि भजन ही स्थिर सुख का उपाय है । भगवान भक्त-रक्षक हैं । वह जिसे अपनाता हैं उसको कोई कभी या कहीं कुछ नुकसान नहीं पहुंचा सकता । हरि जैसा सच्चा हितैषी मित्र कोई भी नहीं हैं । वह आपद्बांधव है ।

१) जो पै राम नाम धन धरतो ।
टरतौ नहीं जनम जनमांतर कहा राज जम करतो ।। [4]

२) हरि ते ठाकुर और न जन को,
जेहि जेहि विधि सेवक सुख पावै तेहि विधि राखत तिनको ।। [5]

३) हरि सो मीत न देख्यौं कोई ।
अंतकाल सुमिरहु तेहि अवसर आनि प्रतिच्छो होई ।। [6]

४) और न जाने जन की पीर
जब जब दुखित भये जन तब तब कृपा करी बलवीर ।। [7]

५) जाको हरि अंगीकार कियौ ।
ताको कोटि विघन हरि हरिकै अभय प्रताप दियौ ।। [8]

---

1. सूर पंचरत्न, विनय, पद २८
2. सूरसागर, पद ३३५
3. सूर पंचरत्न, विनय, पद ३८
4. सूर पंचरत्न, विनय, पद ४५
5. सूरसागर, पद ९
6. सूरसागर, पद १०
7. सूर पंचरत्न, विनय, पद १९
8. सूरसागर, पद ३८

सूरदास बार बार यही उपदेश देते है कि हरि भक्तवत्सल हैं, उनकी शरण में जाओ, उनका भजन करो, तुम्हारे दुख दूर हो जायेंगे। हरि-भजन से जो विमुख हैं उनका सांगत्य छोड़ दो, हरि-भक्तों का सांगत्य बना लो।

१) छांडि मन हरि विमुखन का संग।
जाके संग कुबुद्धि उपजैं परत भजन में भंग ॥[1]

२) रे मन कृष्ण नाम कहि लीजे।
गुरु के बचन अटल करि मानहु साधु समागम कीजै ॥[2]

सूरदास भक्तों में ऊंच-नीच का भेद नहीं मानते। भक्ति ही उत्तमता का लक्षण है, क्योंकि वह भगवदनुग्रह का लक्षण है।

जा पर दीनानाथ ढरे।
सोइ कुलीन बड़ो सुंदर सोइ जिन पर कृपा करे ॥[3]

सूरदास भगवान से अक्सर यही विनती करते हैं कि वह यथाशीघ्र माया-जाल से विमुक्त करके उसे अपनावें। हरिमाया को तारना हो तो हरि की ही मदद चाहिए। अतः सूरदास कहते हैं:—

१) अब के माधव मोहि उधारि।
मगन हों भव अंबुनिधि में कृपा-सिंधु मुरारि।
नीर अंत गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जल में ग्रहे ग्राह अनंत ॥[4]

२) विनती सुनो दीन की चित दे कैसे तव गुन गावें।
माया नटिनी लकुटि कर लीने कोटिक नाच नचावै ॥[5]

३) अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहरि चोलना, कंठ विषय की माल ॥[6]

जीव मात्र के प्रतिनिधि के रूप में सूरदास अपने इष्टदेव से कहते हैं:—

---

1. सूर पंचरत्न, विनय, पद ३४
2. „ „ पद ९०
3. सूर पंचरत्न, विनय, पद ३९
4. सूर पंचरत्न, विनय, पद ५
5. „ „ पद ७१
6. सूरसागर, पद १५३

१) मो सो कौन कुटिल खल-कामी ।
जिन तनु दियो ताहि बिसार्‌यौ ऐसो नोंन हरामी ।
... ...
सूर पतित को ठौर कहां है सुनिये श्रीपति स्वामी ।।[1]

२) नाथ जू अब मोहि उबारो ।
पतितन में विख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारों ।
छुद्‌ पतित तुम तारे श्रीपति अब न करो जिय गारौ ।
सूरदास सांचौ तव माने जब होवे मन निस्तारौ ।।[2]

सूरदास उद्धार के अनुरोध में जिद पकड़े-से लगते हैं ।

१) पतित पावन हरि विरुद तुम्हारे कौने नाम धर्‌यौ ।
हौं तो दीन दूखित अति दुर्बल द्वारे रटत पर्‌यौ ।।[3]

२) महामाचल मारिवो की सकुच नाहिं न पोहिं ।
पर्‌यौ हौं पन किये द्वारे लाज पन की तोहि ।
नाहिं नौ कांचो कृपानिधि कहो कहा रिसाइ ।
सूर कबहु न द्वार छांड़े डारि हौं कढ़ि राछ ।।[4]

जिद्दी होकर भी सूरदास अपनी भूलों को स्वीकारने में मुंह नहीं मोड़ते । वे शपथपूर्वक कहते हैं कि में पतितों में विख्यात पतित हूं । लेकिन हरि पतित पावन हैं । वह समदर्शी हैं । अतः उनकी शरण में जाकर निश्चित रहना श्रेय है।

१) प्रभु मैं सब पतितन का राजा ।
को करि सकत बराबरि मेरी, पाप किये तर राजा ।
... ...
नाम मोर सुनि नरकहु कांपै, जम-पुर होत अवाजा ।
सूर पतित को ठांव नहीं है, तुम्हीं पतित नेवाजा ।।[5]

२) प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो ।
समदर्शी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहि करो ।।[6]

---

1. सूरसागर, पद १४८
2. सूर पंचरत्न, विनय, पद ५८
3. ,, ,, पद ५९
4. सूर पंचरत्न, विनय, पद २
5. ,, ,, पद ६७
6. ,, ,, पद ६३

सूरदास इस बात में कृत-निश्चय हैं कि 'भगवंत भजन विनु फिरि फिरि जठर जरै।' और उनका इस बात में अटल विश्वास भी है कि 'भगवंत भजन करि सरन गहे उधरै।' वे भक्ति में तल्लीन होकर सभी और बातों को भूलना चाहते हैं।

ऐसो कब करि हो गोपाल।
मनसानाथ मनोरथ दाता हों प्रभु दीनदयाल।
चित निरंतर चरनन अनुरत रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन-कर कंजनि दल भाल।
ऐसे रहत लिखै छिनु छिनु जम अपनौ मायो जाल।
सूर सुजसरागी न डरत मन सुनि जातना कराल ।।[1]

३.३.१.८ तुलना :

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों एक ही तरह के भक्तहृदय रखते हैं। अतः दोनों के विचार और विश्वास एक ही तरह के पाये जाते हैं। दोनों भक्ति को ही संसार-तरण का एक मात्र उपाय स्वीकार करके सर्वात्मना भगवान की शरण में जाना ही जीव मात्र का धर्म मानते हैं। भागवताभिमान, आचार्यनिष्ठा, वैराग्य एवं दीनता के भाव दोनों में समान रूप से विद्यमान होते हैं। भगवद् विश्वास और साधना-निरति में दोनों समानशील दीखते हैं। दोनों एक ही तरह से शास्त्रानुमोदित भक्ति-मार्ग के साधक हैं, यही बात नहीं, वे एक ही तरह के विचार रखते हैं और कभी कभी एक मुंह से बोलते हैं।

३.३.२ भक्ति के प्रकार :

भक्ति के साधन और साध्य दो रूप बताये गये हैं। साधन रूप को शास्त्रीय होने से वैधी भक्ति अथवा मर्यादा भक्ति कहते हैं। गीता में इसीको गौणी भक्ति कहा गया है। क्योंकि भक्ति की सिद्धावस्था या साध्यरूप इससे परे और प्रधान है। गीता में गौणी भक्ति के साधकों को उनके गुणानुरूप चार भेद किये गये हैं, जैसे 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।'[2] भागवत पुराण में इन्हीं का तामस, राजस, सात्विक व निर्गुण भेद से वर्णन किया गया है।[3] सूरसागर में इसी के अनुसार यों कहा है।

---

1. सूर पंचरत्न, विनय, पद १५
2. गीता, ७–१६
3. भागवत, ३–२९–७, १४

माता भक्ति चार प्रकार सत रज तम गुन सुधासार ।
भक्ति सात्विकी चाहति मुक्ति, रजो गुनी धन कुटुंब अनुरक्ति ।
तमोगुनी चाहे या भाई मम वैरी योंही मर जाई ।
सुधा भक्ति मोक्ष को चाहे, मुक्तिहू की नहिं अवगहे ।।[1]

स्पष्ट है कि गीता का आर्तभक्त तामस भक्त है, जिज्ञासु तो राजस भक्त है और आर्थार्थी तो सात्विक भक्त है । यहां ज्ञानी से निर्गुण (अहैतुकी) रूप भक्ति की ओर संकेत है जिसे सूरदास ने सुधासार (अमृतरूपा भक्ति) कहा है । यही भक्ति का साध्य पक्ष होता है । यही परमानुरक्ति रूपी भक्ति है, जो परा भक्ति अथवा परोक्षज्ञान भक्ति का रूप लेकर साधक को ब्रह्मसंस्थान की दशा में पहुंचाती है । हरिभक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति के साधन पक्ष के ही वैधी और रागानुगा रूप दो भेद माने गये हैं, जैसे 'वैधी रागानुगा चेतिसा द्विधा साधना[2] भिधा । फिर रागानुगा भक्ति के भी काम और संबंध रूप से दो भेद बताये गये हैं, जैसे, 'सा काम रूपा संबंध रूपा चेति भवेद्द्विधा ।'[3] इस ग्रंथ में पराभक्ति को ही साध्य भक्ति मानकर रागानुगा की चरमपरिणिति को श्रेष्ठ, सिद्ध अथवा साध्यभक्ति कहा गया है । परा भक्ति को ही नारद ने 'प्रेम भक्ति' कहकर विस्तार से उसका वर्णन किया है ।

३.३.२.१ नवधा भक्ति :

भक्ति के साधनापक्ष के वर्णन में, उसे सुदृढ करने के कई उपाय बताये गये हैं । पांचरात्र में अभिगमन, उपादान आदि पांच साधनाओं द्वारा व्यूहोपासना की समग्र अर्चाविधि जो बतायी गयी है वही आगे चलकर ज्ञानामृतसार में छः प्रकार की उपासना करके बतायी गयी है । अंत में वही भागवत में नवधाभक्ति के रूप में वर्णित हुई है । क्रिया का प्राचुर्य उसका लक्ष्य है । किंतु एकांत भक्ति की श्रेष्ठता तो यहां भी स्वीकृत है । नवधाभक्ति में कथित,

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्य मात्म नितेदनम् ।।[4]

वाली नौ प्रक्रियाओं में से तो किसी का वेदों में भी वर्णन मिलता है । जैसे......

---

1. सूरसागर, पद ३९४
2. ह. भ. सि. १-२-३
3. ह. भ. सि. १-२-८२
4. भागवत, ७-५-२३

श्रवण — सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदम्यचित् ।।
कीर्तन् — विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचथ ।। इत्यादि ।[1]

कहने का तात्पर्य है कि यह सब साधना निरी पौराणिक या तांत्रिक नहीं हैं, किंतु बिलकुल वैदिक है । इसीलिए अब तब जितने पहुंचे हुए भक्त लोग हुए उन सभी की साधना में इनका सतत संतत अभ्यास देखने में आता है । नारद, शांडिल्य आदि भी नवधाभक्ति का वर्णन करते हैं ।[2] सूरदासजी ने प्रेम को भी जोड़कर नवधाभक्ति को दशधा बताया है ।[3] किंतु परंपरा यही बताती है कि उपरोक्त नौ अथवा दस विधानों में से किसी एक का ही अनवरत अभ्यास मोक्ष देने में समर्थ है । हरि कथा श्रवण से राजा परीक्षित तर गये तो हरिनाम कीर्तन से नारद नित्य हो गये । दास्य से हनुमान और सख्य से उद्धव का उद्धार हो गया । गोपांगनाओं के प्रेम में स्वयं भगवान ही बद्ध हो गये । तभी 'ईश्वर तुष्टेरेकोपि बली'[4] कहकर शांडिल्य ने इन साधनाओं में हर एक को अपने में पूर्ण और सिद्धिप्रद माना है ।

३.३.२.२ आलोच्य कवि और नवधाभक्ति :

हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों की साधना में ये सभी विधान पाये जाते हैं । श्रवण, कीर्तन और स्मरण तो उनका नित्य जीवन हैं । भगवान के रूप, गुण, यशोवृत्तादि का श्रवण उसके प्रति अनुराग को जगाने-वाला होता है । रुक्मिणी तो श्रीकृष्ण के निरत गुण श्रवण से ही उनसे अनुरक्त हुई । वह कहती है 'हे राजसिंह कृष्ण, तुम जैसे धन्य, लोक मनोभिराम गुण, विद्या, रूप, तारुण्य, सौजन्य, श्री, बल, दान, शौर्य, करणा सुशोभित पुरुष से कौन अनुरक्त नहीं होते ।'[5] हरि-गुण-कथा श्रवण का यही महत्व पहचान कर सभी सिद्ध व साधक भक्त इसमें रुचि दिखाते हैं । अन्नमाचार्य कहते है कि "सुनना हो तो विष्णु का यश ही सुनना है, वही सबसे अच्छा वेदांत श्रवण है ।[6] हर

---

1. ऋग्वेद, १–५६–२ और १–१५४–१
2. लोकेपि भगवद् गुण श्रवण कीर्तनात् ।। ना. भ. सू. ३७
   रागार्थ प्रकीर्ति साहचर्याच्चेतरेषाम् ।। शा. भ. सू. ५७
3. श्रवण कीर्तन स्मरण पदरति अरचन बंदन दास ।
   सख्य और आतमनिवेदन प्रेम लक्षणा जास ।। सूरसारावली, पृ ५
4. शा. भ. सू. ६३
5. आंध्रमहाभागवत, पोतना, १०–१७०७
6. अ. सं. २–३११

हमेशा श्रीवेंकटेश्वर की कथाओं को सुनते रहें तो कालकूल सभी दोषों से हम मुक्त हो सकते हैं ।[1] भगवान की गुण-कथाएँ संपूर्ण व शाश्वत भोग-भाग्य हैं ।[2]

सूरदास हरि-लीला का श्रवण फल हरिभक्ति मानते हैं और कहते हैं,

"जो यह लीला सुनै सुनावै ।
सो हरि-भक्ति पाइ सुख भावै ।।"[3]

३.३.२.३ श्रवण, कीर्तन, और स्मरण :

हरिलीला का सुनना श्रवण भक्ति है तो सुनाना कीर्तन भक्ति है । 'नाम लीला गुणादीनामुच्चेर्भाषालु कीर्तनम् ।'[4] कहकर ऊंची आवाज में हरि-लीला गान करने का उपदेश दिया गया है । अन्नमाचार्य कहते हैं कि,

हरि संकीर्तन से सब तरह के दुख दूर होते हैं ।[5] वाल्मीकि जैसे लोग वेद शास्त्रों को सुनकर या सुनाकर नहीं, बल्कि हरि गुण कथा संकीर्तन से ही महात्मा बन गये ।[6] जो आदमी हरि का यश गाता है वही ब्राह्मण है ।[7] सूरदास जी कहते हैं कि 'सोई भल जो रामहि गावै ।'[8] 'जो सुख होत गुपालहि गाये, सो सुख होत न जप तप कीन्हें ।'[9] असल में अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों अपने इष्टदेव के सान्निध्य में संकीर्तन सेवा में ही लगे रहे थे । आठों याम उनका काम भगवान का यशोगान ही था । फिर, ये दोनों संगीतज्ञ भी थे । अतः अपने गान से परमात्मा को संतुष्ट करना ही उनका ध्येय रहा । गीता में 'सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः'[10] कहकर भक्तों का जो लक्षण बताया गया है, यह इन दोनों भक्त कवियों में स्पष्ट लक्षित होता है ।

संकीर्तन का ही मानसिक या मंत्रजप रूप संस्मरण है । यही चिंतन है । भगवान के रूप गुण क्रीडा आदि का चिंतन अथवा उसके अनंत नामों में से किसी एक या अनेक का संतत जप भी स्मरण भक्ति के अंतर्गत है । तभी सभी भक्त लोग हरि नाम स्मरण को अपनी साधना में अत्यधिक प्राधान्य देते है और नाम

---

1. अ. सं. २–२७८
2. अ. सं. २–१३२
3. सूर सागर, पद ४४९
4. ह. भ. सिं पूर्वभाग, २–४८
5. अ. सं. २–३२८
6. अ. सं. २–१९४
7. अ. सं. २–३४०
8. सूर सागर, पद २३३
9. सूर सागर, पद २४८
10. गीता, ९–१४

महिमा की पुनः पुनः प्रशंसा करते हैं। अन्नमाचार्य के मत में 'हरि का नाम ही मुक्ति है।'[1] वे कहते हैं :

"मेरी जिह्वा को उतनी रुचि किसी में नहीं मिलती, जितनी कि हरि नाम में मिलती है।[2] राम नाम का जप ही तप है, वही शाश्वत पुण्यलाभ का मूलमंत्र है।[3] मुक्ति का एकमात्र राजमार्ग नलिनाक्ष श्रीहरि का नाम है।[4] जिस तरह पारस के लगते ही लोहा सोना बनता है, उसी तरह जिह्वा पर भगवन्नाम के लगते ही हीन कुलवाला भी उत्तम हो जाता है।[5] अतः सभी आचार विचार या पठन-पाठन से हरि नाम का पठन अधिक है।"[6]

सूरदास भी यही कहते हैं कि 'बड़ी है राम नाम की ओट।'[7] सौ बातन की एक बात सूर सुमरि हरि हरि दिन रात।'[8] हरि स्मरण से सभी सुख मिलते हैं, अतः हरि का स्मरण करो।

"हरि हरि हरि सुमरो सब कोई, हरि सुमरित सब सुख होई।
हरि समान द्वितीय नहिं कोई, हरि चरननि राखो चित गोई।
श्रुति स्मृति सब देखो जोई, हरि सुमरि होह सो होई।
हरि हरि हरि सुमरो सब कोई, बिनु हरि सुमरिन मुक्ति न होई॥"[9]

लोक में 'हरिः ओं' कहकर शुभकार्य का आरंभ करते हैं। वेदाभ्यास में भी 'हरिः ओं' कहकर आद्यंत में हरि का नाम लेते हैं। भगवान वेदनिलय हैं। तभी अन्नमाचार्य कहते हैं कि 'सभी वेद शास्त्रों का निछोड़ हरि नाम है।'[10]

३.३.२.४ पदरति, अर्चन और वंदन :

पाद सेवन्, अर्चन और वंदन का संबंध भगवान के रूप से है। मंदिरों में भगवान की अर्चामूर्ति की पूजा में ये तीनों पठित होते हैं। फिर भक्त लोग अपने मनोमंदिर में ही अपने इष्टदेव के विग्रह को सुप्रतिष्ठित करके सदा सर्वदा उसकी सेवा, अर्चा व वंदना करते रहते हैं। शरणागति का अर्थ ही भगवान के श्रीचरणों में आश्रय लेना है। भक्त को भगवान के श्रीपादों से अधिक वरणीय

---

1. अ. सं. १०–२३३
2. ,, १०–२५०
3. ,, २–४९
4. ,, २–६६
5. ,, २–३९१
6. अ. सं. १०–२३१
7. सूरसागर, पद २३२
8. ,, पद ३४८
9. ,, पद ३४८
10. अ. सं. ११–१०३

वस्तु कोई नहीं है। अन्नमाचार्य अपने संकीर्तन पदों को भगवान के पावों में समर्पित पूजापुष्प मानते हैं।[1] वे कहते हैं :

"हरि के साकार रूप की शरण में जाने से सभी पाप दूर होते हैं।[2] चाहे कितने ही सुरम्य रूप देखें, उनमें उतनी पूर्णता नहीं मिलती जितनी कि भगवान के साकार रूप में।[3] हरि विश्वात्मक हैं, सभी सुरम्य वस्तुओं में हैं, उसे देखना सब कुछ देखना है।[4] भगवद्दर्शन ही परमसुख है।[5] ब्रह्मा ने खुद हरि के चरण धोये हैं। यह पाद खुद ब्रह्म है। इसी चरण ने ब्रह्मांड को नापा। बलि के सिर पर यही चरण शोभित हुआ। आसमान में यही पाद विराजा। देवेंद्र को इसी चरण में रक्षा मिली। अहल्या का उद्धार इसी पाद ने किया। कालिय नाग के फणों पर इसी ने नाट्य किया। लक्ष्मी को यही प्रिय है। गरुड इसी की सेवा में लगे हैं। योगेश्वरों का मन इसी पाद के संतत ध्यान में रहता है। यही परमपद का वर देनेवाला पाद है।[6] हे वेंकटेश्वर, तुम यहां हो, अतः मैं इहलोक

---

1. अ. सं. ७–१०४ दाचुकोनि पादालकु दग ने जेसिन पूजलिवि।
पूचिननी कीरिति रुपपुष्पमु लिवि ययूया ॥
2. अ. सं. २–३९९ साकारु डैन हरि शरणु जोच्चिन चालु।
जेकोनि पापमु लेन्नि चेसिन नेमि ॥
3. अ. सं. १०–२५० गरिम नेन्नि रूपुलु कन्नुलु ने जूचिनानु।
पुरुषोत्तमु जूचिन पूर्ति यंदु लेदु ॥
4. अ. सं. २–१६७ हरि विश्वात्मकुंडंदरि लो नुन्डाडु।
दर्शिंचि व्रतकरो तप्पुलेदु यिकनु ॥
5. अ. सं. २–१ चेप्पगरानि मेलु गनुट श्रीवेंकटपति गनुटलु ॥
6. अ. सं. २–१३०
ब्रह्म गडिगिन पादमु, ब्रह्ममु दाने नीपादमु।
चेलगि वसुध गोलिचिन नी पादमु, बलितल मोपिन पादमु,
तलकक गगनमु दन्निन पादमु, बलरिपु गाचिन पादमु।
कामिनि पापमु कडिगिन पादमु, पामुतल निडिन पादमु,
प्रेमपु श्रीसति पिसिकेडि पादमु, पामिडि तुरगपु पादमु।
परम योगुलकु बरिपरि विधमुल परमोसगेडि नीपादमु,
तिरुवेंकटगिरि तिरमनि जूपिन परम पदमु नीपादमु ॥

को ही परमपद मानता हूं।[1] तुम्हारा यह कैंकर्य मेरे लिए कैवल्य से अधिक है।"[2]

सूरदास भी हरि चरणानुरक्त हैं। वे अपने मन को बार बार उपदेश देते हैं,

१) भजि मन नंदनंदन चरन।
परम पंकज अति मनोहर सकल सुख के करन।
सनक शंकर ध्यान धरत निगम आगम वरन ॥[3]

२) मन तौसों किसी कही समुझाइ।
नंदनंदन के चरन-कमल भजि, तजि पाखंड चतुराइ ॥[4]

३) जे जन सरन भजे बनवारी।
ते ते राखि लिए जग जीवन, जहं जहं बिपति तहं टारी ॥[5]

४) बंदौ चरन सरोज तिहारे।
सुंदर स्याम कमल-दल लोचन ललित त्रिभंगी प्रान पियारे।
जे पद पदुम सदा शिव के धन सिंधु-सुता उर तें नहिं टारे।
जे पद पदुम तात रिसि त्रासित मन-बच-क्रम प्रहलाद संभारे।
जे पद पदुम परस जल भावन सुर सरि दरस करत अध भारे।
जे पद पदुम परस रिषि पतिनी बलि नृग व्याध पतित बहु तारे।
जे पद पदुम रमत बृंदावन अहि सिर धरि अगनित रिपु मारे।
सूरदास तेई पद-पंकज त्रिविध ताप दुख हरन हमारे ॥[6]

५) चरन कमल बंदो हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लांघै अंधेको सब कुछ दरसाई ॥[7]

---

1. अ. सं. ७–३९ चेकोंटि निह्मे परमनि कैंकोनि नीविंदु कलवे कान।
2. अ. सं. ७–२४९ कैवल्यमु कंटे कैंकर्य मेक्कुडु।
3. सूरसागर, पद ३०८
4. „ पद ३१७
5. „ पद २२
6. सूरसागर, पद ९४
7. „ पद १

३.३.२.५ दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण :

दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण का संबंध हृदय के भाव से है। यही भाव परिणत दशा में रस रूप लेता है। भगवदनुरक्ति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही ऐसी परिणत दशा तक साधक को ले जाने में समर्थ है। तब साधक का हृदय विशाल होता है और भाव अत्यंत उदार होते हैं। भगवान का दास्य भागवतों के दास्य का रूप लेता है और उनका सख्य हर भगवदीय का सख्य होकर विश्वप्रेम का रूप लेता है। साधक सर्वकाल-सर्वावस्थाओं में अपने को भगवान के सान्निध्य में, उनकी सेवा में निरत पाता है। वह सर्वात्मना भगवान को अर्पित हो जाता है। आत्मसमर्पण से उसके सभी भेद-भाव मिट जाते हैं और सारी चिंताएं दूर होती हैं। वह अपना भार भगवान पर छोड़कर निश्चिंत हो जाता है। हमारे आलोच्य भक्तकवि अन्नमाचार्य और सूरदास में भगवान तथा भागवतों की सेवा, भगवदीयों से अनुरक्ति, सर्वात्मना अपने को इष्टदेव के श्रीचरणों में समर्पित करने की प्रवृत्ति, जैसी बातें खूब दर्शनीय हैं।

अन्नमाचार्य के मत में श्रीवेंकटेश्वर पर सारा भार छोड़कर वैष्णव जनों का कृपापात्र बनकर रहना परम सुख है।[1] तभी वे अपने को भगवान के दासों का दास मानते हैं।[2] उनका विश्वास है कि भगवान से अपने दासों का कष्ट देखा नहीं जाता।[3] सूरदास कहते हैं,

> "सुवा चलि ता बन को रस पीजै, सूरदास साधुनि की संगति बड़े भाग्य जो पाऊं।"[4] उनका निश्चय है, 'जा दिन संत पाहुने आवत, तीरथ कोटि समान करें फल जैसो दरशन पावत। नयों नेह दिन दिन प्रति उनके चरण कमल चित लावत।'[5] उनका उपदेश है कि 'सूरदास संगति करि तिनकी जे हरि सुरति करावत।'[6]

भगवान सारे विश्व में व्याप्त हैं। वह सबका अंतर्यामी है। अतः भक्त को विश्व भर में उसी का रूप दीखता है। वह किसी की निंदा नहीं करता,

---

1. अ. सं. ८–२१२
2. ,, २–२३१
3. अ. सं. ८–२६६ नी दासुल भंगमुलु नीवु चूतुवा।
   येंदेनि चूपेनु नीकु नेच्चरिंच वलेना ।।
4. सूर सागर, पद ३४०
5. ,, पद ३६०
6. ,, पद ३६०

किसी की हानि नहीं चाहता। सर्वभूतदया और अहिंसा वैष्णवों के प्रधान धर्म हैं। यह विश्वप्रेम भगवान की विराड् रूप में अर्चना ही है। अन्नमाचार्य कहते हैं कि,

"हे भगवान, मैं जिस किसी की निंदा करूं, वह तुम्हारी निंदा ही होगी, क्योंकि तुम सभी में हो।[1] मैं मानता हूं कि जीव मात्र हो कर देह-धारण करने का फल सकल-भूत-हितैषी होकर रहना ही है।[2]

सूरदास कहते हैं कि "बैठत सबै सभा हरि जू की, कौन बड़ो को छोटो।"[3] तब अभिमान या अहंकार करके औरों की निंदा या हिंसा क्यों करें।

भक्त जन को भगवान से संबंध रखनेवाली हर वस्तु से प्रेम होता है। अन्नमाचार्य तिरुमल पहाड़ को ही भगवान का बृहद् रूप मानते हैं। फिर, वे कभी कभी यह कहकर चिंतित होते हैं कि "खैर, न जाने, मैं तब क्या हुआ, जब भगवान वृंदावन में धेनुओं व गोप बालकों के साथ विचरण करते थे, तब अगर में एक बछड़ा रहता या कोई गोप बालक होता तो कितना अच्छा होता।"[4] सूरदास बृंदावन की धूल को भी परम पवित्र मानते हैं और चाहते हैं कि "बृंदावन रज ह्वै रहुं, ब्रह्मलोक न सुहाई।"[5]

३.३.३ भक्ति रस :

भगवान अमृत स्वरूप है। इसलिए उससे की जानेवाली भक्ति को भी 'अमृत स्वरूप' बताया गया है। 'तदर्पिताखिलाचारिता, तद् विस्मरणे परम व्याकुलता'[6] कहकर नारद ने इसका लक्षण ऐसा स्पष्ट किया है कि भक्ति साधना में भक्त अपने सभी आचरणों को उस परमात्मा को समर्पण करते जाते हैं और एक क्षण के लिए भी उस भगवान को भूलकर उनसे रहा नहीं जाता। ऐसी

---

1. अ. सं. ५–९ एव्वरि गादन्न नदि निन्नु गादनुट।
   एव्वरि गोल्चिन नदि नी कोलुपु॥
2. अ. सं. २–२१२ सकल भूत दय चाल गलुगुट।
   प्रकटिंचि देह संभवमैन फलमु॥
3. सूर सागर, पद २३२
4. अ: सं. २–१२
5. सूर सागर, पद १११०
6. ना. भ. सू. ३, १९

अनन्यभाव से पूर्ण आत्मसमर्पण युक्त भक्ति को ही परानुरक्ति, अर्थात् ईश्वर में गंभीर अनुराग बताया गया है। अनुराग हृदय का भाव है। "मनोनुकूल विषयेष्वनुरागो रतिः" कहकर काव्य शास्त्र में किसी एक मनोनुकूल विषय के प्रति जो अनुराग होता है उसे रति कहा गया है। जब यह रति 'देव-विषया' अर्थात् भगवदनुराग या भगवत् प्रेम के रूप में व्यक्त होता है तब उसे 'भक्ति' कहते हैं। यद्यपि प्रसिद्ध शृंगार आदि नौ रसों में भक्ति को नहीं गिना है, तथापि कई प्राचीन आलंकारिकों के मत में 'भक्ति' भाव भी अनुकूल विभावादि के साहचर्य से रस रूप में परिणत होने में समर्थ है। शांडिल्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि भक्ति ब्रह्म संस्थान है।[1] छांदोग्य के अनुसार जो ब्रह्मसंस्थ है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है।[2] शांडिल्य ने यह भी कहा है कि रस शब्द से प्रतिपाद्य होने के कारण से भक्ति राग-रूपा है।[3] 'रसो वै सः,' 'रस ह्येवायं लब्धानंदी भवति'[4] इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म का जो रसरूप प्रमाणित होता है', उन्हीं के आधार पर अमृत रूपा, फल रूपा अथवा सिद्धि रूपा भक्ति को भी रस माना जा सकता है। तभी नारद ने इसे प्रमाण निरपेक्ष एवं परम शांति और परमानंद रूप कहा है।[5]

३.३.३.१ भक्ति रस के भेद :

भक्ति की रस रूप व्याख्या 'हरि भक्ति रसामृत सिंधु', 'उज्ज्वल नीलमणि' जैसे ग्रंथों में विस्तार से की गयी है। रस रूप भक्ति को भी मुख्य और गौण रूप से दो प्रकार की मानते हैं। मुख्य भक्तिरस के अंतर्गत शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव तथा गौण भक्तिरस के अंदर हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स भाव गिने गये हैं।[6] हृदयगत अनुराग कितने ही प्रकार से व्यक्त होता है और कितने ही संबंधों से पुष्ट भी होता है। अपनी भावना के बल भक्त भी भगवान से कोई न कोई संबंध जोड़कर उसके प्रति प्रीति व अनुराग को पुष्ट बना लेता है। एक बार वह उस भगवान के अनंत कल्याण गुणों के अभिवर्णन में अनुरक्ति दिखाता है, तो एक बार उस अनंत नामा और अनंत रूपधारी परमात्मा के लीलावतार विहारों का रस चखता रहता है। ऐसी प्रीति को शांता या शांतभाव की भक्ति कहते हैं। कोई भक्त अपने को उस सर्वेश्वर का दास मानकर उसके दास्य में अपने को मनसा वाचा व कर्मणा अर्पित

---

1. शा. भ. सू. ३
2. छांदोग्य, २–३–२
3. शा. भ. सू. ६
4. तैत्तरीय उपनिषद, २–७
5. ना. भ. सू. ४९, ६०
6. ह. भ. सिं. २–५–९५, ९८

कर देता है, तो और कोई उस परमात्मा का सखा बनकर उसके स्नेह का आनंद लेता है। ये दोनों भाव क्रमशः दास्य और सख्य कहलाते हैं। कभी कोई भक्त उस भगवान के बाल रूप से अनुरक्ति जोड़कर, उससे माता, पिता व गुरुजनों का संबंध निभाता है। यहां भक्त की भक्ति वात्सल्य भाव से भरी रहती है। लेकिन अनुराग की चरम सीमा शृंगार में होती है उसमें भक्त अपने को भगवान की पत्नी या प्रेयसी मानता है और उसको अपना नायक या प्रिय मानकर उसका वरण करता है। ईश्वरोन्मुख होने से यह शृंगार अलौकिक होकर एक दम उज्ज्वल और उत्तम बन जाता है। भक्त को भी शांत दास्य आदि अन्य संबंधों की अपेक्षा शृंगार में भगवान के सामीप्य और साहचर्य का अधिक अवकाश मिलता है। यही शृंगार भक्ति क्षेत्र में माधुर्य या मधुर भाव कहलाता है। इस मधुर रस का जड जगत अथवा अन्नमय कोश से संबंध नहीं रहता। यह अनादि आत्मा से संबद्ध, आनंदमय कोश की विभूति प्राय, भगवत् कृपा प्राप्ति मूलक, विशुद्ध प्रेमरस है। यह अनुभवैकवेद्य है। इसे वही समझता है जिसके दिल में भगवत् कृपा से ऐसी भक्ति का उदय व संचार होता है। यह तब तक समझ में नहीं आता जब तक भक्त उन सभी भौतिक आहारों और पारलौकिक आशा अभिलाषाओं को नहीं भूलता।

> भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
> तावत् प्रेम सुखस्यात्र कथ मभ्युदयो भवेत्॥[1]

इस रस का आलंबन विभाव है शृंगार का मूर्तिमान अवतार श्रीकृष्ण। भक्त अपने को कोई गोपिका, राधिका या अन्य कोई नायिका मानकर इसका खुद आश्रय विभाव बनता है। इस तरह मनोनुकूल या भावानुकूल विभावादि को पाकर यह रस चर्वणा की उस दशा को पहुंचता है, जो भक्तों से मधुराति मधुर, गुह्यातिगुह्य और सबसे वरिष्ठ भक्ति रस माना जाता है। इसीको मधुरा रति भी कहते हैं।

३.३.३.२ प्रेम भक्ति और ११ पोषक आसक्तियां :

नारद ने इसीको प्रेम भक्ति कहा है। इसे कामना रहित, निरोधरूप, अनन्य एवं अनिर्वचनीय बताकर उन्होंने उदाहरण स्वरूप गोपिकाओं की भक्ति का उल्लेख किया है।[2] किंतु उनके मत में प्रेम भक्ति में भी माहात्म्य ज्ञान का

---

1. ह. भ. सि. १–२–११
2. ना. भ. सू. ७, ८, ९, २१

लोप होना नहीं चाहिए ।[1] फिर, नारद ने गुण, माहात्म्य, रूप, पूजा, स्मरण, दास्य, सख्य, कांता, वात्सल्य, आत्मनिवेदन, तन्मयता और परम विरह रूप से ग्यारह आसक्तियां बताकर, इनसे प्रेरित होकर प्रेम भक्ति में सिद्धि प्राप्त किये हुए कुमार, व्यास आदि परम भागवतों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ।[2] ये आसक्तियां साधना-मूलक हैं । इनका श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति साधनाओं से संबंध स्पष्ट है । इनमें भी हर एक आसक्ति अपने में पूर्ण और लक्ष्यप्रद साधन है । आसक्ति हो या अनुराग, वह भक्त और भगवान के संबंध को निरंतर प्रवर्धमान और अविच्छिन्न बनाने में सहायक है, अतः वरणीय है । भगवान के संबंध में होनेवाली आसक्ति अथवा अनुरक्ति अलौकिक होने से सर्वदा और सर्वथा वरेण्य है । ऊपर जो शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य व शृंगार भाव-संबंधी भक्ति का वर्णन हुआ है, उसमें भी लौकिक दृष्टि से उन भावों में उत्तरोत्तर अपकर्ष और पारलौकिक दृष्टि से उत्तरोत्तर उत्कर्ष समझना चाहिए । हमारे आलोच्यकवि अन्नमाचार्य और सूरदास भी भक्ति-साधना में ये पांचों भाव अपने अलौकिक व अहैतुकी रूप में मिलते हैं ।

३.३.३.३ शांता भक्ति :

शांता भक्ति का स्थाईभाव निर्वेद है । साधक को जब अपने उद्धार के लिए प्रयत्न की सूझती है, तब उसके दिल में अपनी भूलों के लिए पश्चात्ताप, सांसारिक विषयजाल के प्रति वैराग्य, उद्धारक भगवान के प्रति विनय, सज्जन सांगत्य में प्रीति, दुर्जनों से विरक्ति. काम, क्रोध, लोभ मोह आदि का दमन, सदाचार व सच्छील का पालन, हरि कथा श्रवण-मननासक्ति, गुरु भक्ति, मंत्र अथवा नाम की महिमा पर विश्वास और अनन्यभाव से भगवद् ध्यान व चिंतन एवं शरणागति जैसे भाव स्वयमेव उदय होते हैं । जैसे जैसे वह इन भावों के अनुरूप चलता रहता है, वैसे ही उसके दिल में भगवदनुरक्ति भी बढ़ती जाती है । उसके मन में तदनुकूल संकल्प ही उठते हैं और सभी प्रतिकूल भाव प्रशमित होते हैं । भगवद् विश्वास जितना दृढ होता है भगवत् चरणों में अपने को समर्पण करने की वृद्धि उतनी तीव्र होती है । अंत में वह अपने इष्टदेव की शरण में जाकर निश्चित होता है । सभी भक्त साधकों में यही साधना-क्रम देखने में आता है । हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास के कितने ही पदों में उपरोक्त भावों का वर्णन मिलता है । अन्नमाचार्य की सारी अध्यात्म कविता और सूरदास

1. ना. भ. सू. २२

2. ना. भ. सू. ८२, ८३

11

के सभी विनयपद इस शांता भक्ति के उदाहरण हो सकते हैं। उन सभी बातों को संग्रह करके एक ही पद में भी वे कभी कभी गाते हैं। अन्नमाचार्य एक जगह कहते हैं,

"विवेकी लोग इसे जान लें, यही परम योगीश्वरों की पद्धति है। पहले आत्मज्ञान का पाठ पढ़ना, फिर अंतरात्मा हरि की बात जानना, इंद्रियों को वश में रखना और सभी कामनाओं को दूर करना विवेक है। अपने पुण्य फलों को भगवदर्पित करना, लगन से उसकी भक्ति करना, मगन होकर उसके ध्यान में रहना और मन में सब तरह के प्रकृति-संबंधों को भूलना विवेक है। बीच बीच में विज्ञानदायक कथाओं को सुनना, श्रद्धा से गुरु-शुश्रूषा करना, वैष्णव जनों का कृपा-पात्र बनना और भगवान वेंकटेश्वर पर भरोसा रखना विवेक है।"[1]

सूरदास भी अपने मन को ऐसा ही उपदेश कभी देते हैं,

"गोविंद पद भज मन वच क्रम करि।
रुचि रुचि सहज समाधि साधि सठ दीनबंधु करुनामय उर धरि ।।
मिथ्या वाद विवाद छांडि सठ विषय लोभ-मद मोहै परिहरि।
चरन प्रताप आन उर अंतर और सकल सुख या सुखतर हरि।
वेद न कह्यो सुमति इमि मार्‍यो पावन पतित नाम है निजु हरि।
जाके सुजस सुनत अरु सुमिरत ह्वै है पाप वृंद तजि नरहरि।
परम उदार स्याम सुंदर वर सुखदाता संतन-हितु हरिधरि।
... ...
सूर काल बल व्याल ग्रस्यो जित श्रीपति-चरन परहिं किन फरहरि।
नाम प्रताप आनि हिरदै महं सकल विकार जाहिं सब टरहरि ।।"[2]

३.३.३.४ दास्य भक्ति :

दास्य भाव की भक्ति में भगवान और भक्त के बीच परस्पर प्रीति और विश्वास व्यक्त होते हैं। भगवान के रक्षकत्व पर भक्त का अचंचल विश्वास रहता है तो भक्त की रक्षा में भगवान की अहैतुक प्रीति होती है। रक्षक भगवान की भक्तवत्सलता ही नहीं, रक्षा करने में उनकी महत्तर शक्तिसंपदा भी भक्त का विश्वास और अनन्यासक्ति का हेतु बनती है। यही अनन्याश्रयत्व एवं

---

1. अ. सं. ८–२१२
2. सूर सागर, पद ३१२

आत्मसमर्पण की भावनाओं का पोषक तत्व है। तभी सभी भक्त अपनी अगतिकता और शरणागति के साथ भगवान के अमर कारुण्य व अनंत महत्व का भी वर्णन करते मिलते हैं। अन्नमाचार्य और सूरदास भी उन बातों का बार बार वर्णन करते मिलते हैं। अन्नमाचार्य के मत में "सामजवरद हरि का शरण्य ही कामधेनु व कल्पवृक्ष है। वही भूमीशता व भुवनेशिता है।[1] वे कहते हैं कि

"हे भगवान, तुम भोगी हो और मैं तुम्हारा भोग हूं।"[2] गुरु ने मुझे तुम्हारे अर्पण किया है, अब चाहे जो कुछ करो, मैं तुम्हारे चरन नहीं छोड़ूंगा।[3] दास हो न हो, हर एक की रक्षा तुम्हारा व्रत है। तब ये सारे विनय क्यों? बस, तुम्हारे श्रीचरणों के दास्य पर ही मेरा पूरा विश्वास है।"[4]

सूरदास कहते हैं कि

"मेरो मन अनत कहां सुख पावै।
... ... ।
प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ?"[5]

ये ही चरण हमारी गति है।

"हम दृढ करि पकरे अब यह चरन सहायक।"[6]
"सूर अवगुन भर्‌यौ आइ द्वारे पर्‌यौ।
तके गोपाल अब सरन तेरी।।"[7]

भगवान के महिमातिशय के वर्णन में अन्नमाचार्य और सूरदास कभी थकते नहीं। तरह तरह से वे उस प्रभु के भक्त-वात्सल्य, दीनरक्षण, असुर-शिक्षण अवतार

---

1. अ. सं. २–१३२ कामधेनुवुनु कल्पवृक्षमुनु, भूमीशत्वमु भुवनेशत्वमु
सामज वरवुनि शरण्यमु ।।
2. अ. सं. ७–४० भोगमु नेनु नीकु भोगिवि नीवु ।।
3. अ. सं. ८–९५ पट्टिटच्चे मा गुरुडु नी पादालु विडुवनु ।
4. अ. सं. ८–१९७ मोक्किना रक्षितुवु मोक्ककुन्ना जगमुलो
यिक्कुव तो रक्षितुवु येपुडु नीवु
पेक्कु विन्नपालेल पिलचि यलय नेल
तक्कक नम्मेटिदि नी दास्यमोक्कटे ।।
5. सूर विनय पत्रिका, पद ३००
6. सूर विनय पत्रिका, पद २८२
7. „ „ पद १६६

विभव व ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं। प्रभु भगवान अघटित घटना समर्थ है। अन्नमाचार्य के मत में अगर वह अणुरेणु परिपूर्ण परमेश्वर जरा विमुख हों तो तभी यह सारा ब्रह्मांड अणु में बदल जाता है। यदि उस फणिशयन की कृपा परिपूर्ण हो तो तृणमात्र भी उसी क्षण महामेरु बन जाता है।[1] सूरदास संपूर्ण विश्वास से कहते हैं,

"हरि जू, तुम तैं कहा न होइ? बोलै गूंगा, पंगु गिरि लंघै, अरु आवै अंधी जोइ।"[2]

भगवान के दास्य में ही नहीं, बल्कि भगवान के भक्तों, भागवतों व दासों के दास्य में भी हमारे कवि-द्वय अनुरक्ति दिखाते हैं। ये गुरु और भगवान में भी कोई भेद नहीं मानते और गुरु के दास्य में भी अतीव श्रद्धा दिखाते हैं। अन्नमाचार्य अपने गुरु शठगोपयति को कैवल्य का सोपान, वेदांत का प्रमाण, विरजा नदी की नाव, लोकरक्षा का सुज्ञानदीप और पाप भंजन कहकर उनमें भगवान का प्रतिरूप देखते हैं।[3] सूरदास अपने अंतिम क्षणों में भी यही विश्वास प्रकट करते हैं कि 'श्रीवल्लभ नख-चंद छटा बिनु सब जग मांझि अंधेरो।'[4]

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों अपने इष्टदेव के मंदिर में सवेरे से शाम तक स्वामी की सभी सेवाओं का सान्निध्य करके संकीर्तन रचकर गाया करते थे। मंदिर में अर्चामूर्ति की विभिन्न सेवाओं से संबंध रखनेवाले जगाना, आरती, शृंगार, पालना जैसे कितने ही पद इन दोनों की रचनाओं में मिलते हैं। यह संकीर्तन सेवा है। यही नहीं, वे कभी कभी अपने को उस भगवान के अंतरंग सेवक मानते हैं। उसे अपने अहोभाग्य समझते हैं। अन्नमाचार्य अपने को 'केशव

---

1. अ. सं. गा. ११६ अणुरेणु परिपूर्णु डवलिमो मैतेनु
अणुवौनु कमल भवांडमैना
फणि शयनुनि कृपा परिपूर्णमैतेनु
तृणमैन मेरुवौ स्थिरमुगा नपुडे ॥

2. सूर विनय पत्रिका, पद १५५

3. अ. सं. गा. ७२ कैवल्यमुनकु गनकपु तापल
त्रोवै श्रुतुलकु दुदि पदमै,
पावन मोक रूपमै विरजकु
नावै युन्नाडु यिदे यितडु ॥

4. अष्टछाप, सूरदास की वार्ता, प्रसंग ६

दास' ही नहीं 'केशव दासी' भी कहते हैं ।[1] वेंकटेशदासी बनकर वे अन्य दासी जनों से कहते हैं कि "मैं अब तुम्हारे पास नहीं आऊंगी, रमणियों, मुझे आज भगवान केलिए फूल की सेज सजानी है ।"[2] कभी वे दासमुख्य या प्रधान दासी बनकर औरों को ऐसे उपदेश देते हैं कि "भगवान के अभ्यंजन का समय है । मंगलवाद्य करो, आरती तैयार करके रखो, वेद-मंत्र का पाठ करो" आदि ।[3] सूरदास भी इष्टदेव की सेवा में भी अपने को ढाढी, ढाढिन या जाट मानकर तदनुरूप भगवान से गाते मिलते हैं । जैसे,

१) हौं तौ तेरे घर को ढाढी, सूरदास मोहिं नाऊं ।।[4]
२) ढाढिन मेरी नाचै-गावै, हौं हूं ढाढ बजाऊं ।।[5]
३) ऐसे कुमति जाट सूरज कौ, प्रभु बिनु कोउ न धात्र ।।[6]

३.३.३.५ सख्य भक्ति :

सख्य भाव की भक्ति में भगवान और भक्त के बीच साहचर्य समानता और आंतरंगिकता का संबंध व्यक्त होता है । भक्त अपने को भगवान के इष्ट मित्रों में एक मानकर उनके अनितर सान्निध्य की भावना से आनंदमग्न होता रहता है । फिर भगवान के मित्र-प्रेम, इष्टमित्रों के साथ विहार, नर्मसचिवों से वार्तालाप, बाल सखों के साथ क्रीडा-कलह जैसी सभी बातों में भक्त हृदय स्नेहाकुल एवं आत्मीयता-भावापन्न होता है । वह कभी अपने को उन सखाओं में एक मानता है तो कभी अलग आंतरंगिक के रूप में खड़े होकर अपने भगवान की मित्र-विनोदलीलाओं का सन्निकट परिचय पाते तन्मय रहता है । हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों में सख्यभाव की भक्ति अत्युन्नत दशा को

---

1. अ. सं. ७–२४८ केशव दासिनैति गेलिचिति यिन्निटान् ।।
2. अ. सं. ४–१२७ रान् मीकडकु वो रमणुलार पूवुं ।
   बानुपु हरिकि नें बरव वलयु नेडु ।।
3. अ. सं. गा. ३९ संदडि विडुवुमु सासमुखा
   मंदर धरुनकु मज्जन वेला ।
   वेद घोषणमु विडुवक सेयुडु
   ... ... ।।
4. सूरसागर, पद ६५३
5. सूरसागर, पद ६५५
6. सूरसागर, पद २१६

पाकर मिलती है। श्रीकृष्ण के अपने मित्र, अर्जुन, श्रीदामा, सुदामा आदि के प्रति दिखाये हुए परम स्नेह का वर्णन करते ये दोनों कवि खुद स्नेहार्द हो उठते हैं। पांडव साचिव्य व पार्थ सारथ्य के उल्लेख में अन्नमाचार्य हर्ष विस्मृत हो जाते हैं तो सुदामा-प्रीति के वर्णन में सूरदास अश्रुपुलकित हो उठते हैं। अन्नमाचार्य सख्य भाव से प्रेरित होकर कभी अपने भगवान के यहां नर्मसचिव के रूप में प्रस्तुत हो जाते हैं तो कभी आंतरंगिक सखा होकर उनकी कार्य साधना में तत्पर रहते हैं। कभी स्नेह वश उनकी भूल गिनकर हितबोध करते है तो और कभी उनसे थोड़ा हास-परिहास या व्यंग्य विनोद करते हैं। अन्नमाचार्य के इष्टदेव श्रीवेंकटेश्वर का आवास तिरुमल पहाड़ पर है। उनकी मूर्ति के गले में अलमेल-मंगा (लक्ष्मी) की प्रतिमा से युक्त एक सुवर्णहार हमेशा रहता है। अभिषेक के समय में भी उस हार को मूर्ति से अलग नहीं करते। इस पर अन्नमाचार्य का कुशल परिहास है,

"और सभी को कर्म बंध में तुमने बांधा कभी पुरा,
वही बंध अब लगा तुम्हें भी, ले लो अपना भला-बुरा।
नारी का वध किया पुरा, नारी को अब गले धरा,
गिरि-वन का तब नाश किया, गिरिपति का अब रूप धरा ॥[1]

इष्टदेव की प्रशंसा में भी अन्नमाचार्य मित्रोचित परिहास करने से नहीं हिचकते।

"दो सतियों की चाह हुई, तो चार भुजाएं धरनी पड़ीं।
बहु नारी सुख लौल्य हुआ, तो तदनुरूप मति करनी पड़ी ॥[2]

सूरदासजी का सख्य वर्णन मनोविज्ञान के अनुकूल, मानवीय संबंधों से पूर्ण और भक्ति भाव से भरा हुआ है। भागवत की कथा के आधार पर रचना करने पर भी सूर ऐसे प्रसंगों में सर्वथा मौलिक कल्पना से काम लेते चलते हैं। सूर-सागर में कृष्ण के बाल सखाओं के साथ क्रीडा-विहार, केली-कलह, गोचारण, वन-भोजन आदि प्रसंग एक से एक अधिक मनोहर बने मिलते हैं। सखा-सहचर ही नहीं, बल्कि भाई बलराम भी स्नेह वश बालक कृष्ण को कभी चिढ़ाते और कभी रुलाते मिलते हैं।

---

1. अ. सं. १२-१५७ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. २-१५३ (स्वीयानुवाद)

"मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यौ बन बड़ौ तमासौ, सब मोड़ा मिलि आऊ ।।
मो हूं कौं चुचकारि गयो ले, जहां सघन बन झाऊ ।
भागि चलें कहि गयौ उहां तैं, काटि नहिं धीर घराऊ ।।
हौं डरपौं, कांपौं, अरु रोवौं, कोऊ नहिं धीर घराऊ ।
थरसि गयौं नहिं भागि सकौं, वै भागे जात अगाऊ ।
मोसौं कहत मोल कौ लीनौ, आप कहावत साऊ ।
सूरदास बल बड़ौ चबाई, तैसेहिं मिले सखाऊ ।।[1]

आप्त मित्रों का गोपी-केली-प्रसंग में भी सन्निहित रहना, श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर भी उनको माखन-चोर ही मानना या वन में ही कुछ देर आंखों से दूर होने पर उनके विरह में व्याकुल होना जैसी बातों के वर्णन में सूर बेजोड़ रहते हैं। साथ साथ इनका भक्ति-भाव भी बीच बीच में प्रकट होता रहता है।

३.३.३.६ तुलना :

सूर के सख्य वर्णन में भगवान कृष्ण की अलौकिकता पर मानों विस्मृति-सी छायी रहती है। कृष्ण सखा तभी तत्काल कृष्ण के अद्भुत व अलौकिक शक्ति प्रदर्शन को भूल जाते हैं और उन्हें अपने चिरपरिचित 'माखनचोर' गोपकृष्ण ही मानते हैं। अन्नमाचार्य किसी भी परिस्थिति में भगवान की अलौकिकता को नहीं भूलते। फिर, उनकी रचना में ऐसे प्रसंग तटस्थ भाव से कम और आत्माश्रय ढंग से अधिक वर्णित हुए मिलते हैं। सूरसागर के प्रसंग भागवत की बृहत्तर कथा के अवांतर प्रसंग हैं, अतः कवि को अक्सर तटस्थ रहकर, उनका वर्णन करना पड़ा। अन्यथा ये सभी प्रसंग सूरदास के सख्यभावाकुल भक्त हृदय के ही उपज हैं। अन्नमाचार्य की रचना में ऐसे प्रसंग अपने में संपूर्ण और सर्वथा स्वतंत्र हैं। उनका किसी सूत्रबद्ध कथा से संबंध नहीं है। किंतु उनका आधार तो कृष्ण चरित ही हैं।

३.३.३.७ वात्सल्य भक्ति :

वात्सल्य भक्ति में एक ओर से उसके निस्वार्थ होने से निष्काम भक्ति का चरम उत्कर्ष मिलता है, तो दूसरी ओर से उसके ममतापूर्ण होने से भगवदुन्मुख प्रवृत्ति का परमोत्कृष्ट उदाहरण पाया जाता है। भक्त अपना सब कुछ बालरूप

---

1. सूरसागर, पद १०९९

भगवान के हित त्यागने को तैयार रहता है। साथ साथ उसे सुखी देखने तथा उसी के सुख में अपने को सुखी मानने की निष्कपट प्रवृत्ति को अपनाता है। वहां माता या पिता के रूप में वह बालक भगवान के साथ अपनी एक अलग दुनिया की ही कल्पना करता है, जो सर्वथा आनंदमय और विस्मृतिपूर्ण होती है। अतः सब तरह की वासनाओं से मुक्त विशुद्ध भक्ति का उत्तम उदाहरण वात्सल्य भाव की भक्ति में ही पा सकते हैं। हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों सच्चे मातृ हृदय रखते हैं। बालकृष्ण की विविध विनोदमय लीला विचेष्टितों का वर्णन ये इतनी तल्लीनता से करते हैं कि उस आनंद लोक में अपने को खो जाते हैं और पाठकों को भी अकसर भुलावे में डालते हैं। कृष्ण का जन्म इस लोक में घटित एक महान शुभ घटना है। अन्नमाचार्य के मत में वह इस दुनिया में सर्व कल्याण गुणों के अवतरण और सभी दुष्ट शक्तियों के निस्तरण का शुभ संकेत है।[1] ढाढी बनकर सूरदास नंद से ही कहते हैं,

> दुख गयौ, सुख आयौ सबन कों, देव पितर भल मान्यौ।
> तुम्हारौ पुत्र प्रान सबहिन कौं, भुवन चतुर्दश जान्यौ ।।[2]

अन्नमाचार्य बालक कृष्ण को नहलाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने- पालने में डालकर लोरियां गाने आदि में कितना ही आनंद लेते हैं।[3] कृष्ण के रेंगते चलने उठते-गिरते छोटे छोटे पग धरने कभी परछाई को देखकर पकड़ने को दौड़ने, कभी चांद को पाने केलिए रोने और कभी मां के गले के नील-मणिहार को जामुन की माला मान कर खाना चाहने जैसे बाल-सहज लीला-विनोदों का अतीव उल्लास व उत्साह से वर्णन करते हैं।[4] कृष्ण कुछ बड़े हुए तो अड़ोस-पड़ोस के घर जाते हैं और वे लोग भी उनको अकसर अपने यहां बुला लेजाते हैं।[5] कृष्ण दूध-दही व माखन चोरी करके खाते हैं। दोस्तों को खिलाते हैं। यही बात नहीं, खाने के बाद उन घड़े-मटकों को भी फोड़ डालते हैं।[6] गोपवनिताओं को कभी दही-मट्टे के लिए तंग करते हैं तो कभी उनसे छेड़-छाड़ भी करते हैं।[7]

---

1. अ. सं. ३–६३४ अवतार मंदिनदे अह्म रेतिरि काड,
   भवहरुंडु श्रावण वहुलाप्टमिनि।
2. सूरसागर, पद ६५५
3. अ. सं. ३–४८३, ३–३१४ इत्यादि
4. अ. सं. ३–५३५, ३–३६९ इत्यादि
5. अ. सं. २–२४५, ३–३२६ इत्यादि
6. अ. सं. ३–२९४
7. अ. सं. ३–३०९, ३–२९९

वे यशोदा के पास शिकायत लिए जाती हैं तो यशोदा कहती है कि "क्यों बहनों, तुम्हारे यहां भी बाल-बच्चे हैं, क्या इतना भी तुमको मालूम नहीं कि बच्चे दूध-दही व मक्खन चाव से खाते हैं। बच्चे क्या जानते हैं ? खुलीं मिलें तो इन चीजों पर वे अवश्य हाथ मारते हैं। इनको उनसे बचा रखना बड़ों का कर्तव्य है।[1]" कभी कृष्ण बाहर जाकर देर तक घर नहीं आते तो यशोदा उनके लिए बेचैन होती है। स्नेहकातरा होकर समीप के लोगों से कहती है कि "देखो, कृष्ण कहां गया ? उस ओर कोई शोर है, कहते हैं कि कोई भारी पेड़ उखड़ गिरे हैं, देखो कहीं कृष्ण वहां नहीं गया।"[2] पूतना, तृणावर्त, शकटासुर आदि का संहार, कालियदमन, यमलार्जुन भंजन, उलूखल बंधन जैसे प्रसंग अन्नमाचार्य की रचना में कृष्ण के अलौकिक तत्व के साथ वर्णित हुए मिलते हैं। अन्नमाचार्य कृष्ण के लोक रंजक लीला विलास के साथ उनके लोक रक्षक लीला विभव का भी समान रूप से वर्णन करते हैं।

सूरदास वात्सल्य रस का कवि सम्राट हैं। सच कहे तो सूरसागर का सार वात्सल्य रस ही है। जैसे श्री लाला भगवान दीन कहते हैं, 'बालचरित्र' सूर की कविता की आत्मा है। यदि उनके साहित्य में से यह अंश निकाल दिया जाय तो सूर का 'व्यक्तित्व' लोप हो जाता है।[3] श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में, 'सूरदास की यशोदा के वात्सल्य में सब कुछ हैं जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशीली बनाये हुए हैं।'[4] बालक कृष्ण को पाकर माता यशोदा के दिल में कौन कौन-सी अभिलाषाएं उठीं, यह मातृ-हृदय के सच्चे परिज्ञाता सूरदास जैसे कवि ही जाने।

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटरुन रेंगो, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दंत दूध के देखौं, कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नंदहि कहि बाबा बोले कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरो अंचरा गहि मोहन जोइ सोइ करि मोसौं झगरै।
कब हंसि बात कहैगो मोसौं, जा छबि तें दुख दूरि हरै॥[5]

---

1. अ. सं. ३–३२१
2. अ. सं. ५–६५
3. सूर पंचरत्न: अंतर्दर्शन (भूमिका) पृ १०४
4. सूर साहित्य, पृ १२९
5. सूरसागर, पद ६९४

सूरदास ने माता की इन सभी अभिलाषाओं के प्रति अपनी कविता में पूरा न्याय किया है। कृष्ण-जन्म से लेकर, उनके अक्रूर, के साथ मथुरा जाने तक का ब्यौरा सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों के साथ अत्यधिक विस्तार से वर्णित करके सूर ने अपना एक रसमय प्रपंच का ही निर्माण किया। इसमें बालकृष्ण के एक से एक उज्ज्वल चित्र मिलते हैं।

१) कर गहि पग अंगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रंग खेलत ॥[1]

२) हरि किलकत जसुदा की कनियां।
निरखि निरखि मुख हंसति स्याम को मो निधनी के धनियां ॥[2]

३) शोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये ॥[3]

४) बाल-विनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिबे कारन हुलसि घुटरुवन धावत ॥[4]

५) मेरो भाई ऐसो हठी बाल-गोविंद।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को मांगै चांदा ॥[5]

कृष्ण के गोपाचरण-वृत्त, माखन-चोरी के साथ गोपी-पान हरण की कथा मुरली विनोद के साथ साथ असुर संहार लीला के प्रसंग आदि में सूर ने एक से एक बढ़कर कितने ही अनूठे पद गाये हैं। कृष्ण वियोग से व्याकुल यशोदा के स्नेह कातर हृदय के वर्णन में रचे पद विश्व-साहित्य के ही अलंकरण हैं।

१) जसोदा बार बार यों भाखै।
है कोई व्रज में हितु हमारौ, चलत गुपालहि राखै ॥[6]

---

1. सूर पंचरत्न, बालकृष्ण, पद १४
2. ,, ,, पद २३
3. ,, ,, पद ३१
4. ,, ,, पद ३२
5. सूर पंचरत्न, बालकृष्ण, पद ६०
6. सूरसागर, पद ३५६१

२) संदेशो देवकी सो कहियौ ।
हौं तो धाइ तिहारो सुत की दया करत ही रहियौ ।।[1]

सूरदास बालकृष्ण के लीला वर्णन में उनके मानव सहज, स्वाभाविक व मनोमुग्धकारी शैशव का ही चित्रण अधिक करते हैं । भक्त होकर भी, कृष्ण के अलौकिक तत्व का पग-पग पर अनुभव करते हुए भी कवि सूरदास बाल लीलाओं को उनके लोक-सहज स्वाभाविक रूप में ही चित्रित करने में ज्यादा रुचि लेते हैं। यों कहें कि वे भगवान के बालरूप को सब तरह से मानव सुलभ बनाकर हमारे अपने घर-आंगन में प्रतिष्ठित करते हैं। यों तो भक्ति और वात्सल्य दोनों प्राचीन आलंकारिकों के मत में भावमात्र ही हैं, किंतु, हमारे भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा उनका रस रूप प्रमाणित कर दिखाया है ।

३.३.३.८ तुलना :

सूरसागर भागवत के अनुसरण में रचा मुक्तक गेय पदों का संग्रह है । लेकिन कथा के आधार रहने से सूर की रचना में बालकृष्ण की लीलाओं के वर्णन में एक सुनिश्चित क्रम का निर्वहण मिलता है । इसी कारण से इसमें प्रबंधात्मकता और रस परिपक्वता आ पायी है । अन्नमाचार्य की रचना स्वच्छंद है । वहां कोई क्रम नहीं मिलता । न तो उनकी रचना में सूर जैसी एकनिष्ठा भी मिलती है । हर एक पद अपने में संपूर्ण होकर अंत में भक्ति की व्यंजन किये पूरा होता है । बाल लीलाओं का उतना विस्तारपूर्ण वर्णन भी अन्नमाचार्य की रचना में नहीं मिलता, जितना कि सूरसागर में । लेकिन जो बातें दोनों ने उठायीं हैं, उनके वर्णन में तो दोनों का हृदय-साम्य साफ झलकता है । दोनों एक ही तरह की तल्लीनता से लीलागान में प्रवृत्त होते हैं ।

वात्सल्य भक्ति का वल्लभ संप्रदाय में बड़ा महत्व है । यह विष्णुस्वामी और बिल्वमंगल की परंपरा से संबद्ध है । सूरदास के बालकृष्ण वर्णन में 'कृष्णकर्णामृत' का बड़ा प्रभाव दीखता है । एक उदाहरण यह है । यशोदा कृष्ण को सुलाते राम की कथा सुनाती है । कृष्ण 'हुं' करके सुनते हैं ।

"रामो नाम बभूव हुं, तदबला सीतेति हुं तां पितु
र्वाचा पंचवटी तटे विहरतस्तस्याहरद्रावणः ।
निद्रार्थं जननी कथामिति हरे हुंकारत श्रुपवतः
सौमित्रे क्वधनु धंनु धंनुरिति व्यग्रा गिरः पांतुनः ।।"[2]

---

1. सूरसागर, पद ३५९० 2. कृष्णकर्णामृत, २-७२

इस श्लोक का सूरसागर में यों अनुवाद मिलता है :

नंद नंदन इक सुनी कहानी ।
पहली कथा पुरातन सुनी हरि जननि पास सुख बानी ।
रामचंद्र दशरथ-सुत, ताकी जनक-सुता गृहरानी ।
कहें तात के पंचवटी बन, छांड़ि चले रजधानी ।
तहां बसत सीता हरि लीन्हीं, रजनीचर अभिमानी ।
लछिमन धनुष देहु, कहि उठे हरि, जसुमति सर डरानी ।।[1]

सूरसागर के पद ८९४ में भी यही भाव दुहराया गया है । एक और उदाहरण भी देखने लायक है । यशोदा कृष्ण से दूध पीने का अनुरोध करती है ।

"कालिंदी पुलिनोदरेषु मुसली यावद्गतः खेलितुं
तावत् कार्परिकं पयः पिब हरे वर्धिष्यते ते शिखा ।
इत्थं बालतया प्रतारण पराः श्रुत्वा यशोदा गिरः
पायान्नः स्व शिखां स्पृशन् प्रमुदितः क्षीरेऽर्धपीते हरिः ।।[2]

सूरदास ने इस श्लोक का भाव, अपने ढंग पर ही सही, दो पदों में अनूदित किया है ।

१) कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौं तेरी बैनि बढ़ै ।
जैसे देखि और ब्रज बालक त्यौं बलबैस चढ़ै ।
वह सुनि कै हरि पीवन लागे ज्यों त्यों लयों लढ़ै ।
अंचवत पय तातौ जब लाग्यौ रोवत जीभ डढ़ै ।
पुनि पीवत ही कच टक टोरत झूठहि जननि रढ़ै ।
सूर निरखि मुख हंसति जसोदा सो सुख उर न कढ़ै ।।[3]

२) मैया कबहि बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह आजहूं है छोटी ।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी ।
काढ़त-गुहत-न्हावत जैहै नागिनि सी भुई लोटी ।
कांचौं दूध पियावत पचि पचि, देति न माखन-रोटी ।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी ।।[4]

---

1. सूरसागर, पद ८१७
2. कृष्णकर्णामृत, २–६१
3. सूरसागर, पद ७९२
4. सूरसागर, पद ७९३

इस तरह कृष्णकर्णामृत के और कई श्लोक भी सूरसागर में कहीं हू-बहू तो कहीं थोड़े हेर-फेर से अनुदित हुए मिलते हैं। लेकिन सूरदास की निजी छाप तो ऐसे अनुवादों पर ही अवश्य लगती है और वह अकसर मूल की शोभा बढ़ाने में चरितार्थ होती है।

३.३ ३.९ मधुर भक्ति :

माधुर्य भक्ति में भक्त अपने भगवान से प्रेम का संबंध जोड़कर साधना निरत होता है। यह शृंगार भक्ति है। लोक में जिसे शृंगार-रस कहते हैं वही भक्ति-क्षेत्र में मधुर रस है। शृंगार का स्थायीभाव 'रति' इसमें माधुर्यभाव कहलाता है। इसका आलंबन लौकिक व्यक्ति न होकर साक्षात् भगवान होता है। भगवान जगन्नायक हैं। उनके कई अवतार व अर्चारूप होते हैं। भक्त उनमें से किसी एक को या अभेद मानकर सभी को अपने नायक के रूप में मानता है। खुद नायिका के रूप में उनका प्रेम चाहता है। जगन्नायक भगवान की अनेकानेक नायिकाओं में भक्त अपने को भी एक मानता है। कभी उन नायिकाओं में से किसी एक से तादात्म्य पाकर और कभी उनसे सपत्नी भाव का संबंध जोड़कर या कभी उनकी सखी, सहचरी व दूती के रूप में अपने को प्रस्तुत करके भक्त हर हालत में अपने भगवान के दिव्य शृंगार-लीला-विलास-विहारों में भाग लेता रहता है। लौकिक शृंगार की तरह इसमें भी पूर्वराग,प्रणय, संयोग विप्रलंभ, विरह जैसी सभी दशाएं होती हैं। शृंगार रस के उद्दीपन यहां भी उद्दीपन होते हैं और उसके सभी सात्विक व संचारीभाव यहां भी देखने में आते हैं। नायक एक होकर भी भक्त की भावना के अनुसार कभी अनुकूल होता है तो कभी दक्षिण और कभी शठ। भक्त नायिका भी कभी स्वकीया, कभी परकीया, कभी मुग्धा या कभी प्रौढा होती है। उसकी प्रीति भी कभी संबंधरूपा और कामरूपा होती है। यह शृंगार एक दम अलौकिक और भगवदीय है, अतः इसमें औचित्य या अनौचित्य का प्रश्न नहीं उठता। गिनती में कई और विभिन्न होने पर भी, असल में भक्त की आत्मा ही यहां एकमात्र नायिका है और नायक है उसका इष्टदेव। आलवारों में नम्मालवार और तिरुमंगै आलवार में यह माधुर्य भक्ति अपनी चरम परिणति में मिलती हैं। आंडाल स्वयं स्त्री थी। अतः उसकी माधुर्य भक्ति में और अधिक स्वाभाविकता देखने में आती है। हरिभक्ति-रसामृत सिंधु और उज्ज्वल नीलमणि में माधुर्य भक्ति का शास्त्रीय विवेचन खूब हुआ है। किंतु हमारे आलोच्य कवियों में अन्नमाचार्य के समय तक उन ग्रंथों का निर्माण नहीं हुआ। सूरदास के समय में माधुर्य भक्ति की साधना में लगे कितने ही भक्ति संप्रदाय वृंदावन में प्रचलित थे, किंतु वल्लभ संप्रदाय में इसका प्रवेश

विठलनाथजी के समय में हुआ। विट्ठलनाथजी ने 'शृंगार मंडन' लिखकर इस भक्ति का शास्त्रीयढंग पर प्रतिपादन किया है। युगल उपासना का महत्व भी उन्होंने स्वीकार किया है। फलतः सूरदास पर इसका प्रभाव पड़ा और उनकी अंतरात्मा का तादात्म्य राधा से होने लगा। "उन्होंने स्त्री भाव को प्रधानता दी हैं, परंतु परकीया की अपेक्षा स्वकीया भाव को अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्ठता को स्थापित किया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐंद्रिय है, इसलिए सूर ने उनकी प्रीति को काम रूपा माना है।"[1] जो हो, सूर और अन्नमाचार्य की साधना का प्रधान लक्ष्य सभी ऐंद्रिय प्रलोभनों और ऐहिक प्रवृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करके आत्मसमर्पण पूर्वक एकांत भक्ति में सिद्धि पाना था, अतएव उन दोनों की भक्ति-भावना स्त्री भाव से ओत प्रोत हुई।

भक्त की आत्मा अपने को किसी भी रूप में माने और उस परमात्मा से अपना कोई भी संबंध जोड़े, वस्तुतः उसका उद्देश्य भगवान की दिव्य लीलाओं का रस लेना ही होता हैं। भगवान अगम्य है। वह बुद्धि तथा अन्य इंद्रियों की पहुंच के परे हैं। उसको जानना हो तो आत्मा से ही जाना जा सकता है। आत्मा का संबंध आनंदमयकोश से है और परमात्मा आनंद स्वरूप है। अतः आनंद के आस्वाद के द्वारा ही उसका थोड़ा-सा आभास पाया जा सकता है। उपनिषदों के अनुसार आनंद ही ब्रह्म है,[2] उसको रस भी कहा गया है,[3] और इसीलिए 'रसो वै सः'[4] मानकर भक्त भगवल्लीला रस का अनवरत आस्वादन करने में तत्पर रहता है। भगवान भी भक्तों के अनुग्रहार्थ अपनी अनंतलीलाओं का नित्य नूतन वैभव दिखाता रहता है। कहा भी है,

> 'स्वलीला कीर्ति विस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
> अस्य जन्मादि लीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमा ॥'[5]

लेकिन भक्त की आत्मा तभी संपूर्णतया संतुष्ट हो सकती है, जब उसको उन लीलाओं के अगाध अमृतरस प्रवाह में बार बार गोते लगाने का सौभाग्य मिलता है। वह बात तभी हो सकती है जब वह सर्वात्मना अपने को ही भगवान की प्रेयसी मान लेता है और उससे मिलने की उत्कट आकांक्षा लिए विरह का

---

1. सूर और उनका साहित्य, पृ २४५
2. तैत्तरीय उपनिषत् ३–६
3. तैत्तरीय उपनिषत् २–७
4. तैत्तरीय उपनिषत् २–७
5. मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ २५७ में उद्धृत

तीव्र अनुभव करता है। नम्मालवार ने कहा है कि "पूजादिक सेवाओं से हम उस परमात्मा को कब संतुष्ट कर सकते हैं? प्रेम करना और विरह का अनुभव करना उसको संतुष्ट करने के उत्तम साधन हैं। यह सारा विश्व उस भगवान के विरह में व्याकुल है। अतः जीव का भी विरह-विकल होकर परमात्मा की प्रतीक्षा करना धर्म है।"[1] अन्नमाचार्य का यही आदर्श है।

अन्नमाचार्य की माधुर्य भक्ति में एक ओर आलवारों के आदर्श पर चलनेवाली प्रेमभक्ति की स्निग्ध धारा मिलती है, तो दूसरी ओर भागवत पुराण, गीत-गोविंद और कृष्णकर्णामृत में प्रतिपादित गोपिकाभक्ति और राधाभक्ति की सुमधुर धारा भी मिलती है। अलावा इनके अपने इष्टदेव श्रीवेंकटेश्वर की देवी अलमेल-मंगा के तादात्म्य में गुजरनेवाली स्वात्मीय उज्ज्वल भक्ति धारा भी यहां सर्वतः संस्पृष्ट होकर मिलती है। भगवान वेंकटेश्वर का प्राकट्य तिरुमल पर हुआ है, अतः भील, कोल, किरात नायिकाओं की सहज निर्मल प्रेम की भक्ति धारा भी यहां समान रूप से बहती दीखती है। इस तरह विभिन्न प्रेम-भक्ति-धाराओं के मेल से अन्नमाचार्य की मधुर भक्ति का प्रवाह अत्यंत विस्तीर्ण और अतीव गंभीर होकर, संयोग-वियोग रूपी दोनों कूलों को लांघता हुआ चलकर श्रीवेंकटेश्वर के दिव्य चरणों में विश्राम लेता है।

जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, नायिका भाव में अन्नमाचार्य कभी अपने को भगवान श्रीवेंकटेश्वर की देवी अलमेलमंगा मानते हैं और परम पातिव्रत्य की भक्ति निभाते हैं।

> सखि, मैं अलमेलमंगा हूं, वेंकटेश की प्रियपत्नी।
> सुन, वे मुझसे मिले यहीं, तभी बने हम पति-पत्नी ॥[2]

यह 'प्रीति पुरातन' वाली बात जैसी है। वे दोनों पति-पत्नी हुए तो कभी हुए। जीवात्मा और परमात्मा का संबंध अभी आज का थोड़े ही है!

> छुटपन में जब नवाभिलाषा हृदय-कली में विकसित हुई।
> विरहानल से तभी हमारे परिणय की भी परिणति हुई ॥[3]

नायक भगवान तो परम पुरुष है। उनके न जाने कितनी ही प्रेयसियां हैं। उनमें तो इस अकिंचन नायिका की गिनती ही क्या है? फिर, उस जगन्नायक को

---

1. तिरुवायिमॊऴि, १–७
2. अ. सं. ३–१६४ (स्वीयानुवाद)
3. अ. सं. ३–६५५ (स्वीयानुवाद)

उन सब को छोड़कर इसके पास आने का अवकाश कहां? इसमें कौन ऐसा गुण है, जिससे आकृष्ट होकर वे यहां आ जाएं? "खैर, होने दो। न आवें तो न सही। इससे क्या हो गया? दुनिया चाहे जो कुछ कहे, इतना तो अवश्य कहेगी कि यह वेंकटेश की दासी है। इससे अधिक क्या चाहिए?"[1]

विरह विकल होकर नायिका कभी नायक के पास संदेश भेजती है।

अब मुझसे तन धरा न जाता,
सुखी रहो तुम, बली विधाता।
अबलाओं से क्या बन सकता,
नाथ न हो तो सुख-संधाता ॥[2]

नायक आये तो वह संयोग क्या है? वह भगवान का साक्षात्कार और अनुग्रह है। अतः कवि कहते हैं कि वह संयोग लीला भी उनके अनुरूप ही है।

दंतच्छद मुद्रा मदनास्त्र लतांत शांति कृति रहो भवति।
तरुणी तनु गंध विलेपन विस्तर सौभाग्यं सकलमिदं,
परिरंभ सुखे तिरुवेंकटगिरि हरेः पूजन महो भवति ॥[3]

नायक दूर हो, नायिका की स्थिति उसी क्षण विरह विधुर हो जाती है। नायक के आने की सूचना नहीं मिले, उनका पता भी नहीं चले अथवा ऐसी खबर मिले कि वे किसी दूसरी नायिका के यहां गये, तो वह सखियों से कहती है कि 'अच्छा, होने दो, उनकी निंदा मत करो।

प्रिय की निंदा क्यों करती हो?
वह सब मेरा दोष कहो।
करुणामय को कठिन बनाकर
मैं खुद दोषी बनी अहो ॥[4]

यहीं रहें, फिर कही रहें,
में उनकी हूँ, वे मेरे।
कुशल रहें, बस, यही चाहती,
उनके हित में हित मेरे ॥[5]

---

1. अ. सं. ३–१७०
2. अ. सं. १२–२२३ (स्वीयानुवाद)
3. अ. सं. १२–३१७
4. अ. सं. ३–१५४ (स्वीयानुवाद)
5. अ. सं. ३–१७० „

अन्नमाचार्य की रचना में गोपियों की शृंगार-भक्ति का भी वर्णन मिलता है। चीरहरण लीला, दानलीला, मानलीला जैसी बातों के वर्णन में उनके कई पद मिलते हैं। राधा-माधव लीलाओं के वर्णन में भी कई पद मिलते हैं, जिनमें कोई कोई जयदेव की शैली में बने हैं। पहाड़ी नायिकाओं का शृंगार अकसर विशुद्ध जानपद शृंगार की शैली में वर्णित हुआ मिलता है। अन्नमाचार्य कृष्ण और वेंकटेश्वर में अभेद मानते हैं। इस कारण से उनकी रचना में गोपियां ही नहीं बल्कि राधा भी तिरुवेंकट देव की नायिका बनती है।

> अभिन्नोभितेयं राधा, सतत विलास वशा राधा।
> दैविक सुखावबोधा राधा, द्रावक निजाभिधाना राधा,
> श्रीवेंकटगिरिदेव कृपामुद्रा वैभव सनाथा राधा ॥[1]

अन्नमाचार्य की रचना में मधुर रस का चाहे संयोगपक्ष हो या वियोगपक्ष, वह विशुद्ध भक्तिभाव की व्यंजना से भरा रहता है। उसमें किसी भी परिस्थिति में लौकिकता की गंध नहीं लगती। नायक के भगवत्स्वरूप को अन्नमाचार्य कभी भी भुलावे में नहीं डालते। शृंगार-भक्ति को इतने अकलुषित रूप में शायद ही अन्यत्र पा सकते हैं।

अन्नमाचार्य के शृंगार पदों का और एक वैशिष्ट्य है, पद के अंतिम चरण में संयोग का संकेत। पद के आरंभ से लेकर अंतिम चरण तक वियोग का वर्णन करने पर भी अंत में संयोग की व्यंजना करके वे पद को पूरा करते हैं। उनके अध्यात्म पदों में भी ऐसी विशेषता दीखती है। विनय, दैन्य, शरण की याचना आदि का अंत तक वर्णन करके अंतिम चरण में भगवत् कृपा की प्राप्ति की सूचना देकर ही पद को पूरा करना उनकी आदत है। यही उनकी विशिष्टता है। शृंगार-भक्ति में वियोग, जीवात्मा और परमात्मा के वियोग का और संयोग भगवत् प्राप्ति अथवा स्वीकृति का प्रतीक है। अध्यात्म कविता में कृपा-प्राप्ति की और शृंगार कविता में भगवत् स्वीकृति की हर पद में व्यंजना करके अन्नमाचार्य अपने पदों को शुभांत करते हैं। तभी वे भगवान के सान्निध्य में नित्यसेवा के विविध अवसरों पर गाने योग्य बने हैं।

वल्लभ संप्रदाय में भी प्रेमभक्ति की प्राप्ति में भगवत् कृपा अथवा पुष्टि का बड़ा महत्व माना गया है। सूरदास जी खुद भगवान से प्रार्थना रूप में कहते हैं,

---

1. अ सं. ४–४८

"प्रेमभक्ति बिनु भुक्ति न होइ, नाथ कृपा कर दीजै सोइ।
और सकल हम देख्यौ जोइ, तुम्हारी कृपा होइ सो होइ।"[1]

सूर ने इस प्रेम भक्ति को नवधाभक्ति में जोड़कर भक्ति को दशधा माना है और प्रेम भक्ति की महिमा भी खूब गाया है।[2] सूर की रचना में प्रेम भक्ति का प्रतिनिधित्व गोपियां करती हैं। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम सिद्ध होती है। संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में उनका प्रेम एक रूप और अचंचल है। उनके आत्म समर्पण व अनन्यभाव की छटा सूरसागर की दानलीला, चीरहरण लीला और रासलीला में चरम परिणति को प्राप्त हुए हैं। गोपियों के पूर्वराग से शुरू करके सूर ने उनके प्रेम की फल-परिणति तक का क्रमिक विकास दिखाया है। वे लोक लाज या कुल की कानि की परवाह नहीं करतीं।

माई री गोविंद सों प्रीति करत तब ही काहे न अटकी री।
यह तौ अब बात फैल गई, बड़ी बीज वट की री।
घर घर नित उहै घरै बानी घट टट की।
मैं तो यह सबै सही लोक-लाज फटकी॥[3]

सूरदास ने राधा-कृष्ण प्रेम का भी बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से, उसके क्रम परिणाम के साथ चित्रित किया है। उन्होंने राधा को स्वकीया दिखाया है। गोपी व राधा-कृष्ण संयोग श्रृंगार के कितने ही अनूठे पद सूरसागर में मिलते हैं।

१) दुलहिनि दूलह स्यामा स्याम।
कोक-कला व्युत्पन्न परस्पर देखत लज्जित काम।
जा फल कौं व्रजनारि कियौ व्रत सौ फल सबहिनि दीन्हौ॥[4]

२) आजु निशि सौमित सरद सुहाई।
शीतल मंद सुगंध पवन बहै। रोम रोम सुखदाई।
जमुना-पुलिन, पुनीत, परम रुचि, रचि मंडली बनाई।
राधा वाम अंग पर कर धरि, मध्यहि कुमर कन्हाई॥[5]

---

1. सूरसागर, पद ४९१९
2. सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस), पृष्ट ५६३
3. ,, ,, पृष्ट २५९
4. सूरसागर (ना. प्र. सभा) पद १७६२
5. ,, ,, पद १७५६

सूर की नायिकाओं का कृष्ण-प्रेम उनकी वियोग दशा में और भी उज्ज्वल दीखता है। वह उनके लिए कठिन परीक्षा है, किंतु वे उसमें सफल निकलती हैं। वे उद्धव से कहती हैं,

ऊधौ विरहौ प्रेम करै ।
ज्यों बिनु पुट-पट गहत न रंग कौं रंग न रसै परै ।
ज्यों रन-सूर सहैं सर सम्मुख तौं रवि रथहुं घरै ।
सूर गुपाल प्रेम-पथ चलि करि क्यों दुख-सुखनि डरै ॥[1]

संयोग हो या वियोग उनका हृदय कृष्णमय है। कृष्ण चाहे जहां कहीं भी रहें, उनके लिए तो पास में, उनके दिल में ही रहते हैं।

१) नाहिं न रह्यौ मन में ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और ?[2]

२) उर में माखन-चोर गड़े ।
अब कैसेहुं निकसत नहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ।[3]

शरीर से उनका व्रजवास है, लेकिन मन से वे कृष्ण के पास हैं।

१) ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे ।
रथ चढ़ाय हरि संग गये लै मथुरा जो सिधारे ॥[4]

२) ऊधौ मन माने की बात ।
दाख छुहारा छांड़ि अमृत फल विष कीरा विष खात ।
सूरदास जाके मन जासो ताको सोइ सुहात ॥[5]

गोपियों का यह अटल प्रेम उद्धव की बातों को कब माने ? वे उद्धव से कहती हैं,

---

1. सूरसागर, पद ४९०४
2. सूर पंचरत्न, भ्रमरगीत, पद २६
3. ,, ,, पद ३७
4. ,, ,; पद ५१
5. सूरसागर, पद ४६३९

ऊधौ यही विचार गहै ।
के तन गये भलो मानै कै हरि व्रज आय रहै ।
कानन देह विरह लागी इंद्रिय जीव जरी ।
बूझै स्याम-घन प्रेम कमल-मुख मुरली बूंद परी ।
चरन सरोवर मनस मीन है रहे एक रस रीति ।[1]

३.३.३.१० तुलना और निष्कर्ष :

अन्नमाचार्य और सूरदास की मधुरभक्ति का लक्ष्य एक ही है । वह है आत्मसमर्पण पूर्वक भगवत् कृपा का वरण । उनकी रचनाओं में पग पग पर यह भाव व्यक्त होता है । फिर, परंपरागत सभी मधुर भक्ति धाराओं का सामंजस्य-पूर्ण या समन्वित रूप भी इन दोनों की रचनाओं में समान रूप से मिलता है । साथ इनका अपना व्यक्तित्व भी साफ झलकता है। आलवारों की अज्ञात नायिका अन्नमाचार्य की रचना में अलमेलमंगा का स्फुट व्यक्तित्व लिये मिलती है । भागवत की प्रमुख गोपी सूर की रचना में राधा बनकर प्रकट होती है । दोनों ने राधा को स्वकीया के रूप में ही वर्णित किया है । अन्नमाचार्य की रचना में शृंगार का वर्णन सूर की अपेक्षा अधिक विस्तार पूर्ण होकर विविध नायिकाओं तथा विभिन्न संदर्भों को समेटकर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को भी [illegible] करता हुआ उज्ज्वल हुए मिलता है । प्रसंग निर्माण चातुरी और सन्निवेश कल्पना कौशल में सूर और अन्नमाचार्य दोनों समान-प्रज्ञ हैं । भक्तिभाव में धव्वा न लगाते शृंगार के वर्णन में उत्साह व उल्लास लिये आगे बढ़ने में दोनों समान कुशल हैं । सूर के विनय पदों में जो दैन्य मिलता है वह सख्य, वात्सल्य व शृंगार भक्ति के पदों में नहीं मिलता । यहां वे अन्नमाचार्य की तरह उल्लासोत्साह भरे हृदय से रचना करते मिलते हैं । फलतः अन्नमाचार्य की सरस व्यंग्य हास्य छटा भी सूर में उसी तरह देखने में आती हैं ।

अन्नमाचार्य के राधा-प्रणय-प्रसंगों में जयदेव की शैली का अनुकरण मिलता है । सूरदास के राधा-प्रसंगों में लीलाशुक और विद्यापति का अनुसरण साफ झलकता है । अनुकरण या अनुसरण करते वक्त भी हमारे आलोच्य कवि अपने व्यक्तित्व को नहीं भूलते । हर जगह उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट मिलती है । अन्नमाचार्य की राधा अष्ट महिषियों में एक है । चैतन्य संप्रदाय से खूब परिचित व प्रभावित होकर भी सूर राधा को स्वकीया ही सिद्ध करते हैं । नायिका जो कोई भी हो, उससे तादात्म्य पाकर भक्ति भाव दिखाने में दोनों कवि समानशील हैं ।

---

1. सूर पंचरत्न, भ्रमरगीत, पद ७२

३.४. संप्रदायगत साधना

३.४.० प्रस्तावना :

अन्नमाचार्य और सूरदास की भक्ति साधना का प्रधान अंग मंदिर में इष्टदेव की विभिन्न सेवाओं के समय संकीर्तन रचकर गाना था। वह संकीर्तन सेवा भक्ति साधना में भक्त के साथ दर्शकों की भी रुचि बढ़ानेवाली होती थी। इससे भक्ति का प्रचार सुलभ होता था और मंदिर के प्रति लोगों में श्रद्धा और रक्ति के भाव बढ़ते थे। वेद शास्त्रों का ज्ञान सब को सुलभ नहीं होता, लेकिन हरि-भजन में भाग लेने और देशीभाषा में रचे संकीर्तनों के द्वारा तात्विक विषयों को जानने तथा तद्द्वारा भक्ति भाव को बढ़ाने का अवकाश ऐसी संकीर्तन-सेवा रूपी प्रक्रिया से सब को यथेष्ट रूप में मिल जाता है, अतः आचार्यों ने इसको बड़ा प्रोत्साह दिया। दक्षिण में आलवारों के गीतों का इसी दृष्टि से विशिष्टाद्वैती आचार्यों ने मंदिर सेवा में विनियोग बताया है। उत्तर में वल्लभाचार्य ने भी ऐसे ही उद्देश्य से श्रीनाथ जी के मंदिर में संकीर्तन सेवा को प्रोत्साह दिया। आचार्य प्रभु के आदेश से ही सूरदास संकीर्तनिया बनकर उक्त सेवा में अंत तक निरत रहे। आचार्य अन्नमय्या ने निजी स्वेच्छा से ही अपने आप को तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर-मंदिर में संकीर्तनिया नियुक्त किया। उन्होंने कहा भी है कि "हे स्वामिन्, मैं अपने आप तुम्हारे सान्निध्य में आकर यह सब विनती कर रहा हूं।"[1] "बचपन में ही तुमने मुझे अपनाया, संकीर्तन का गुर बताया। रक्षा का विश्वास लिये मैं ने उसीका अभ्यास किया।"[2] "श्रद्धा और भक्ति से तुम्हारे

---

1. अ. सं. ७–६१ नाकु नेने नी सन्निधानमु कल्पिचुकोनि।
   चेकोनि विन्नपमुलेल्ला चेयुचुन्नानु ॥

2. अ. सं. २–३६३
   नुन्नगा संकीर्तन ना नोरिकिच्चिति गनुक, नन्नु रक्षिचेवेथनुचु नम्मिति नेनु।
   पिन्ननाडे नीवु नन्नु पेरुकोंटिवि गनुक, येन्नग ईडेर्तुननिझ्य्यकोंटिनेनु ॥

चरणों में समर्पित पूजा-पुष्प ही ये मेरे संकीर्तन हैं । ये तुम्हारे कीर्ति पुष्प हैं । सावधान होकर सुनो तो एक ही बस है, बाकी को अपने भंडार में रहने दो ।"[1]

३.४.१ संकीर्तन सेवा :

अन्नमाचार्य की संकीर्तन-रचना का और एक उद्देश्य भी था । आलवारों के तमिल प्रबंधम् का प्रचार आंध्र देश के वैष्णवालयों में उन्हीं दिनों में अधिक होने लगा । लेकिन भाषा भेद के कारण तेलुगु वैष्णवों को तमिल प्रबंधम् का पठन-पाठन या अर्थबोध कठिन होता था । विशिष्टाद्वैत का प्रचार भी केवल वेदशास्त्रों में निष्णात आचार्यों के द्वारा न होकर, प्रबंधम् के पंडित पाठकों के द्वारा भी किया जाता था । खासकर दुर्गमारण्य-गिरि-जनपदों में जाकर वहां के पामर लोगों में विष्णुभक्ति का प्रचार करनेवाले 'दासरि जिय्यरों' को भाषा की कठिनाई अपने मार्ग का अवरोध मालूम पड़ती थी । फलतः प्रबंधम् गीतों के अनुरूप तेलुगु गीतों की नितांत आवश्यकता महसूस हुई । इधर मंदिरों में भी नित्यार्चा व नित्यानुसंधान केलिए ऐसे गीतों की मांग रहती थी। तिरुमल तिरुपति के मंदिर जैसों में प्रबंधम् की प्रगति में जो बाधाएं दीखती थीं उनको सामरस्य-पूर्वक पार करने केलिए भी वैसे गीतों को रचना और प्रचार में लाना आवश्यक हुआ । साथ, उन दिनों में वीरशैव धर्म का जो प्रचार देशीभाषा साहित्य के द्वारा हो रहा था, उसका समानभूमि में सामना करने केलिए भी वैष्णव धर्म के प्रचारकों को समकक्ष देशीभाषा साहित्य की आवश्यकता हुई । कहा भी जाता है कि गारलपाटि लक्ष्मय्या नामक वीरशैव कवि से अन्नमाचार्य का पदरचना संबंधी वाद-विवाद भी हुआ । इस तरह अन्नमाचार्य की संकीर्तन रचना का लक्ष्य, मात्र संकीर्तन सेवा ही नहीं, बल्कि विशिष्टाद्वैत धर्म एवं भक्ति के प्रचार केलिए उपयुक्त साहित्य का निर्माण भी था । वे खुद आचार्य थे । उनके अपने घर में श्रीवेंकटेश्वर की मूर्ति प्रतिष्ठित व नित्यार्चित होती थी। तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर के मंदिर के साथ अपने निवासस्थान मंगापुर के कल्याण वेंकटेश्वर और अलमेल-मंगा के मंदिरों से भी उनका निकट संबंध था। अहोबलमठ के साथ भी उनका बड़ा संपर्क रहा । निष्कर्ष है, अन्नमाचार्य की संकीर्तनसेवा, स्वयं तरने और दूसरों को तारने में समर्थ व सहायक होकर 'एकक्रिया द्वयर्थिकरी' जैसी बनी ।

---

1. अ. सं. ७–१०४ दाचुकोनि पादालकु ने जेसिन पूजलिवि,
पूचिन नीकीरिति पुष्पमुलिवि अय्या ।
ओक्क संकीर्तने चालु ओपिकतो विन्नानु,
तक्किनवि भंडारान दाचि युंडनी ।।

अन्नमाचार्य ने विशिष्टाद्वैत में दीक्षा ली और अहोबलमठ के आचार्य श्री शठगोप यति से 'उभयवेदांत' का अध्ययन किया। फिर वेदांत देशिक वेंकटाचार्य के निर्दिष्ट 'वडहलै' मार्ग के अनुसार अपनी साधना में अग्रसर होते चले। वडहलै मत वेद शास्त्र एवं प्रबंधम् दोनों में विश्वास रखे, भगवत् कृपा की प्राप्ति के लिए मर्कट-किशोर न्याय के अनुसार साधक के स्वीयप्रयत्न पर भी जोर देता है और पांचरात्र आगमों को प्रामाणिक व वेद सम्मत मानता है। इसी मत को लेकर अन्नमाचार्य ने कई यात्राएं करके संकीर्तनों के जरिए भक्ति-प्रचार भी किया था।

३.४.२ प्रपत्ति मार्ग :

३.४.२.१ इष्टमंत्र :

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के अनुसार मुक्ति का मुख्य उपाय भक्ति है। साधक या मुमुक्षु को अपने तन, मन व धन से भक्ति की साधना करनी चाहिए। लेकिन भक्ति से भी प्रपत्ति अधिक महत्व की है। प्रपत्ति का अर्थ है सर्वात्मना भगवान की शरणागति। प्रपत्ति पूर्वक भक्ति मार्ग होने से विशिष्टाद्वैत भक्ति साधना को 'प्रपत्तिमार्ग की साधना' कहते हैं। आलवारों की भक्ति साधना प्रपत्ति मार्ग की साधना है। नम्मालवार की रचना तिरुवाय्मुड़ि को इसीलिए 'दीर्घ शरणा-गति' नाम पड़ा। आचार्यों के अनुसार यह एक रहस्य संप्रदाय भी कहा जाता है। यहां रहस्य का मतलब गुरूपदेश से प्राप्त होनेवाले सिद्धिप्रद मंत्र और उसके अर्थ विवरण सहित साधनोपाय से है। इस तरह इसके तीन अंग माने जाते हैं। वे क्रमशः तिरुमंत्र, द्वयार्थ और चरमश्लोक कहलाते हैं। तिरुमंत्र माने अष्टाक्षरी है। वह साधारणतया 'ॐ नमो नारायणाय' मंत्र ही होता है, किंतु अन्नमाचार्य का गुरुमंत्र 'ॐ नमो वेंकटेशाय' बताया गया है।[1] श्रीवैष्णव संप्रदाय के अनुसार तिरुमंत्र लक्ष्मीयुक्त नारायण भगवान का तत्व बतानेवाला है। उसीका उच्चारण और जप विधेय है। अन्नमाचार्य के पदों व पद्यों के अंतिम चरण में यही तिरुमंत्र मुद्रा (छाया) के रूप में प्रकट होता है। वैसे तो भगवान के असंख्य नामों में से कोई भी नाम लेकर नाम संकीर्तन किया जा सकता है। वह भी मंत्र जप की तरह मान्य भक्ति विधान है। कहा भी गया है कि

> "कलिं समाजयंत्यार्या गुणज्ञाः सार भागिनः
> यत्र संकीर्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते ॥"[2]

---

1. अ. सं. ११–१–१४३
2. भागवत, ११–५–३५

कलिकाल में मंत्र-जप, जो तपस्या से कम योग नहीं, कष्ट-साध्य है । अतः भगवान के अनेकानेक नामों से एक या अनेक का बार बार उच्चारण करना मंत्र-जप के समान फलदायक है । यही नाम-संकीर्तन साधक के सर्वाभीष्टों को पूरा कर सकता है । लेकिन जब साधक या भक्त किसी एक मंत्र को अपनाता है तब वह उसी को अन्य सब मंत्रों से उत्तम मानकर चलता है । कम से कम अन्य नामों को उक्त नाम का ही रूपांतर मानकर चलता है । नाम के साथ उससे इंगित रूप को ही सर्वोत्तम रूप मान कर बाकी सब रूपों में उसी को ढूंढता है, अथवा उनका उससे अभेद मानकर अपना भक्ति-पथ सुगम कर लेता है । अन्नमाचार्य में भी यही बात देखने को मिलती है । वे भगवान के सहस्रों नामों का स्मरण तो करते हैं किंतु सभी को वेंकट नाम में पर्यवसित करते हैं । इसी तरह भिन्न भिन्न देवी-देवताओं से भक्ति करते वक्त भी उनको श्रीवेंकटेश्वर से अभिन्न मानकर भक्ति दिखाते हैं । उनके पदों में राम वेंकटराम होकर मिलता है तो नरसिंह वेंकटनारसिंह होकर ही मिलता है । जैसे,

"फाल नेत्रानल प्रबल विद्युल्लता केलीविहार लक्ष्मीनारसिंहा ।
प्रलय मारुत घोर भस्त्रिका फूत्कार ललित निश्वास डोला रचनया,
कुलशैल कुंभिनी कुमुदहित रवि गगन चलन विधि निपुण निश्चलनारसिंहा।
विवर घन वदन दुर्विषदहन निष्ठ्यूत लव दिव्य परुष लालाघठनया ।
विविध जंतुव्रात भुवन मग्नीकरण नव नव प्रिय गुणार्णव नारसिंहा ।
दारुणोज्ज्वल धगद्धगित दंष्ट्रानल विकार स्फुलिंग संगक्रीडया,
वैरि दानव घोर वंश भस्मीकरण कारण प्रकट वेंकट नारसिंहा ।।[1]

देवी पद्मावती की स्तुति करते वक्त भी अन्नमाचार्य वेंकटेश्वर मुद्रा दिये बिना नहीं रहते । उनकी पहली रचना वेंकटेश्वर शतक पूरा पूरा श्रीपद्मावती (अलमेलमंगा) देवी का ही स्तोत्र है, लेकिन मकुट (मुद्रा) तो वेंकटेश्वर नाम से है । जैसे,

"पल्लवपाणि विश्वगुरु भामिनि यिट्टि प्रपंचमंतकुन्
दल्लि समस्त जीवुल निदानमु श्री अलमेलमंग नी ।
चल्लनि चूपु चिल्कि वेदचल्लग बुण्युलमैतिगंड्रु भू
मेल्लनु नी वधूमणि ननेक विधंबुल वेंकटेश्वरा ।।[2]

---

1. अ. सं. ५-१८४
2. वेंकटेश्वर शतक, पद्य ३

(हे श्रीवेंकटेश्वर, किसलय समान हाथवाली, आप विश्वपति की पत्नी, इस सारे संसार की मां, सभी जीवों का आधार श्रीअलमेलमंगा जो हैं, उसी की करुणाकटाक्ष-दृष्टि को अपने पुण्यों का मूल मानकर सभी लोग उसका यश खूब गाते हैं ।)

सारांश है कि अन्नमाचार्य का इष्टमंत्र वेंकटेश्वर अष्टाक्षरी है और उसीका जप और साहित्य में मुद्रा के रूप में प्रयोग उनको इष्ट है । उसी मंत्रोद्दिष्ट वेंकटेश्वर का स्वरूप ही वे अन्य सभी देवों में देखते हैं । यह उनकी अनन्यता का सूचक है ।

३.४.२.१ द्वयार्थ और चरम श्लोक :

द्वयार्थ से तात्पर्य है 'श्रीमन्नारायण चरणौ शरणं प्रपद्ये । श्रीमते नारायणाय नमः ।' वाले वाक्य द्वय का अर्थ । यही शरणागति का मूल प्रेरक है । श्रीवैष्णव संप्रदाय में यह विश्वास सिद्धांतगत है कि जीव स्वतंत्र नहीं है और सर्वतंत्र स्वतंत्र तो एक मात्र भगवान ही है । प्रारब्ध कर्म से जीव को जन्म मरण के चक्र में घूमना पड़ता है, लेकिन उस प्रारब्ध या कर्म का भी अधिपति वही भगवान है । वह चाहे तो कर्म-बंध तोड़ सकता है । उसकी शरण में जाए तो जीव को अपने कर्मों के बारे में निश्चित रहने का अवसर मिलता है । इस सिद्धांत की पुष्टि में ही चरम श्लोक का आधार लिया जाता है ।

> "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
> अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"[1]

यही श्लोक चरमश्लोक कहलाता है । गीता में भगवान कृष्ण के मुख से अर्जुन को उपदेश रूप में जो यह श्लोक बताया गया है, उसमें शरणागतों के प्रति उनका अभयदान रूपी वादा भी है। अतः सभी धर्मों को छोड़कर, निश्चित होकर भगवान की शरण में जाए तो वही हमें सभी पापों से मुक्त करके अपना सान्निध्य देता है । फिर क्यों यह व्यर्थ दुख ? 'श्रीमन्नारायण चरणौ शरणं प्रपद्ये ।' बस, भक्त का काम उतना ही है । बाकी कर्तव्य भगवान का है । श्रीवैष्णव लोग उपर्युक्त गीता वाक्य को भगवान का वाग्दान मानते हैं और भक्तों के लिये उसी को चरम उपाय सिद्ध करते हैं । उस पर अटल विश्वास किये शरणागति का प्रचार करते हैं । आलवारों की रचनाओं में इसकी महिमा का वर्णन पग पग पर मिलता है । अन्नमाचार्य की रचना में इसकी प्रशंसा खूब मिलती है ।

---

1. गीता, १८—६६

"हे भगवान, तुम्हारा क्या दोष है ? तुम दयानिधि हो। दोष सब हमारा अपना है जो इन बातों को अच्छी तरह नहीं समझते। तुमने पहले ही चरमश्लोक में बताया है कि मैं तुम्हारा उद्धार करूंगा। तुम्हें परमपद में स्थान दूंगा। खैर, हमने कब विश्वास किया ? फिर तुम्हारा क्या दोष हो सकता है ? तुम ने यह भी कहा है कि मेरे चरण ही तुम्हारे आश्रय हैं। यह द्वयार्थ में तो मान लिया है, लेकिन हम कब माने ? कब उस पर भरोसा रखा ? फिर तुम्हारा क्या दोष है ? सारा दोष हमारा ही रहा।"[1]

३.४.२.२ विग्रह सेवा :

अन्नमाचार्य की आराध्यमूर्ति श्रीवेंकटेश्वर की अर्चामूर्ति है। वह मूर्ति वरदाभय हस्तों से शोभित होकर मानों यह संकेत करती है कि ये ही मेरे पांव भक्तों के आश्रय हैं और यहीं उनको अभय हैं। अन्नमाचार्य का दावा है कि यह मूर्ति द्वयार्थ और चरमश्लोक की साक्षात्कृति है। अतः हमारा कर्तव्य केवल यही है कि उससे भक्ति करना, उसके नाम गाना और उसके चरणों में शरण लेना।

इसी शरणागति तत्व के कारण श्रीवैष्णव संप्रदाय में कैंकर्य भावना अथवा दास्य भावना को बड़ा महत्व दिया गया है। फलतः भक्त और भगवान के बीच सेवक-सेव्य भावना के संबंध में विश्वास दृढ हो सका। लेकिन श्रीवैष्णव धर्म में भगवान सेव्य ही नहीं, वरन् 'भोक्ता, भोग्यं, प्रेरितारं च' भी माना जाता है। उसके पांच रूप बताये जाते हैं। उनमें पहला है, भगवान का पर या परब्रह्म रूप। उसे परा वासुदेव भी कहते हैं। इसीमें वैकुंठवासी नारायण का भी संकेत लिया जाता है। वही परमात्मा है, वेद्य है और प्राप्य है। वह स्वलीलावशात् कई अन्यरूपों में प्रकट होता है। सृष्टि के निमित्त उसके दूसरे रूप, व्यूह रूप की

---

1. अ. सं गा. ७३ नीवेमि सेतुवय्या नीवु दयानिधि वौदुवु,
भाविंच लेनि वारि पाप मिंते कानि।
परमपद मोसगि पाप मडचेननि,
चरम श्लोकमुनंदु चाटितिवि तोलुतने,
निरति नी भूमिलोन नीवल्ल दप्पु लेदु
परग नम्मनि वारि पाप मिंते कानि॥
नी पादमूलकु नाकु नेय्यमैन लंकेनि
येपुन द्वयार्थमुन निय्य कोंटिवि तोलुत,
दापुग नीवल्ल निंक दप्पुलेदु येंचि चूचि
पै पै नम्मनि वारि पाप मिंते कानि॥

रचना होती हैं। यह वासुदेव (ब्रह्म) संकर्षण (जीव) प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार) नाम के चार विभिन्न अंगों के अधिदेवों का व्यूह है। केशवादि के कई अवांतर व्यूह भी होते हैं। भगवान का तीसरा रूप उसके अवतारोंवाला विभव रूप है, जो दुष्टशिक्षण, शिष्ट-रक्षण और भक्तानुग्रह के निमित्त प्रकट होता है। भगवान का चौथा रूप उसका चराचर प्रपंच में व्याप्त रहनेवाला अंतर्यामी रूप है। भक्त इसी अंतर्यामी की प्रेरणा मानकर कर्म करता है और उसका फल उसीको समर्पित करके मुक्त हो जाता है।

भगवान का पांचवा रूप है विभिन्न क्षेत्रों व तीर्थों में स्थित अर्चामूर्तियों का विभव रूप। लौकिक व्यक्ति अथवा ऋषि मुनि या देवता हस्त से प्रतिष्ठित मूर्ति की अपेक्षा भगवान की स्वयं व्यक्त मूर्ति का महत्व अधिक होता है। उपर्युक्त सभी भगवद् रूपों में यही अर्चारूप सर्वमानव सुलभ है। तत्वतः ये सभी रूप एक ही परमात्मा के रूप हैं। व्यूह, विभव आदि की भी भक्ति परमात्म बुद्धि से होने पर परमपद देने में समर्थ है। अर्चामूर्ति को परमात्मबुद्धि से जो कुछ अर्पित है, वह परमात्मा को ही लगता है। अतः इनमें कोई भेद मानना नहीं चाहिए। इसी कारण से आलवारों के वचनों में और अन्नमाचार्य के पदों में विभिन्न अर्चामूर्तियों के वर्णन के अवसर पर भगवान के व्यूह विभवादि अन्य रूपों की प्रशंसा और उन सभी की एकता की प्रशंसा भी सुनने को मिलती है।

अयमेव अयमेव आदि पुरुषो, जयकरं तमहं शरणं भजामि ॥
अयमेव खलुपुरा अवनीधरस्तु सोप्ययमेव वटदलाग्राधिशयनः।
अयमेव दश विधैर्वतार रूपैश्च नयमार्ग भुविरक्षणं करोति ॥
अयमेव संतत श्रियःपति र्देवेषु, अयमेव दुष्ट दैत्यांतकस्तु।
अयमेव सकल भूतांतरेष्वाक्रम्य, प्रिय भक्त पोषणं प्रीत्या करोति ॥
अयमेव श्रीवेंकटाद्रौ विराजते, अयमेव वरदोपि याचकानां।
अयमेव वेदवेदांतैश्च सूचितो, प्ययमेव वैकुंठाधीश्वरस्तु ॥[1]

श्रीवैष्णव संप्रदाय में वैधी भक्ति साधना के अंतर्गत पंचपूजा, नवधा भक्ति, यात्रा, व्रत, ताप (शंख, चक्र जैसी मुद्राओं का धारण) पूंड्र (तिलक, तिरुमणि जैसे चिह्नों का धारण) आदि कितने ही साधन बताये गये हैं। पंचपूजा तो आलवारों के समय से ही प्रसिद्ध है। तब से अब तक यह विधान विशिष्टाद्वैती लोगों में मान्य विधि के रूप में अनुष्ठित होती आ रही है। यह तो आगमोक्त सेवा विधान है। इसके अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग नामक पांच अंग हैं।

---

1. अ. सं. ११–१७

३.४.२.४ अभिगमन :

अभिगमन से तात्पर्य है कि देवमंदिर का सम्मार्जन उसके आवरण का अलंकरण और उस स्थान का पवित्रीकरण तथा रक्षण। आलवारों में प्रसिद्ध पेरियालवार अपने गांव श्रीविल्लिपुत्तूर में स्थित वटपत्रशायी नारायण के मंदिर में ऐसी ही सेवा करते थे। अन्नमाचार्य ने अपने आवास स्थान मंगापुर के कल्याण वेंकटेश्वर के मंदिर में ही नहीं, अपने घर में भी श्रीवेंकटेश्वर की अर्चा-मूर्ति की प्रतिष्ठा करके ऐसी सेवा में तत्पर रहते थे। उनके पुत्र-पौत्रों के समय में तो तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर मंदिर, वराह स्वामी के आलय, स्वामि-पुष्करिणी आदि के जीर्णोद्धार कार्य ही नहीं, बल्कि आलवार तीर्थ में लक्ष्मी-नारायण प्रतिष्ठा, गोविंदराजालय के पास सुदर्शन मंदिर जैसे कई निर्माण कार्य संपन्न हुए। मंगापुर का आलय पूरी तरह पुनर्निर्मित किया गया। श्रीवेंकटेश्वर मंदिर को १३ गांव दान में दिये गये। लक्ष्मीदेवी उत्सव, स्वामी के कल्याणोत्सव आदि की शास्वत परिपाटी शुरू की गयी। शुक्रवार के अभिषेक समय में ये लोग अपने हाथ से चंदन और कर्पूर का जल दिया करते थे।[1]

३.४.२.५ उपादान :

उपादान का अर्थ है, उपरोक्त रूप से स्वामी को स्रक्-चंदन आदि से अलंकृत करना। पत्र, पुष्प, फल, जल आदि से स्वामी की जो अर्चा की जाती है वह सब उपादान के अंतर्गत आती है। प्रसिद्ध भक्तिन गोदादेवी (आंडाल) स्वामी को स्वरचित एवं स्वीय-शरीरोपभुक्त पुष्पमालाओं का दान दिया करती थीं। भगवान भी उन आमुक्त-माल्यों पर लट्टू होते थे। श्रीरंगम में प्रसिद्ध तोंडरडिप्पोडियालवार (विप्रनारायण) भी रंगनाथजी को ऐसी ही सेवा से प्रसन्न करते थे। अन्नमाचार्य के समय तक तिरुपति श्रीवेंकटेश्वर के मंदिर में स्वामी को पुष्प मालालंकृत करने का काम तत्कार्योचित वैतनिकों के हाथ हो चुका। किसी जमाने में यहां भक्तों को स्वहस्तों से स्वामी की पूजा व अर्चा करने की सुविधा मिलती थी। पोयगै आलवार की रचना से इतना तो स्पष्ट मालूम होता है कि जो कोई नर-नारी वेंकटेश्वर के दर्शनार्थ यहां आते थे वे अपने हाथ धूप, दीप, स्रक् चंदन, फल मूलादि को समर्पित करते थे।[2] कालांतर में यह सुविधा हट गयी। स्वामी का विग्रह सुवर्णरंजित हो गया। मंदिर का विमान सोने से ढक गया। आलय का 'पोर भंडार' (सुवर्ण भंडार) भर गया। अतः दर्शनार्थियों को

---

1. ति. ति. दे. पुरालेख, भा ५, लेख ४७, ४७ए, ६८, ५९
2. आलवारुल मंगला शासनमुलु—पोयगै आलवार, पद, ३७, ३८

गर्भालय में जाकर स्वामी को स्वहस्तों से अर्चित करने की सुविधा हटा दी गयी। अन्नमाचार्य शायद इसीलिए ही, भौतिक पुष्पों के बदले कविता पुष्पों से स्वामी की अर्चना करने लगे। वे रोज कम से कम एक पद रचते थे और स्वामी को सुनाते थे। फिर, उन पदरत्नों को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने वेंकटेश्वर मंदिर में संकीर्तन भंडार का निर्माण कराया, जिसमें उन पदों की लिखित प्रतियां रखी जाती थीं। उनके 'ओकट संकीर्तने चालु वोद्दिक तो विन्नानु' वाले पद में इस भंडार की प्रशंसा मिलती है। इसमें वे कहते हैं कि "स्वामिन, एक ही पद काफी है, सावधान होकर सुनो तो, बस, बाकी को भंडार में रहने दो।"[1]

३.४.२.६ इज्या :

इज्या माने देवपूजा है। अन्नमाचार्य ने अपने घर में ही वेंकटेश्वर की नित्यार्चना की विधि चलायी। फिर, वे अहोबल, श्रीरंगम्, कांचीपुर, हंपी जैसे क्षेत्रों में जाकर वहां के देवी-देवताओं की अर्चा भी कर आये। जिस किसी भी देवता की अर्चा हो वे उसे वेंकटेश्वर की अर्चा मानकर ही करते थे। बहिरंग पूजा में जो कोई लोप चूक या कमी रह जाती थी उसे वे अपनी कविता तथा मानसिक अर्चना के द्वारा पूरा कर देते थे। उनका कहना है कि "स्वामिन्, मेरे दो ही हाथ हैं, तुम तो विश्वरूप हो, तब तो यह पूजा सर्वांगपूर्ण कैसे हो सकती? तुमको हम क्या दे सकते? क्या दिया है? तुम खुद अवाप्त-सकल काम हो।[2]" कभी कभी वे अपने शरीर को ही भगवान का मंदिर मान कर दिल ही दिल उस अंतर्यामी की अर्चा करते थे।[3] प्रसिद्ध केशवादि चतुर्विंशति नामों को लिए,[4] षोडसोपचारों का क्रम लिए,[5] और दशों या-इक्कीसों अवतारों की मुद्रा दिये[6] उनके रचे कितने ही पद मिलते हैं। उत्सव समयों में वे सवेरे से शाम तक की सभी सेवाओं का आंखों देखा वर्णन करते थे। किं बहुना, उनकी इस संकीर्तन सेवा के कारण से ही उन्हें लोग 'संकीर्तनाचार्य' कहने लगे।

३.४.२.७ स्वाध्याय :

स्वाध्याय माने मंत्र जप, नामकीर्तन, दार्शनिक चर्चा और निगमागमों का अध्ययन है। अन्नमाचार्य की वैराग्य भक्ति या शांतभक्ति के बारे में पहले जो

---

1. अ. स. ७–१०४
2. ,, ६–१२२
3. ,, ६–८२
4. अ. सं. ११–१३०
5. ,, ६–१३४
6. ,, ११–३–४

कुछ हम बता चुके हैं, वह सब इसका उदाहरण हो सकता है। नवधा भक्ति के कुछ अंगों को भी इसी के अंतर्गत मान सकते हैं। अन्नमाचार्य में यह साधना सतत संतत दीखती है। उन्होंने स्वरचित पदों में जो वेंकटेश्वर-मुद्रा रखी है वह मंत्रजप का ही अंग है। भगवान के नाम और गुरूपदिष्ट मंत्र पर उनका गहरा विश्वास था। उनमें उनकी आस्था अचंचल थी।

३.४.२.७ योग :

यमनियमादि साधनाओं से युक्त अष्टांग योग को ही योग कहते हैं। यह हठयोग जैसी कठिन साधनाओं से भिन्न है। चित्त की एकाग्रता केलिए प्राणायाम वगैरह की सात्विक साधना ही श्रीवैष्णवों की उद्दिष्ट साधना है। अन्नमाचार्य की रचना में ऐसे योग की प्रशंसा में कई पद मिलते हैं। लेकिन वे एक जगह कहते हैं कि योग में बैठकर उन्होंने ऐसे अगोचर तत्वों को प्रत्यक्ष कर लिया है जो साधारण दृष्टि को गोचर नहीं होते।[1] फिर वे उस योग के लक्षण भी बताते हैं, "जो योगी है वही सबसे अधिक है, क्योंकि वह अंतरात्मा को देख पाता है। वह सब कुछ करता है, लेकिन पाप-पुण्यों का फल अपने को नहीं लगने देते। वह सब कुछ सुनता है लेकिन तभी उन सबको भूल जाता है और पानी में कमल के पत्ते जैसे साफ रहता है। वह जो मिले उसी को खाता है, किंतु रुचि-भेद की चिंता नहीं करता। वह सब कुछ देखता है, लेकिन चिनगारी पर भस्म की तरह बाहर से स्तब्द रहता है। वह कहीं भी जाए या कहीं भी रहें निर्लिप्त रहता है। उसका सारा चिंतन श्रीवेंकटेश्वर से लगा रहता है और उसीसे सदा युक्त होने से वह योगी कहलाता है।"[2]

---

1. अ. सं. २–१९८
2. अ. सं. २–३७४

यिदरि कंटें नेक्कु वेंचग योगीश्वरुडु, अंदि कनुंगोनु तनयंतर्यामि नेपुडु।
चेनटि ये पुण्यमैन जेयनि यागीश्वरुडु, नूने गोलिचिन कुंच मैनसिकिलुसु।
वोनुल नेमैननु विननि योगीश्वरुडु, नानेटि तामरपाकै नडु मंदु नुंडुनु।
चूडंगल वन्नियुनु चूडनी योगीश्वरुडु, बूडिदलो कच्चिक यै पोरयंडेंदु।
याडनै नानुंडनि इच्चैन योगीश्वरुडु, वाडलो कुम्मरि पुरुवु वले नेंदु नुंडडु।
ओडिड चवुलु गोननि उत्तम योगीश्वरुडु, जिड्डंटनि नालिकै निश्चिततो नुंडु।
येड्ड वले मेलंगनि येदलो योगीश्वरुडु, दोड्ड श्रीवेंकटेश्वरुतो नेरमिचुनु।

३.४ ताप, पुंड्र, तिलक आदि :

श्रीवैष्णव में दीक्षित होने वालों को शंख-चक्रों की तप्त मुद्राओं को दोनों भुजाओं में धरना पड़ता है। उसी तरह फाल भाग में प्रधानतः और शरीर के अन्य ग्यारह भागों में गौणतः ऊर्ध्वपुंड्र (तिरुमणि तिलक) धारण विधेय होता है। फिर गुरु सेवा भी (आचार्याभिमान) अवश्याचरणीय है। अन्नमाचार्य ने सब विधियों का पालन किया, यही बात नहीं, उनका शास्त्रीय ढंग से प्रचार भी किया था। वे खुद आचार्य थे। लेकिन वे इस पर अभिमान नहीं करते। "मैं हरि दास हूं, मुझे आचार्यत्व से क्या मतलब है?"[1] कहकर वे अपनी साधना में ही अधिक तत्पर रहते थे। साधक के उपरोक्त ताप, पुंड्र आदि बाह्य लक्षणों के साथ भगवान पर अचंचल विश्वास रूपी आंतरंगिक लक्षण उनकी साधना का मुख्य लक्षण है। तभी वे कहते हैं कि "हे वेंकटेश्वर, अब तुम्हारी इच्छा, जो चाहो सो करो। मैं तो तुम्हारी कृपा के बारे में प्रचार कर चुका। मेरी आत्मा की पहचान तुम्ही हो। भुजाओं पर ये शंखचक्र की मुद्राएं और मुंह में तिरुमंत्र मेरे व्रत की पहचान हैं। तुम्हारे चरणों की पूजा मेरी दासता का लक्ष्य है। भक्ति का लक्ष्य तुम्हारे दास हैं और कर्म का लक्ष्य आचार्य हैं। हे देव, मेरे जन्म का लक्ष्य तुम्हारी शरण में जाना है। मेरी रक्षा तो तुम्हारे हाथ है। संकीर्तन ही मेरे तप का रूप है और ये तिरुमणि चिह्न ही मेरे ज्ञान के सूचक हैं। फिर मेरे इन सब का लक्ष्य, हे वेंकटेश्वर, तुम्हीं हो।"[2]

३.४.२.१० मंदिर सेवा :

जैसे हम पहले कह चुके हैं, अन्नमाचार्य की संकीर्तन सेवा तिरुमल तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर मंदिर की नित्य सेवा व उत्सव सेवा के अनुरूप होकर, आलवार

---

2. अ. सं. २–२२१ हरि दासानुदासुंडनुट नाकाचार्यत्वमु संगतुला ।।

1. अ. सं. १०–२२४

नीट मुंचु पाल मुंचु नी चित्त मिकनु, चाटिति नी कृप गुरि संसारमुनकु ।
हरि नीवे गुरि ना यातुम लोपलिकि, अरिदि शख चक्राले यंगपु गुरि ।
परम पदमे गुरि पट्टिन व्रतमुनकु, तिरुमंत्रमे गुरि दिष्टपु नालिककु ।
गोविंद नी पाद पूजे गुरि ना दास्यमुनकु, तावुल ना भक्तिकि नी दासुले गुरि।
आवल ना कर्ममुनकाचार्युंडे गुरि, देव नी शरणु गुरि दिष्टपु जन्मानकु ।
नगु श्रीपति गुरि नन्नु रक्षिंचुटकुनु, तगु संकीर्तन गुरि तपमुनकु ।
तेगनि ज्ञानमुनकु तिरुमणुले गुरि, मिगुल श्रीवेंकटेश मिंचि नीवे गुरि ।।

प्रबंधम् की तरह विभिन्न अर्चावसरों पर विनियुक्त होने योग्य पदों के निर्माण रूप में गुजरी। उन दिनों में तिरुमल तिरुपति के मंदिर में प्रचलित नित्य सेवा क्रम आगमोक्त षट् काल पूजा के अनुसार रहता था। लेकिन मंदिर के अपने कुछ विशिष्ट संप्रदाय भी थे। उनको भी यथा संभव शास्त्रीय अर्चा के साथ समन्वय लाकर निभाया जाता था। याद रहे, श्रीवेंकटेश्वर मंदिर की अर्चा पहले से वैखानस आगमों के अनुसार होती आ रही है। लेकिन मंदिर में वैखानस आगमोक्त परिवार देवों की मूर्तियां नहीं मिलतीं। नित्यार्चा में होम जैसे विधान भी अनुष्ठित नहीं होते। लौकिक मर्यादा और यात्रियों की सुविधा की दृष्टि से भी आगमिक अर्चा में कुछ आवश्यक परिवर्तन समय समय पर किया करते हैं। जो हो, अन्नमाचार्य के कुछ पूर्व से आज तक मंदिर में होती आनेवाली नित्यार्चा का क्रम इस प्रकार है।

३.४.२.१०.१ नित्य सेवा क्रम :

सूर्योदय के पूर्व मंदिर के द्वार को खोलने केलिए मंगल वाद्यों के साथ, परिचारक (जिययर) और ग्वाल आते हैं। द्वार खुलते ही मूलमूर्ति के प्रथम दर्शन का सौभाग्य ग्वाले को ही मिलता है। बाद में वे सभी लोग मंदिर में जाकर पर्यंक से स्वामी की भोगमूर्ति को जगाते हैं और उसे मूलस्थान में पहुंचाते हैं। इस अवसर पर मुखमंटप में सुप्रभात, प्रबंधम् गीत और अन्नमाचार्य के प्रभात (जगाऊ) गीत आदि गाते हैं। फिर आरती जलाकर बालभोग का नैवेद्य चढ़ाते हैं। यह भोग शरकरा, गोक्षीर और नवनीत (मक्खन) के मिश्रण से बनता है।[1] बाद में विश्वरूप दर्शन होता है।

विश्वरूप दर्शन के समय दर्शकों को जो तीर्थ दिया जाता है, वह रात की ब्रह्मपूजा का तीर्थ माना जाता है। विश्वास है कि हर रात को ब्रह्मादि देवता लोग भगवान वेंकटेश्वर की पूजा करते हैं।[2] रोज रात के समय मंदिर-द्वार को बंद करने से पहले पांच पात्रों में तीर्थ भरकर स्वामी के गर्भालय में रख छोड़ते हैं। सवेरे विश्वरूप दर्शन के समय वही तीर्थ दर्शकों को देते हैं।

---

1. हिस्टरी आफ तिरुपति, पृ २०८

धारोष्णं चैव गोक्षीरं नवनीतं सशर्करं।
देवेशाय निवेद्याऽथकुर्यात् यवनिकां पुनः॥

2. आलवारुल मंगलाशासनमुलु, तिरुप्पाणि आलवार, ३

विश्वरूप दर्शन के बाद अभ्यंजन और अलंकरण की सेवाएं होती हैं। पिछले दिन के निर्माल्य को उठाकर 'पूलबावी' नामक कुएं डालते हैं। श्रीवेंकटेश्वर का निर्माल्य किसी को नहीं दिया जाता। फिर भोगमूर्ति का तिरुमंजन (अभ्यंजन) होता है। इसके लिए रोज आकाशगंगा (वारिधारा) से तीन घड़े पानी लाया जाता है। पुरुषसूक्त विधान से अभिषेक और अर्चा करते हैं। स्वामी को कर्पूर तिलक व नव वस्त्राभरणों से अलंकृत करते हैं। बड़ी बड़ी फूल मालाओं से मूलमूर्ति को सजाते हैं। इसीको 'तोमालसेवा' कहते हैं। तोमाल का अर्थ हैं, फूलमाला। यह सेवा तिरुमल तिरुपति मंदिर की विशेषता हैं। अन्य मंदिरों में ऐसी नित्यसेवा नहीं दीखती। फिर आरती, नैवेद्य और मंत्रपुष्प का पठन होते हैं। इस आलय का मंत्रपुष्प भी अपनी विशिष्टता रखता है। यह इसके लिए अलग रूप से संकलित है। इसमें चारों वेदों के चार आरंभिक मंत्र, अष्टाक्षरी, रामकृष्ण, विश्वरूप नारायण और विष्णुरूपों की स्तुति, बैकुंठ से भगवान विष्णु का यहां जो आगमन हुआ, उसकी याद दिलानेवाला श्लोक,[1] नम्मालवार का एक गीत, यामुनाचार्य और रामानुजचार्य के दो श्लोक—ये सब मिलकर यहां का मंत्रपुष्प बनता है। बाद में मात्रादान (नैवेद्य), दरबार, पंचांग श्रवण और जमा-खर्च का विवरण देना होते हैं। दरबार के लिए 'कोलुवुमूर्ति' (बलिबेर) का उपयोग होता है।

प्रथम याम के बाद की सेवा सहस्रार्चना है। अन्य मंदिरों में विष्णु सहस्र-नाम से अर्चा की जाती है। लेकिन यहां वेंकटेश्वर सहस्रनामावली जो अलग संकलित है, उसी के अनुसार सहस्रार्चा की जाती है। बाद में संधि (गर्भालय की परिशुद्धि) निर्वाह करके महानैवेद्य चढ़ाते हैं। होम तो नहीं किंतु बलि तो रोज दी जाती है। यह अन्न-बलि है, जो आलय के चारों ओर और ध्वजस्तंभ एवं बलिपीठ (यूथाधिप) के पास दी जाती है। आजकल बलि के बाद सात्तुमुरै नाम से श्रीवैष्णवों की विशेष अर्चा रोज होती है, जिसमें आलवारों के गीत, गुरु परंपरा स्तोत्र (मंत्र) से शुरू करके गाते हैं और अंत में मंगलम् (वलितिरुनामम्) गाते हैं। अन्नमाचार्य के समय में यह प्रथा वर्तमान थी कि नहीं, बताना कठिन है।

अपराह्ण पूजा के रूप में अष्टोत्तर नाम पूजा होती है। फिर नैवेद्य चढ़ाकर दिवा समय की पूजाओं को समाप्त करते हैं।

---

1. हिस्टरी आफ तिरुपति, पृ ४१

मायावी परमानंदं त्यक्त्वैकुंठमुत्तमम्।
स्वामिपुष्करिणीतीरे रमया सह मोदते ।।

सायंकाल अर्चा सबेरे की अर्चा जैसी ही है किंतु इस में केवल अर्चक, जियर जैसे धार्मिक व्यक्तियों या ऐसे कार्यों के निर्वाहकों को ही प्रवेश मिलता है। बाद में अर्धयाम पूजा के नाम से स्वामी की लघ्वर्चा होती है।

रात में भोगमूर्ति को पर्यंक में लिटाने की सेवा जो होती है उसे एकांत सेवा कहते हैं। शयन मंटप में सेज पर रखकर स्वामी को खोवा दूध, फल, चंदन तांबूल आदि देकर लोरियां गाते हैं। धनुर्मास के दिनों में भोगमूर्ति के बदले श्रीकृष्ण विग्रह को 'एकांत सेवा' के काम में लाते हैं। इस सेवा के बाद ब्रह्म पूजा केलिये तीर्थ रखकर मंदिर का द्वार बंद करते हैं।[1]

अन्नमाचार्य की रचना में उपर्युक्त नित्यार्चा व सेवाओं में विनियोग होने वाले जगाऊ, अभिषेक, अलंकरण, आरती, मंगलम्, धवल (दरबार में विजय गीत) भोग और लोरी गीत सैंकडों की तादाद में मिलते हैं।[2] आज भी उनके वंशवाले जगाऊ, अभिषेक और लोरी गीत गाकर स्वामी की नित्य सेवा में भाग लेते हैं।

हर शुक्रवार के दिन स्वामी की मूलमूर्ति का अभिषेक रचा जाता है। यह कर्पूर, श्रीगंध, काश्मीर, जवादि, गुलाब-जल, दूध, दही, मधु, शर्करा, फलरस और शुद्धजल से महावैभव के साथ मनाया जाता है। अलमेलमंगा का भी अलग रूप से अभिषेक होता है। अतः पूर्वदिन, अर्थात् गुरुवार के दिन शाम को स्वामी को सभी आभरणों से वियुक्त करके केवल फूलों से ही अलंकृत करते हैं। उसे 'फूलंगी' सेवा कहते हैं। अन्नमाचार्य के कितने ही गीत अभिषेक दर्शन के वर्णन में मिलते हैं। आज भी अभिषेक समय में उनके वंशवाले चंदनपात्र लिये स्वामी की सेवा में प्रस्तुत होते हैं।

३.४.२.१०.२ उत्सव सेवाएं :

सालुव वंशी लोगों की श्रद्धा के कारण अन्नमाचार्य के समय वेंकटेश्वर मंदिर में उत्सवों की संख्या अतःपूर्व से कहीं अधिक बढ़ गयी। तब पहले के ब्रह्मोत्सव, वसंतोत्सव, मुक्कोटि (वैकुंठ) एकादशी व द्वादशी, मार्गलि (धनुर्मास) जैसे उत्सवों के साथ उगादि (संवत्सरारंभ), दिवाली, आडि-अयन (कर्कि संक्रमण) मकरसंक्रांति, उत्थान एकादशी, द्वादशी जैसे कई नये उत्सव शुरू किये गये।

---

1. विशेष विवरण केलिए—देखिये—हिष्टरी.आफ तिरुपति, १—१४०
2. अ. सं. २—४०३, ८—१६५, गा. १०१, ८८, २—१६५—१११, ९—९, ३—३२४, २—६८ आदि

अन्न ऊंजल (डोला), झूला, नौका, आखेट जैसे उत्सव बड़े वैभव व खर्च के साथ मनाये जाने लगे। संधि उत्सव (किसी व्यक्ति के नाम पर उसके यशोलाभ के लिये उसके खर्च से मनाये जानेवाले उत्सव, जैसे बुक्कराय संधि, नरसिंह संधि वगैरह) ज्यादा हुए। तिरुपति (शहर) के मंदिर में भी पारुवेटा (आखेट) गोदा तिरुनाल (आंडाल का व्रत), आलवार संधि जैसे कितने ही नये उत्सव शुरू किये गये। रथोत्सव का नया क्रम जारी हुआ। तिरुमलै मंदिर में मूलमूर्ति के साथ भोगमूर्ति और उत्सवमूर्ति के भी तिरुमंजन, तिरुकापु, पुनुगुकापु जैसे (अभ्यंजन) उत्सव मनाये जाने लगे। कल्याणोत्सव धूमधाम से मनाया जाता था। नावलूर उत्सव के निमित्त स्वामी (उत्सवमूर्ति) को बारह मील की दूर तक जुलूस में ले जाते थे। प्रबंध पठन को अध्ययनोत्सव नाम से कई दिनों तक मनाते थे। कैसिक पुराण (हरिजन भक्त की कथा) के पठन के साथ तिरुवेंकटमाहात्म्य (स्थल पुराण) का भी पठन शुरू हुआ। अलमेलमंगा को शुक्रवार के दिन विशेष अभ्यंजन का उत्सव मनाया जाने लगा। उन दिनों में होनेवाले उत्सवों की एक तालिका से यह पता चलता है कि साल में १५३ दिन उत्सव दिन माने जाते थे।[1] एक अभिलेख से यह मालूम होता है कि ऐसे २९ उत्सव अवसरों पर नकद रूप में पचास-साठ कार्यकर्ताओं को १४० भागों में सेवा मूल्य मिलता था। इस अभिलेख के अनुसार उस समय मंदिर की सेवा में उद्योगी, तिरुमणिपिल्लै, लच्चिनैक्कारर, प्रबंधपाठक, कंगनियप्पन, वाहक, विभागक, दीपाराधाक, विज्ञापक, प्रकटन कर्ता, नाट्याचार्य, नर्तक, गायक, मार्दंगिक, वांसिक, तालवाद्यक, शिल्पी, कुंभकार, काष्ट विक्रेता और परिचारक जैसे कितने ही लोग ऐसी भेंट पाने लायक होते थे।[2]

कल्याणोत्सव के जन्म दाता अन्नमाचार्य ही थे। आज भी तिरुमलै मंदिर में कल्याणोत्सव के समय कन्या दाता बनने का गौरव इन्हीं के वंशवालों को मिलता है। अलमेलमंगा के हारिद्र तिरुमंजन उत्सव में भी इन लोगों की सेवाएं प्रस्तुत होती हैं।

अन्नमाचार्य की रचना में उपर्युक्त उत्सवों में कितनों का आंखों देखा वर्णन मिलता है। वसंतोत्सव, श्रीरामनवमी का उत्सव, नरसिंहजयंती, श्रीकृष्ण जयंती गोकुलाष्टमी उत्सव, ब्रह्मोत्सव, धनुर्मासोत्सव, रथसप्तमी, मुक्कोटि एकादशी व

1. हिस्टरी आफ तिरुपति, भाग २, अध्याय १५, पृ ५५७–५६७ के आधार पर
2. हिस्टरी आफ तिरुपति, पृ ५७७–७९

द्वादशी उत्सव, नौकाविहार, आखेटोत्सव, कल्याणोत्सव, अश्व वाहन, गरुडवाहन रथयात्रा, जुलूस, आस्थान जैसे कितने ही उत्सव इनके पदों में वर्णित हुए हैं ।[1] तिरुपति (शहर) के मंदिर में होनेवाले गोविंदराज ब्रह्मोत्सव, गोदा परिणयोत्सव कोदंडरामस्वामी के उत्सव आदि के बारे में भी इनके रचे कई पद मिलते हैं ।[2] हनुमान, सुदर्शन चक्र, विष्वक्सेन, रामानुजाचार्य, नम्मालवार जैसों के उत्सवों से संबंध रखनेवाले यात्रा, वाहन, तिरुवीथि, जयंती आदि का भी इन्होंने कई पदों में वर्णन किया है ।[3]

अन्नमाचार्य ने कई यात्राएं कीं । कितने ही पुण्यक्षेत्रों में घूम आये । उन प्रदेशों में व्यक्त देवी देवताओं की स्तुति और उनके उत्सवों के वर्णन में भी कई पद रचे । वे बड़े समन्वयवादी थे । विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णवों में प्राय: दीखनेवाली सांप्रदायिक कट्टरता उनमें नहीं दीखती । वे हनुमान की स्तुति करते, बुद्धि का यश गाते, राधा माधवों का चरित वर्णन करते, श्रीजगन्नाथ और पंढरि विट्ठल के भी स्तोत्र पढ़ते और अनंत चतुर्दशी व्रत का भी महत्व गाते मिलते हैं ।[4] ये बातें अन्य श्रीवैष्णवों में शायद ही मिलती हैं । प्रबंधम् से लेकर अपने संकीर्तनों तक को ये एक ही तरह के गौरव भाव से देखते हैं ।

अन्नमाचार्य के घर में उनके स्वहस्तों से अर्चित कल्याणवेंकटेश्वर की पंचलोहमूर्ति जो रहती थी, वह अब मंगापुर के मंदिर में रखी मिलती है । मंगापुर मंदिर का जीर्णोद्धार इनके पौत्र चिन तिरुमलाचार्य ने ही करवा । वहां अन्नमाचार्य की भी मूर्ति उन्होंने प्रतिष्ठित की थी । लेकिन वह अब गायब है । (देखिये, अन्नमाचार्य चरित्र पीठिका)

३.४.३ वल्लभ संप्रदाय में सेवा तत्व :

वल्लभाचार्यजी का सिद्धांत है कि भगवान जिसे चाहे वही उसको प्राप्त करता है । भगवान का इस तरह किसी एक पर जो अनुग्रह होता है वही पुष्टि है । भक्ति की समस्त साधनाएं पुष्टिप्राप्ति के ही साधन हैं । इस तरह पुष्टि

---

1. अ. सं. ६–११०, ६–२१९, ११–१७४, ८–१७, ८–१६१, ६–१११ ९–१९४, २–१६९, ९–१७१, ६–१४३, ८–२१, २–१६९, ११–२–३८, २–९२, ११–२–३० आदि
2. अ. सं. ११–२–३८, गा. २, ३१, ३८
3. अ. सं. ७–१३, ८–२८२, ११–३–७८
4. अ. सं. ११–२–६०, २–३०८, १०–१७१, २–३२९, ९–७६

अथवा भगवदनुग्रह की प्राप्ति के लिए जो भक्ति मार्ग अपनाया जाता है, वही पुष्टिमार्ग कहलाता है। पुष्टि मार्ग के अनुसार माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ भगवत्-स्नेह ही भक्ति है। इसीसे मुक्ति प्राप्य है, अन्यथा नहीं।[1] इसके लिए भक्त को त्रैगुण्यातीत निर्गुण अर्थात् निष्काम प्रेम भक्ति की साधना में तत्पर होना चाहिए। भक्त के मन की गति इस प्रकार की होनी चाहिए जैसी गंगा की सागर की ओर होती है।[2] मतलब है कि लोक, वेद, शास्त्र आदि सभी प्रतिबंधों को पारकर, फलानु-संधान रहित होकर, निरे सेवा-भाव से प्रेरित होकर भक्त का मन भगवदुन्मुख होवे और वह केवल पुरुषोत्तम कृष्ण भगवान का ही वरण करके चले, न कि अन्य अवतारों का या देवताओं का। इस तरह की अनन्य साधना केलिए आचार्य जी ने स्वधर्माचरण, विधर्म त्याग और इंद्रिय निग्रह नाम के तीन नियमों को भी पालनीय बताया है।[3]

पुष्टिमार्ग में पुष्टि-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन आत्मसमर्पण है। इसीसे ब्रह्म संबंध की स्थापना होती है। भगवान से किसी न किसी प्रकार का संबंध जोड़ना, आत्मनिवेदन करना और शरण में जाना ब्रह्म संबंध के मुख्य लक्षण हैं। नवधा भक्ति आदि सभी साधनाएं इसी के अंतर्गत हैं। लेकिन सिद्धि विरह में होती है, क्योंकि विरह में ही अनन्यता की पुष्टि होती है। तब तक की सारी साधना सेवारूप में हो, जो तन, धन और मन के समर्पण द्वारा तनुजा, वित्तजा व मानसी रूप तीन प्रकार से की जा सकती है। इनमें फिर मानसिक सेवा सर्वोत्तम मानी गयी है।[4]

३.४.३.१ विग्रह सेवा का महत्व :

सेवा कोई भी हो वह भगवान के प्रति पूर्ण तन्मयी भाव से की जाए। भगवान के विग्रह में भक्त भगवान की भावना करता है। विग्रह सेवा को

---

1. त. दी. नि. १–४२ माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
   स्नेहो भक्ति रिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा ॥
2. भगवति प्रतिबंध रहिता अविच्छिन्ना या मनोरतिः पर्वतादि भेदन मपि कृत्वा यथा गंगांमः अंबुधौ गच्छति तथा लौकिक वैदिक प्रति-बंधान् दूरीकृत्य या भगवति मनसोरतिः। (सुबोधिनि) सूर साहित्य नवमूल्यांकन, पृ ८०
3. त. दि. नि. १–२३८ स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।
   इंद्रियाश्च विनिग्राहः सर्वथा त्यजेत् त्रयम् ॥
4. सिद्धांतमुक्तावली कारिका, १, २
   कृष्ण सेवा सदाकार्या मानसीसा परामता।
   चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनु वित्तजा ॥

भगवान की सेवा ही मानता है। अनवरत अभ्यास से इसमें तदेक निष्ठा, तत्परता, निस्वार्थता एवं निरपेक्षता जैसी बातें स्वतः साध्य होती हैं। श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि से सेवा में दृढ़ता आती है। श्रवण द्वारा हरि गुण कथाओं का ज्ञान, कीर्तन द्वारा उनके प्रति राग और स्मरण द्वारा तल्लीनता प्राप्त होकर भक्त को सदा सर्वदा भगवत् संबंध में निरत रखते हैं। यह एकांतसंबंध निरोधप्राप्ति रूपी लक्ष्य की प्राप्ति में अतीव सहाय पहुंचाता है।

अन्य प्रापंचिक विषयों से निवृत्त होकर भक्त जब भगवदासक्तिमय होता है, तब उसकी उस स्थिति को 'निरोध' कहा जाता है।[1] इसकी तीन स्थितियां होती हैं, प्रेम, आसक्ति और व्यसन। भगवान से प्रेम है तो तदितर प्रापंचिक वस्तुओं को छोड़कर केवल भगवान को ही चाहना आसक्ति है। जब भक्त का मन भगवन्मय अर्थात् भगवान के विचार-चिंतन-मनन आदि से भर उठता है, तब उसे व्यसन की स्थिति कहते हैं। इस तरह निरोध की सिद्धि हो जाने पर भक्त भगवान में ही निवास करता है। वही मुक्ति है। भक्त तब 'अमृत संस्थ' हो जाता है। वह भगवान में अनन्य भाव से लीन रहता है। उसका आश्रित हो जाता है। महाप्रलय में भी उसका नाश नहीं होता। संक्षेप में पुष्टिमार्ग की सेवा और उसके फल का यही रूप है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पुष्टि मार्ग में केवल परब्रह्म कृष्ण ही उपास्य है। उसकी उपासना प्रेम युक्त सेवा द्वारा की जाती है। आचार-अनुष्ठान आदि की अपेक्षा इस संप्रदाय में भगवद् विश्वास और प्रेम पर अधिक जोर दिया गया है। इसीलिए इसे प्रेम मूलक निर्गुण भक्ति मार्ग कहते हैं। लेकिन पुष्टि मार्ग का फल प्रेम है, जो सुख का ही परिणत रूप है। यह भगवदनुग्रह पर निर्भर रहता है। मतलब है कि यहां मुक्ति कर्मफल न रहकर ईश्वर के अनुग्रह या पुष्टि का फल होती है। भगवान के अनुग्रह पर निर्भर रहने से इस मार्ग में पतन का भय भी नहीं है। प्रेम करना जीव मात्र का हृदय-धर्म है, अतः यह आचरण में सुलभ साध्य हैं।

३.४.३.२ सूर की साधना :

सूरदास की साधना में यही भक्तिभावना क्रियात्मक हुए मिलती है। इनके साहित्य में सर्वत्र यही भावना व्यक्त होती है। पुष्टि और विशुद्ध प्रेम का यह तत्व सूर की रचना में गोपी भक्ति में संपूर्ण अभिव्यक्ति पाकर मिलता है।

---

1. भागवत, २-१०-६ निरोधोऽस्यां आत्मनः सह शक्तिभिः ॥

सूर की दृष्टि में गोपियां प्रेम के गुरु हैं। ये उनका चरण-रज की महिमा गाते हैं और कहते हैं,

> तिनकी पद-रज जो कोउ बृंदावन भुव मांही।
> परसौं सोउ गोपिका गति लहे संशय नाहीं।
> भृगु तातें में चरन-रज गोपिन की चाहत।
> श्रुति मत बारंबार हृदय अपने अवगाहत ।।[1]

३.४.३.३ गोपी भाव :

गोपियों में, ब्रजांगनाएं, गोपीकुमारियाँ और (विवाहित) गोपांगनाएं भी दीखती हैं। ब्रजांगनाओं में लोक साधारण बालभाव से भगवान बालकृष्ण के प्रति अनुरक्ति दीखती है। संप्रदाय में यह पुष्टि प्रवाह भक्ति कहलाती है। यह वात्सल्य भगवान से पुष्ट होता है। सूरसागर में बाल लीला के पदों में ब्रजांगनाओं की यह भक्ति खूब व्यंजित हुई है।

> कोऊ कहै ललन पकराव मोहिं पांवरी।
> कोऊ कहै लाल बलि लाओ पीढी।
> कोऊ कहै ललन गहाय मोहिं सोहनी।
> कोऊ कहै लाल चढ़ि जाउ सीढ़ी।
> कोऊ कहै ललन देखो मोर कैसे नँचे।
> कोऊ कहै भ्रमर कैसे गुंजारै।
> कोऊ कहै पौरि लगि दौरि आवहु लाल।
> रीझि मोतिन के हार वारै।[2]

गोपकुमारियां अथवा कन्याएं व्रत उपवास आदि से कृष्ण का वरण करती हैं। ये 'पुष्टि मर्यादा' का प्रातिनिध्य करती हैं। उनकी स्वकीया बनती हैं। रासलीला, चीरहरणलीला जैसे प्रसंगों में उनकी भक्ति का वर्णन मिलता है।

> भजि सखि भाव भाविक देव।
> कोटि साधन करौ कोऊ, तौऊ न मानै सोव ।।[3]

---

1. सूरसाहित्य नव मूल्यांकन, पृ ९१ से उद्धृत
2. सूर साहित्य नव मूल्यांकन, पृ ९२ से उद्धृत
3. सूरदास की वार्ताप्रसंग ११, सूर और उनका साहित्य, पृ २७७

इनके प्रेम में माहात्म्यज्ञान और सर्वसमर्पण का भाव भरा पूरा मिलता है। इनमें परोक्ष भजन का तत्व भी अधिक पाया जाता है।

गोपांगनाएं विवाहित नारियां हैं। लेकिन वे कृष्ण-प्रेम में इतनी विह्वल हैं कि 'लोक-लाज' 'कुल की कानि' जैसी सब बातों को छोड़कर, निश्शंक व निर्भीक होकर प्रत्यक्ष रूप में कृष्ण के भजन में उपस्थित होती हैं।

पलक ओट नहीं होत कन्हाई।
घर गुरु जन बहुतै विधि त्रासत, लाज करावत लाज न आई।
नैन जहां दरसन हरि अटके स्रवनथके सुनि वचन सुहाई।
रसना और कछू नहि आवत, स्याम स्याम रट यहै लगाई।
चित चंचल संगहि संग डोलत लोक लाज मरजाद मिटाई।
मन हर लियौं सूर प्रभु तब ही तन बपुरे की कहा बसाई॥[1]

३.४.३ ४ परकीया भाव :

आचार्य महाप्रभु की 'मधुराष्टक' 'परिवृढाष्टक' जैसी रचनाओं में भी ऐसी मधुर भावोपात्त परकीया प्रेम का वर्णन मिलता है। उदाहरण केलिए परिवृढाष्टक का यह श्लोक पर्याप्त है।

कलिंदाद्रौ भूतायास्तट मनु चरंतीं पशुपजां।
रहस्येकां वृष्टवा नव सुभग बक्षोज युगलाम्।
वृढं नीवी ग्रंथि श्लथयति मृगाक्ष्या हठतरं।
रति प्रादुर्भावो भवतु सततम् श्रीपरिवृढे॥[2]

सारांश है कि वल्लभ संप्रदाय में बाल, दांपत्य और परकीया कांताभाव तीनों की स्वीकृति है। बालभाव का संबंध मंदिरों से अधिक है। माधुर्य भाव की साधना तो वल्लभ की अपेक्षा विट्ठलनाथ के समय अधिक प्रश्रय युक्त और संप्रदायिक बनायी गयी। इसके परिणाम स्वरूप सूर की माधुर्याश्रित काव्य लता भी तब नवीन स्फूर्तियों से युक्त हुई।[3]

---

1. सूर साहित्य नव मूल्यंकन पृ ९२ से उद्धृत
2. सूर साहित्य, नव मूल्यांकन, परिवृढाष्टक, पृ १९५
3. सूर साहित्य नवमूल्यांकन, पृ ९३

३.४.३.५ सेवा का क्रियात्मक रूप :

सेवा के क्रियात्मक और भावनात्मक दो रूप होते हैं। उनमें क्रियात्मक रूप सेवा का संबंध मंदिरों द्वारा वहां व्यक्त भगवन्मूर्तियों से अधिक संबंध रखती है। वल्लभ संप्रदाय में श्रीनाथजी, नवनीत प्रिय जी, मथुरेश जी आदि के मंदिरों में विशिष्ट सेवा का क्रम भक्ति साधना का ही क्रियात्मक सेवा रूप अंग माना जाता है। भगवान की मूर्ति और भगवान में भेद नहीं है। मूर्ति के प्रति की जानेवाली समस्त सेवा विश्वरूप भगवान को ही मिलती है। यहीं पुष्टि मार्गीय भौतिक सेवा का आदर्श है। इसीलिए इसके भोग, राग और शृंगार रूप अंगों पर अधिकाधिक जोर दिया गया है। सेवा की पूर्ण सिद्धि केलिए भगवत् तत्व का निभ्रांत ज्ञान होना चाहिए और वह ज्ञान गुरु द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अतः क्रियात्मक सेवा गुरु के प्रति भी सर्वात्मभाव से होनी चाहिए। साधक को गुरु की शरण में जाना अतीव आवश्यक है। इसकी परिणत भावना ईश्वर और गुरु में अभेद मानने में चरितार्थ होती है। सूरदास में गुरु के प्रति यह सर्वात्मभाव या ईश्वर भाव दृढ रूप में प्रकट होता है।

> भरोसौं दृढ इन चरनन केरौ।
> श्रीवल्लभ नख-चंद्र छटा बिनु सब जग मांझ अंधेरौ ।।[1]

३.४.३.६ मंदिर सेवा :

वल्लभसंप्रदाय के मंदिरों में नित्यसेवा विधि का क्रम अष्टयाम पूजा विधान के अनुसार रहता है। सबेरे से शाम तक आठ पहर की सेवाएं और आठ झांकियां होती हैं। सभी सेवाएं बाल भाव से और कृष्णार्पण बुद्धि से की जाती हैं। गोपी भाव का भी इनमें समावेश किया जाता है। वल्लभ की अपेक्षा विट्ठलनाथ के समय इन सेवाओं का विभव अधिक किया गया जैसे आठ शिरोलंकार, अन्नकूट ५६ भोग आदि। मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या आरती और शयन—ये आठों झांकियां नित्य सेवा की झांकियां हैं।

३.४.३.७ नित्य सेवाएं :

मंगला में गुरुस्मरण के पश्चात् श्रीकृष्ण के विग्रह को जगाया जाता है। तब उनको 'मंगल भोग' नाम से कलेऊ कराया जाता है। इसके बाद मंगल

---

1. अष्टछाप, सूरदास का प्रसंग, ६

आरती होती है। इस समस्त प्रक्रिया में बाल भाव भावित रहता है। ऋतु के अनुसार वस्त्र, आभूषण व अन्न सामग्री की योजना रहती है। सूरदास की रचना में जागरण, कलेऊ और आरती के कई पद मिलते हैं।[1]

शृंगार सेवा में गरम पानी से स्नान, अंगरागादि का लेपन और वस्त्र भूषादि का अलंकरण होते हैं। शृंगार के बाद शृंगार भोग आता है। वल्लभाचार्य जी के समय में शिरोलंकरण के रूप में फाग और फेंटा का मात्र रहते थे, लेकिन विट्ठलनाथ जी के समय में फाग, फेंटा, दुमाला, पगा, कूल्हे, सेहरा, टिपारा ओर मुकुट नाम से आठ शृंगार होने लगे।

शृंगार के बाद 'ग्वाल की सेवा' है। इसमें घैय्या (दूध फेन युक्त पदार्थ) आरोगाई जाती है।[2] बाद में राज भोग होता है। शीताकाल में राजभोग घर में हीं होता है।[3] लेकिन ग्रीष्म में धूप के भय से कृष्ण वन-गमन जलदी करते हैं और राज भोग की छाक वहीं भेजी जाती है।[4]

राज भोग के बाद 'अनोसर' (शयन) के पश्चात् जब छः घड़ी दिन रहता है तब उत्थापन (जगाना) होता है। इसके बाद फिर भोग होता है। अब फल-फूल आदि का भोग चढ़ाया जाता है।

शाम को संध्या आरती होती है। तब वन से गायें लेकर कृष्ण व्रज की ओर आते हैं। उस समय घर में आरती होती है।[5] अंतिम झांकी शयन की है। तब व्यारू (रात का भोजन) कराया जाता है। बाद में आरती देकर कृष्ण को पौडाया जाता है। इन सभी झांकियों के भाव सूरदास ने विविध पदों में गाये है। उत्थापन झांकी उनकी सेवा से संबद्ध है। ये सब उनकी राग रूपी क्रियात्मक सेवा है।

३.४.३.८ उत्सव सेवाएं :

नित्य सेवाओं व झांकियों के अतिरिक्त संप्रदाय में अन्य उत्सव भी मनाये जाते हैं, जिनमें धार्मिक और ऋतु संबंधी सभी वार्षिक उत्सव सम्मिलित हैं।

---

1. सूर बालकृष्ण माधुरी, पद १२३
2. सूरसागर, पद १२०४
3. ,, पद ८५६
4. ,, पद १०८०
5. सूरसागर, पद १२३५

इनको कई वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में लीला संबंधी उत्सव आते हैं, जैसे संवत्सर, गनगौर, अक्षय तृतीया, रथ यात्रा, पवित्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, दान, झांकी नवरात्री, रास, अन्नकूट, गोपाष्टमी व्रतचर्या आदि। दूसरे वर्ग में ऋतु संबंधी उत्सव आते हैं जैसे डोल (वसंत), फूल मंडली (ग्रीष्म), हिंडोरा (वर्षा), रास (शारद), देवप्रबोधिनी जागरण (हेमंत), होली (शिशिर)। तीसरे वर्ग के उत्सव अन्य अवतारों से संबद्ध हैं, जैसे राम जयंती, नृसिंह जयंती, वामन जयंती। चौथे वर्ग के उत्सव वैदिक पर्वों से संबंध रखते हैं, जैसे मकर संक्रांति, जेष्ठाभिषेक, रक्षा बंधन, दशहरा, दिवाली, आदि। बाकी सब उत्सव पांचवें वर्ग के अंतर्गत हैं। इन सभी उत्सवों में संगीत, कीर्तन का विशिष्ट विधान किया जाता है। सूरदास के अनेक पद इन वर्षोत्सवों से संबंधित हैं। उत्सवों में लीला संबंधी उत्सव अधिक हैं। अतः लीला गान का अवकाश भी ज्यादा है। ऋतु संबंधी उत्सवों में सबसे अधिक पद रास, वसंत, होली, हिंडारे के मिलते हैं।

पुष्टिमार्गीय सेवा के भोग, राग और शृंगार नाम के तीनों अंगों में सूर का संबंध राग से अधिक है। विभिन्न राग-रागिनियों में अनेकानेक पद रचकर इन सेवा अवसरों में गाया करते थे। सारावली में राग-रागिनियों की सूची भी मिलती हैं, जिसमें ३८ रागों का उल्लेख हुआ है।[1] राग और लय के साथ कीर्तन करने में मन अधिक तन्मय और जल्दी एकाग्र होता है। अतः निरोध की प्रक्रिया में राग कीर्तन का विशेष महत्व है।

३.४.३.९ शरणागति :

तनुजा और वित्तजा रूपी क्रियात्मक सेवा का भी आदर्श भगवान की शरण में जाना है। अपना सब कुछ भगवान को समर्पण करना और तदीय होकर रहना ही शरणागति है। और सभी कर्मों व धर्मों को छोड़कर कृष्ण सेवा में तत्पर रहने से शरण केलिए भूमिका तैयार होती है। यह अनन्यता को स्थिर करती है। इससे सभी विरुद्ध या विपरीत भावनाओं का प्रशमन होता है। सूरदास की साधना में हमें ये दोनों तत्व, अर्थात् शरणागति और अनन्यता खूब मिलते हैं। साथ साथ सभी विपरीत भावों से विरक्ति भी दीखती है।

---

1. सारावली, पद १०१२–१०१८

१) छूहि में कहा घटैगौ तेरौ ।
... ... ।
सबै समर्पण सूर स्याम को यह सांचौ मत मेरौ ।।[1]

२) मेरौ मन अनत कहां सुख पावै ।[2]

३) तजो मन हरि विमुखन के संग ।
जाके संग कुबुधि उपजत है, परत भजन में भंग ।।[3]

संप्रदाय की मान्यता के अनुसार भक्ति का केंद्रीय तत्व प्रेम है, जिसकी चरम परिणति और सिद्धि विरह में होती हैं । सूर ने विरह का महत्व कई पदों में निरूपित किया है । फिर, पुष्टि भक्ति की स्वरूपासक्ति, लीलासक्ति और भावासक्ति नामक तीनों अवस्थाएं भी सूर की साधना में प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती हैं । सूर ने इनका पूर्ण भाव से विस्तार किया है ।

३.४.३.१० सेवा का भावात्मक रूप :

'भावात्मक सेवा का रूप मानसी या मानसिक सेवा भाव में व्यक्त होता है। सूरदास जी को आचार्य महाप्रभु ने लीलापद गाने का उपदेश दिया और उन्होंने नंद के घर-आंगन से लेकर व्रजभूमि विचरण की सारी लीलाओं का वर्णन किया है । भगवान कृष्ण की विविध लीलाओं के वर्णन से भक्त को सुलभ और स्वाभाविक रीति से तन्मयता की स्थिति प्राप्त होती है । सूर की गोपियां प्रेम भक्ति प्रतीक हैं । उनसे तादात्म्य पाकर सूर ने कृष्ण के रूप माधुर्य और उनकी विविध लीलाओं का वर्णन किया है । यह उनकी भक्ति का भावात्मक रूप ही है । फिर संप्रदाय के अष्टसखाओं में वे भी एक हुए । विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप का निर्माण किया तो सूर को ही उसमें प्रथम स्थान दिया । उनको पुष्टि मार्ग का जहाज भी कहा गया । संप्रदाय में यह मान्यता थी कि अष्टछाप के आठों महानुभाव श्रीनाथ जी के अंतरंग सखा थे और उनकी नित्यलीला में सदा साथ रहते थे । संप्रदाय में यह विश्वास भी प्रचलित है कि श्रीनाथ जी के प्राकट्य के साथ साथ उनके अंतरंग सखाओं का भी उनकी सेवा केलिए भूतल पर प्राकट्य हुआ । 'अष्टसखान' के सांप्रदायिक महत्व को 'अष्टछाप परिचय' की निम्नलिखित पंक्तियों से जाना जा सकता है ।

---

1. सूर विनय पत्रिका, पद ७६
2. सूर विनय पत्रिका, पद ३००
3. ,, ,, पद १३२

३.४.३.११ अष्टसखा :

गिरिराज तलहटी नित्य लीला भूमि है। यहां श्रीनाथ जी स्वामिनी सहित नित्यलीला करते हैं। ये आठों सखा उनकी लीला में आठों पहर उनके साथ रहते हैं। अष्टसखाओं के लीलात्मक स्वरूपों की दो प्रकार की स्थिति है, वे दिन में ठाकुर जी के सखा रूप से उनकी वन-लीला का सुख प्राप्त करते हैं और रात में स्वामिनी जी की सखी रूप से निकुंज लीला का सुखानुभव करती हैं। गिरिराज नित्य निकुंज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठों सखा इनके अधिकारी हैं। वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुर जी की सेवा सदैव करते रहते हैं। लौकिक लीलाओं में वे भौतिक शरीर से उन द्वारों पर स्थित रहते हैं और लौकिक लीला की समाप्ति होने पर अपने भौतिक शरीर को त्याग कर आलौकिक रूप से नित्यलीला में विराजमान रहते हैं। पुष्टि संप्रदाय की भावना के अनुसार अष्टछाप की लीलाओं का उभय-स्वरूप उनकी लीलासक्ति और उनके अधिकृत द्वारों का विवरण इस प्रकार है।

अष्टसखा	लीलात्मकरूप	लीलासक्ति	अधिकृतद्वार
१) कुंभनदास, अर्जुन सखा	विशाख सखी	निकुंज लीला	अन्यौर
२) सूरदास, कृष्णसखा	चंपक लता सखी	मानलीला	चंद्रसरोवर
३) परमानंददास, लोक सखा	चंद्रभागा सखी	बाललीला	सुरभिकुंड
४) कृष्णदास, ऋषभ सखा	ललिता सखी	रासलीला	बिलछूकुंड
५) गोविंदस्वामी, श्रीदामासखा	भामा सखी	आंखमिचौनीलीला	कदमखंडी
६) छीतास्वामी, सुबलसखा	पदमासखी	जन्मलीला	अप्सराकुंड
७) चतुर्भुजदास, विशालसखा	विमलासखी	अन्नकूटलीला	खद्रकूट
८) नंददास, भोजसखा	चंद्ररेखा सखी	किसोरलीला	मानसीगंगा[1]

1. अष्टछाप परिचय, पृ ३८–३९, सूर और उनका साहित्य, पृ २७६–७७

इन सब सखियों के अनुरूप वस्त्र, भूषा, रंग आदि की भी कल्पना की गयी है। इनके विशेष आसक्त विग्रहों का भी उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार सूरदास की स्वरूपासक्ति श्रीमथुरेश जी से मानी गयी है। उसी तरह सूर को भगवदंग स्वरूप में 'वाक' माना गया है। उनका संबंध उत्थापन झांकी से जोड़ा गया है। संप्रदाय की मान्यता के अनुसार महाप्रभु वल्लभाचार्य जी और गोसाई विट्ठलनाथ जी कृष्ण के ही अवतार थे। चैतन्य संप्रदाय में भी ऐसी कल्पना मिलती है। वहां सखियों के साथ मंजरियों (दूति आदि) की भी कल्पना दीखती है। वल्लभसंप्रदाय को विष्णुस्वामी संप्रदाय का विकसित रूप मानते हैं। पं. गदाधर दास जी ने संप्रदाय प्रदीप में 'विष्णुस्वामिनः उपसंप्रदायः चैतन्यः' कहकर वल्लभ और चैतन्य संप्रदाय के मूलस्रोत की ओर संकेत किया है। हम पहले कह चुके हैं कि लीलाशुक का प्रभाव इन दोनों संप्रदायों पर विद्यमान होता है। माधुर्योपासना, सखा-सखी भावना जैसी बातें कृष्णकर्णामृत में मिलती हैं। विट्ठलनाथ जी के समय में इन बातों को संप्रदाय में अधिक प्रश्रय मिला हो, किंतु इनके बीज तो वल्लभ जी के समय में ही पड़े होंगे। जो हो, इस तरह की कल्पना से क्रियात्मक साधना और मानसी भाव साधना का समन्वय सिद्ध किया गया है।

३.४.३.१२ तुलना :

अन्नमाचार्य की साधना में ऐसी सामूहिक रूप सेवा भावना तो नहीं मिलती। लेकिन वे कभी अपने को भगवान का सखा मानते हैं तो कभी नायिका (अलमेलमंगा) की सखी मानते हैं। वे कभी नायिका की धाय और नायक-नायकाओं के मध्य दूती की तरह भी अपने को प्रस्तुत करते हैं। परम पतिव्रता भाव की भक्ति उनमें भी पूर्ण रूप से दीखती है। निष्कर्ष है कि सूरदास और अन्नमाचार्य दो विभिन्न संप्रदायों को मानकर साधना में अग्रसर होने पर भी मौलिक रूप से एक दूसरे के बहुत निकट दीखते हैं। प्रपत्तिमार्ग और पुष्टिमार्ग दोनों शरणागति और आत्मसमर्पण को ही मुख्य मानते हैं और दोनों मार्ग भगवान की कृपा पर जोर देते हैं। यही इन दोनों भक्तों की साधना में साम्य का प्रबल कारण है। फिर दोनों भक्तकवि अर्चामूर्ति में ही अपने इष्टदेव को साक्षात्कार करके उनकी नित्यसेवाओं व वर्षोत्सव सेवाओं का तल्लीनता से वर्णन करते, उसी में अलौकिक आनंद की छटा को प्राप्त करते थे। संप्रदायगत मान्यताओं की पूर्ण स्वीकृति के साथ साथ अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को निभाते रहने में भी इन दोनों भक्तकवियों का तत्व एक है।

३.४.४ आध्यात्मिक अनुभूति :

साधक को अपनी आध्यात्मिक साधना के कुछ विलक्षण क्षणों में जो विशिष्ट अनुभूति होती है, वह एकदम अलौकिक और मन, वाणी से परे की होती है। साधक को उस दिव्य अनुभूति को बार बार पाने की प्रवल उत्कंठामय इच्छा तो होती है, किंतु उसके बारे में कुछ कहने की शक्ति उसे नहीं होती। उसका अनुभव असीम का होता है और वह खुद ससीम है, अतः वह अनुभूति उसे गूंगे का गुड़ जैसी बनकर, अनुभव में तो आती है किंतु अभिव्यक्ति के परे रह जाती है। लेकिन तभी साधक को अपने लक्ष्यरूप भावना का थोड़ा आभास मिलता है। अतः वह अनेकानेक प्रकार से उसे व्यक्त करना चाहता है और वैसा अनुभव फिर से अथवा शाश्वत रूप से प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। काव्य क्षेत्र में ऐसी साधना के भावात्मक पक्ष को ही रहस्यवाद कहते हैं। क्योंकि ऐसी अनुभूति रहस्यमय और वागतीत होती है। एवलिन अंडरहिल का कथन है कि 'रहस्यवाद भगवत् सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला है। रहस्यवादी वह व्यक्ति है जिसने किसी न किसी सीमा तक एकता को प्राप्त कर लिया है अथवा जो उसमें विश्वास करता है और जिसने इस एकता सिद्धि को ही अपना चरमलक्ष्य बना लिया है।"[1]

३.४.५ रहस्यवाद :

डा. श्यामसुंदर दास के शब्दों में अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति जिसमें भाव प्रकट किये जाते हैं, वही कविता रहस्यवाद की कही जासकती है। दूसरे शब्दों में व्यक्त जगत में परोक्ष की अनुभूति की अभिव्यंजना रहस्यवाद है। कला के क्षेत्र में यह एक विशिष्ट शैली है जिसमें उस विविध चराचर के मूल में विद्यमान कारण-भूत रहस्यमयी चेतन सत्ता पर मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण करके उसके प्रति अनुराग जनित आत्मसमर्पण की भावना का अभिव्यंजन किया जाता है।[2] रहस्यवाद साधक के हृदय की दिव्य अनुभूति है। उसके भावावेश में साधक अपने ससीम पार्थिव अस्तित्व के उस असीम अपार्थिव महा अस्तित्व के

---

1. प्राक्टिकल मिस्टिसिजम् – एवलिन अंडरहिल, पृ ३
(तमिल प्रबंध–पृ ३२५ में उद्धृत)

2. हिन्दी साहित्य और विभिन्नवाद, पृ १५७
(तमिल प्रबंध–पृ ३२५–६ में उद्धृत)

साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगता है।[1] डा. रामकुमार वर्मा कहते हैं कि रहस्यवाद आत्मा की उस अंतर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाश है, जिससे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्चल संबंध जोड़ना चाहती है और वह संबंध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अंतर भी नहीं रह जाता।[2] सारांश है कि रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य वरण और ऐक्यतानुभव संबंधी साहित्यिक अभिव्यक्ति का ही नाम है। दर्शन के क्षेत्र में आत्मा और परमात्मा की एकता का सिद्धांत रूप से प्रतिपादन किया जाता है, किंतु साहित्य क्षेत्र में जो उसकी अभिव्यक्ति होती है, वह अस्पष्ट और रहस्यमय होने से रहस्यवाद कहलाती है। दार्शनिक रहस्यवाद बुद्धिप्रधान होता है तो काव्यगत रहस्यवाद भावप्रधान रहता है। भक्ति का क्षेत्र भावप्रधान है, अतः भक्तों की कृतियों में अकसर रहस्यवादी अभिव्यक्तियां प्राचुर्य में पायी जाती हैं।

३.४.५.१ आलवारों और अन्नमाचार्य में रहस्यात्मक अनुभूतियां :

आलवार भक्तों के ऐसे अनेक पद्य हैं जो रहस्यानुभव परक हैं। नम्मालवार, तिरुमंगैयालवार और आंडल की कृतियों में जीवात्मा और परमात्मा के विरह-मिलन के संकेत रूपी कितने ही रहस्यानुभूति भरे उद्गार मिलते हैं। अन्नमाचार्य की साधना इन्हीं आलवारों की परंपरा में, इन्हीं के दिखाये हुए आदर्श पर गुजरी थी। अतः उनकी रचना में भी ऐसी रहस्यानुभूतिमय उक्तियां पग पग पर मिलती हैं। आलवारों ने जीवात्मा को नायिका के रूप में मानकर उसके माध्यम से नायक परमात्मा के सौंदर्य, नायिका की नायक से मिलने की तीव्र उत्कंठा, विरह की वेदना और प्रिय-मिलन जनित आनंद प्राप्ति आदि का वर्णन किया है। नम्मालवार को उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि मानते हैं। आंडाल की रहस्यवादी उक्तियां सहज स्वाभाविक ढंग पर व्यक्त हुई मिलती हैं, क्योंकि खुद स्त्री होने से स्त्रीत्व का कृत्रिम आरोपण नहीं हुआ। अन्नमाचार्य नम्मालवार की तरह स्त्रीभाव को लिए अपनी साधना में अग्रसर हुए। वे अपनी आत्मा को नायिका (अलमेलमंगा) के रूप में नायक (श्रीवेंकटेश्वर) को समर्पण कर चुके। फिर उनके दिव्य श्रृंगार के माध्यम से परमात्मा और जीवात्मा के वियोग दुख और संयोग सुख की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते चले।

---

1. छायावाद और रहस्यवाद – गंगाप्रसाद पांडेय,
(तमिल प्रबंध–पृ ३२६ में उद्धृत)

2. कबीर का रहस्यवाद – डा. रामकुमार वर्मा, पृ ६

३.४.५.२ आश्चर्यमय जिज्ञासा :

नायिका के रूप में अन्नमाचार्य कभी अपने नायक वेंकटेश्वर के सर्वातिशायि महत्व के प्रति आश्चर्य विमूढ-से होकर उनसे पूछने लगते हैं कि 'ये सुर, मुनि, चराचर ये सब कौन हैं ? जब सभी नाम तुम्हारे हैं तो इतने नामों के ये सब कौन हैं ? तुम जहां के तहां रहते हो तो सभी जगह फिरने वाले ये सब कौन हैं? तुम्हारे एक ही रूप है तो इतने रूपों के ये सब कौन हैं ? सभी आत्माओं में तुम रहते हो तो ये लोग फिर कहां रहते हैं ? तुम इस वेंकटाचल पर बसे हो और सब जगह भरे रहते हो तो अपने को देव कहलानेवाले ये सब कौन हैं ?"[1]

३.४.५.३ अनुभूतिमय विचिकित्सा :

उस परमात्मा की लीलाओं का पार पहुंचने में अशक्त होकर यह भक्त कभी यह विचिकित्सा करने लगते हैं कि हे स्वामिन, मैं तुम्हारी स्तुति कैसे कर सकता ? तुम्हारी लीलाएं अगोचर हैं । तुम क्षीरसागरशायी को दूध, दही माखन की क्या कमी है ? सदा श्री रमणी के आलिंगन में रहनेवाले तुम को गोपियों का संबंध क्यों ? परमपद में ब्रह्म रूप में रहनेवाले तुमको नंद, गोकुल का वास कैसे रुचा ? सभी देवताओं के समुद्धारक तुमको गायों को चराने की क्यों सूझी ? मुक्त जीवों से घेरे रहनेवाले तुमको गोपबालकों के संग में क्यों प्रीति हुई ? शायद, हे वेंकटेश्वर, तुमको ऐसी ही लीलाएं अकसर प्रिय लगती हों !"[2]

---

1. अ. सं. २–९२

ई सुरली मुनुली चराचरमुलु ईसकलबंतयु निदि येव्वरु ।
एन्निक नाममुलिट्टु नीवै युंडगानु भिन्न नाममुल वारिदि येव्वरु ।
उन्नचोट नीवुंडुचुंड मरि यिन्निट दिरुगु वारिदि येव्वरु ।
ओक्क रूपै नीवुंडु चुंडगा मरि तक्किन यी रूपमुलु तामेव्वरु ।।

2. अ. सं. २–३६१

येंतटि वाडवु येमनि निन्नु नुतिंतुनु, वितलु नी कमरकुंडगा विचारिंचे नेनु ।
पाल समुद्रमुलोन बवलिंचि वुंडे नीकु, बालुड वैतेने वेन्न ब्रातायेना ।
काल मेल्लनु श्रीकांत कौगिट नूंडे नीकु, गोल्लवैते गोल्लेतलंगूडि वेडुकायेना।
परम पदमु नंदु ब्रह्म मैवुंडे नीकु, पेरिगे रेपल्लेवाड प्रिय मायेना ।
सुरुल नेल्ल गाव सुलभुड वैन नीकु, गरिमे तोड बसुल गाव वेडुकायेना ।
ये प्रोद्दु मुक्तुल नेनसि वुंडे नीकु, गोपालुर तो कूडुंड गोरिकायेना ।
बापुरे यलमेलमंगपति श्रीवेंकटेश्वर, येप्रोद्दु निट्टि लीलले हितवायेना ।।

३.४.५.४ कांताभाव :

नायक वेंकटेश्वर के महत्व से अभिभूत होकर भक्त कवि की जीवात्मा रूपी नायिका अलमेलमंगा कहती है कि "हे प्रिय, मैं तुमसे प्यार तो कर सकती हूं, लेकिन तुमसे मान नहीं कर सकती। तुम चाहे जिस किसी भी तरह रहो, तुम्हारी प्रशंसा किये बिना मुझ से रहा नहीं जाता। तुम नहीं आओ, मैं खुद आकर तुम्हें बुला सकती हूं, लेकिन अभिमान किये तुमको अपने वशवर्ती नहीं कर सकती। तुम दर्शन नहीं देते तो मैं व्याकुल होती हूं, लेकिन तुमसे क्रोध नहीं कर सकती।"[1]

३.४.५.५ विरहानुभूति :

नायक के विरह में तड़पती हुई नायिका सखियों से कहती है कि "मैं क्या करूं सखियो, उनसे मेरा ऐसा प्यार हो गया कि उससे मुझे ऐसी वेदना उठानी ही पड़ती है। उनको देखते ही मुझे ऐसा संभ्रम हो जाता है कि जो कुछ भला-बुरा कहना चाहती वह मेरे मुंह से निकलता ही नहीं। आखिर क्रोध से उनकी ओर देख भी नहीं पाती, क्योंकि पहले ही ये आंखें पानी से भर जाती हैं। पैरों गिरकर भक्ति करने को भी वह परवशता मुझे जड-सी बना डालती है। फिर उनको भूलना चाहती हूं तो वह भी कठिन है, क्योंकि यह दिल उनको भूले न भूलता है। प्रिय वेंकटेश्वर तो इतने महान हैं कि उनके सामने मैं अपनी सारी गरिमा भूल जाती हूं।"[2]

---

1. अ. सं. ३–५०१

वलव नेरुतुगानि वादिंच नेररा, मेलगि नीवेट्टुंडिना मेच्चकुंडलेनूरा।
बिगिसि नीवूराकुन्ना पिलुवनेरुतुगानि, तेगि नीतोनलिगि साधिंच नेररा।
ओगि निन्नुगानकुन्नानुसुर नेर्तुनुगानि, वेगटै येंदूंटिवनि वेंगेमाड नेररा।।

2. अ. सं. ३–४९९

येमि सेयुदु नम्म यिन्नियुनुनिट्टु गूडे, तामसपु ब्रेम वेदन वायनीदु।
किनिसि ने सोलसि पलिकेद नंटिना यतनि, नेनयु दडबाटु नोरेत्त नीदु।
चेनकि येल पारं जूचेद नंटिना यतनि, कनुंगव लंबु सरिग ननु जूड नीदु।
किंदु पडि कलिसि म्रोक्केद नंटिना यतनि, यंदी परवशमु चेयाड नीदु।
डेंदमु मरचि वुंडेद नंटिना यतनि, जेंदिन तलपु मरचियु मरव नीदु।
तिरुवेंकटेश बोंदिति नंटिना यतनि, दोर तनमु ना गरिम दोच नीदु।
सिरि दोलंकुरतुल नलसिति नंटिना यतनि, सरसंबु वेड्कल जालिंच नीदु।।

विरहिणी नायिका की स्थिति देखकर सखियां आपस में कहती हैं कि सचमुच यही सौभाग्य है, यही रूप है, और यही वैभव है। इस से बढकर क्या चाहिये ? प्रिय के मोह में पड़कर यह दूसरी सारी मोहापेक्षाओं को छोड़कर परमयोगिनी की तरह बैठी है। इसकी सारी कामनाएं प्रशांत हो गयीं और वह खुद विज्ञान-राशि सी दीखती हैं। प्रिय से दिल लगाकर यह जो पारवश्य का आनंद लेती है, वह उसे कृतार्थ बना देता है। वह अपने मन को वश करके निश्चल भाव से प्रिय की चिंता करती है। उसकी आत्मा परतत्व भाव को जान गई तो प्रिय वेंकटेश्वर की कृपा से वियोग में भी उसका दिल शांतसुस्थिर है।"[1]

सखियां नायक के पास जाकर नायिका के विरह दुख का वर्णन करते कहती हैं 'हे स्वामिन, वह बेचारी दिन रात तुम्हारे ही ध्यान में रहकर, तुम्हारा रूप ही मन में सोचती रहकर, आखिर तुम मानकर अब खाली आसमान को गले लगाती है। न जाने किसने उससे कहा कि आकाश-तत्व तुम्हारा ही तत्व है। चौबीसों घंटे तुम्हारी ही प्रशंसा करती है और सभी ओर तुम्हें देखना चाहती है, न जाने किसने उससे कहा कि तुम सर्वतोमुख हो।"[2]

३.४.५.६ विश्वरूप संदर्शन :

अन्नमाचार्य को अपने इष्टदेव के विग्रह में उसका विश्वरूप ही दिखाई देता है। वह रथ पर जुलूस में निकलें तो वे उसे ब्रह्मांड में विहार्यमाण देखते

---

1. अ. सं. ३–१७

यिदिगाक सौभाग्य मिदिगाक तपमु मरि, यिदिगाक वैभवंबिक नोकटि गलदा।
अतिव जन्ममु सफलमै परम योगिवले, नितर मोहापेक्ष लिन्नियुनुविडिचे।
सति कोरिकलु महाशांतमै यिदे चूड, सतत विज्ञान वासन वोले नुंड़े।
तरुणि हृदयमु कृतार्थंत बोंदि विभु मीदि, परवशानंद संपदकु निरवाये
सरसिजानन मनोजयमंदि यितलो सरिलेक मनसु निश्चल भाव माये।
श्रीवेंकटेश्वरुनि जिंतिचि, परतत्व भाववु निजमुगा बट्टें जेलियात्म।
देवोत्तमुनि कृपाधीनुरालै यिपुडु, लावण्यवतिकि नुल्लंबु दिरमाये ।।

2. अ. सं. ४–८४

निनु दलचि ललितांगि नीरूपमात्मलो गनि नीवुगा बयलु कौगिलिंचिनदि।
तनरनाकाशत्त्वमु नीमहत्वमनि वनित यव्वरिचेत विनेनोगानि।
निनु बोगडि नीरूपु कनुदोयि केदुरैन तनिविदीरक बयलुतग जूडदोडगि।
मुनु कोन्न सर्वतोमुखुड वनगा निन्नु वेनुकनेभावमुनु विनेनो गानि ।।

हैं, और अश्ववाहन पर रहे तो कलिकल्मष विध्वंश करने के निमित्त निकले हुए कल्कि भगवान का रूप साक्षात्कार कर लेते हैं। वेंकटेश्वर की मूर्ति के गले में सुवर्णहार के मध्य अलमेलमंगा की प्रतिमा जो डोलायमान-सी लटकती है, उसे देखकर अन्नमाचार्य हर्षाश्रुपुलकित हो उठकर कहते हैं कि 'लो यह अपने पति के गले का हार बनी है। कितना दुर्लभ है ऐसा वाल्लभ्य? सचमुच यह उसके अनितरसुलभ वाल्लभ्य का ही फल है, जो उसके अनन्य सौभाग्य से ही प्राप्त हुआ है। तभी वह पति की छाती पर विराजकर दुनिया का राज कर रही है। सखी, तुम सचमुच धन्य हो।

पति के उर की शोभा बनकर
हारावलि में झूल रही हो।
विभु के नयनों का तारा बन
जगती को जगमगा रही हो ॥[1]

फिर, उस स्वाधीनपतिका को नायक वेंकटेश्वर इतने प्यार से छाती पर ढो लेते हैं, यही बात नहीं वे उस नायिका के पादसंवाहन तक कर देते हैं।

कर कंकण को नूपुर करके, नर्म किये कुछ हंसा रहे हैं
मोती का नव नूपुर सति के पैरों में खुद धरा रहे हैं ॥[2]

३.४.५.७ सूरदास की रहस्यात्मक अनुभूतियां :

सूरदासजी के पदों में कहीं कहीं उनके रहस्यात्मक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। भक्तात्मा की परमात्मा की ओर उड़ान ही रहस्यवाद है। भगवल्लीला वर्णन में निरत भक्त को उन लीलाओं का रहस्य कभी कभी हठात् अपने सामने झलकता-सा लगता है, और उस समय अतीव आनंद से वह उसका वर्णन करके उसमें तन्मयीभाव का अनुभव पाता है। फिर, भगवद् विरह से कातर भक्त की आत्मा एक अलौकिक रहस्य लोक की कल्पना करती है। निर्गुण भक्त संत कवियों की तरह सगुण भक्त कवि अपनी अनुभूति को अमूर्त चित्रों के सहारे व्यक्त करने का प्रयत्न नहीं करता। वह अपने सगुणाश्रय की तरह उसकी अनुभूति को भी मूर्त चित्रों के सहारे ही व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। वह ऐसे मूर्त चित्रों के सहारे उस रूप-गुणातीत-तत्व को देखने की चेष्टा करता है।

---

1. अ. सं. ४–६५ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. १२–२८३ (स्वीयानुवाद)

सूरदासजी सर्वात्मना यह मानकर कि भगवान ओर उनकी लीलाएं अवश्य रहस्य-मयी हैं, स्पष्टरूप से कहते हैं :

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूंगै मीठे फल कौ रस अंतर्गत ही भावै ।
परमस्वाद सब ही सु निरंतर अमित तोष उपजावै ।
मन-वाणी को अगम अगोचर सो जाने सो पावै ।
रूप-रेख-गुन-जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै ॥[1]

सगुण भक्त होने से सूरदास ने भी अन्नमाचार्य की तरह अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की लीलाओं में अनेकानेक रहस्यात्मक दृश्य साक्षात्कार करके अपनी रचना में जगह जगह उनके संकेत दिये हैं ।

यह कमरी कमरी करि जानति ।
जाके कितनी बुद्धि हृदय में, सो तितनौ अनुमानति ।
कमरी के बल असुर संहारे कमरिहिं तें सब भोग ।
जाति-पांति कमरी सब मेरी, सूर सबै यह जोग ॥[2]

यहां कमरी का तात्पर्य कृष्ण की योगमाया से है । राधा-कृष्ण के प्रेम वर्णन में, उनके सौंदर्य, प्रेम, मिलन, विरह जैसे सभी पक्षों में सूर ने कितने ही अलौकिक व रहस्यात्मक चित्रों का वर्णन किया है । संप्रदाय की मान्यता के अनुसार कृष्ण लीलाओं का रंगस्थल संसार में होकर भी उनका सांसारिकता से कोई संबंध नहीं है । पुष्टिमार्गीय विश्वास भी यही है कि व्रज इस संसार से अलग है और गोलोक का प्रतिरूप है ।

सूरदासजी अन्योक्ति पद्धति का आश्रय लेकर कहीं कहीं एक आदर्श लोक की सृष्टि करते हैं ।

चकई री चल चरन-सरोवर जहां न प्रेम वियोग ।
जहां भ्रम निशा होति नहिं कबहुं सोच सायर सुख जोग ।
जहां सनक सिव हंस, मीन मुक्त, नखरवि प्रकाश ।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर गुंजति निगम सुबास ।
जिहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ता फल सुकृत-अमृतरस पीजै ।
सो सर छांडि कुबुद्धि विहंगम हां कहा रहि कीजै ॥[3]

---

1. सूरसागर, पद २
2. सूरसागर, पद २१३३
3. सूरसागर, पद ३३७

३.४.५.८.१ आध्यात्मिक प्रतीक :

गोपी:– सूर की दृष्टि में कृष्ण, गोपी, ग्वाल–ये सब अलौकिक तत्व हैं। उनमें कोई भेद भी नहीं है। गोपियों को श्रुति रूप बताया गया है। वल्लभाचार्य के मत में गोपियां लक्ष्मी का ही बहुरूप हैं। लीला निमित्त ब्रह्म की शक्ति का ही बहुरूप होता है। शक्ति और शक्तिमान में इस तरह कोई अंतर नहीं होता, उसी तरह गोपियां और कृष्ण में भी कोई अंतर नहीं है। वे ब्रह्म से अभिन्न, उनके अंग ही हैं। फिर, गोपियों को जीवात्मा के रूप में और कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानने की परिपाटी भी प्रचलित है। इसके अनुसार गोपियों का कृष्ण से मिलन आत्मा और परमात्मा के मिलन का ही प्रतीक है।

३.४.५.८.२ राधा :

राधा भी कृष्ण परब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति मानी गयी है। वह प्रकृति अथवा माया का प्रतीक है। वह लक्ष्मी का अपर रूप है। भक्ति काव्य में वह अनुग्रह-प्राप्त-भक्त-आत्मा का प्रतीक है, जो आसक्ति की अनेक दशाओं से गुजरती हुई परम विरहासक्तिमय हो जाती है। वह तब विरह की मूर्ति और 'विरह की पीर' रह जाती है। भक्त का लक्ष्य राधा की तरह विरह की आसक्ति की परमोच्च दशा को प्राप्त करना ही है। सूरदास राधा और कृष्ण को एक ही तत्व के प्रकृति-पुरुष रूपी पहलू मानते हैं। अन्नमाचार्य की रचना में राधा अथवा अलमेलमंगा का भी यही तत्व है। सूरदास के शब्दों में यह तत्व यों है।

> ब्रज हि बसे आपुहि बिसरायौ।
> प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु, बातनि भेद करायौ।
> जल थल जहां रहौ तुम बिनु नहिं वेद उपनिषद गायौ।
> द्वैतन जीव एक हम दोऊ सुख कारन उपजायौ।
> ब्रह्म रूप द्वितिया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ।
> सूर स्याम मुख देखि अलप हसि, आनंद कुंज बढ़ायौ॥[1]

३.४.५.७.३ मुरली :

मुरली को भी कृष्ण की अन्यतम शक्ति कहा गया है। वह उनको प्रेरित करती है। वह माया है, जो श्रेय और प्रेय देनेवाली भगवत् शक्ति है। यह विद्या अविद्या रूप की है। अविद्या रूप से वह भगवान से अलग संसार का ज्ञान

---

1. सूरसागर, पद २१०५

देती है और विद्या रूप से ब्रह्मज्ञान ।' अविद्या माया भी भगवान का अनुग्रह होने पर विद्या को उत्पन्न करती है और भक्त को ईश्वर से मिलाने का साधन बनती है । इसे योगमाया भी कहते हैं ।[1] सूर इसके वर्णन में कहते हैं,

> मेरे सांवरे जब मुरली अधर धरी, सुनि सिध समाधि टरी ।
> सुनि थके देव विमान, सुर वधु चित्र समान ।
> ग्रह नखत तजत न रास, वाहन बंधे धुनि पास ।
> चलि थके अचल टरे, सुनि आनंद उमंग भरे ।
> चर अचर गति विपरीति, सुनि वेनु कल्पित गीति ।
> झरना न झरत पखान, गंधर्व मोहे गान ।
> सुनि खग मृग मौन धरे, फल तृन की सुधि बिसरे ।
> सुनि धेनु धुनि थकि रहति तृन दंतहू नहिं गहति ।
> बछरा न पीवै छीर, पंछी न मन में धीर ।।[2]

३.४.५.७.४ रासलीला :

कृष्णलीला का प्रधान अंग रास है । वह भगवान की नित्यलीला है । वह सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव को सूचित करता है । चिदानंदमय ब्रह्म की सृष्टि रचना रूपी यह लीला मात्र लीला केलिए होती है । रासलीला में कृष्ण परब्रह्म हैं और राधा तथा गोपियां उन्हीं से विकसित जीवात्मा के रूपक हैं । लीला केलिए उनका जन्म होता है । लीला के बाद वे उन्हीं में विश्राम लेती हैं । यह रास सारी सृष्टि में व्याप्त है और दिक्काल आदि से अनवच्छिन्न है । जीवों का उद्‌गम ब्रह्म से होता है । फिर उनका लय भी ब्रह्म में होता है । साधारण मनुष्य इस भेद को समझ नहीं पाता । अतः भगवान गोपियों की उत्पत्ति करके रूपक के रूप में अपनी लीला भक्त के सामने रखते हैं । जो इस लीला के वास्तविक रूप को समझ लेता है वह उसमें रमता है और भगवान से अभिन्न रहता है । लीला द्वारा वह भगवान को प्राप्त करता है ।[3]

रासलीला का तत्व अलौकिक है । उसका सुख अनिर्वचनीय है । जो उसमें सम्मिलित होकर उसका अनुभव करता है, वही उसे समझ पाता है । भगवान के

---

1. आलवार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण काव्य, पृ ३३५–३६
2. सूरसागर, पद १२४१
3. आलवार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण काव्य, पृ ३३६

मिलन का सुख इंद्रियातीत है। इसका अनुभव भगवत् कृपा के बिना नहीं मिलता। इसलिए भक्त रास की रंगस्थली वृंदावन, यमुना-तट, सघन-तमाल-कुंज और उन गोप-गोपिकाओं को धन्य कहते हैं। जो इस रास में भाग लेते हैं और जिनको भगवान का अनुग्रह प्राप्त हुआ है, उनका लक्ष्य यही रहता है कि वे उन गोपियों से तादात्म्य पाकर रास में भाग लें। अतः कृष्णभक्त कवि रास में मानसिक रूप से भाग लेकर भगवत् प्राप्ति का आनंद लेता है। भगवान की लीला की तन्मयता और उसकी अलौकिकता को प्रकट करते सूरदास जी कहते हैं,

> नित्यधाम वृंदावन श्याम, नित्य रूप राधा व्रजभामा।
> नित्य रास जल नित्य विहार, नित्य मान खंडिताभिसार।
> ब्रह्म रूप ये ही करतार, करन हरन त्रिभुवन ये ही सार।
> नित्य कुंज सुख नित्य हिंडोर, नित्य हि त्रिविध समीर झकोर।
> सदा वसंत रहत जहं वास, सदा हर्ष जहं नहि उदास ॥[1]

सूरदास का वृंदावन पार्थिव होकर भी अपार्थिव तत्वों का प्रतीक है। अलौकिक लीला का रंगस्थल लौकिक नहीं हो सकता। इसी वृंदावन में कृष्ण की लीला सदा केलिए चलती रहती है। कृष्णभक्तों को रास में ईश्वर-स्वीकृति का ही रूप मिलता है। तभी सूर कहते हैं,

> रास रस रीति नहि बरनि आवै।
> कहां वैसी बुद्धि कहां वह मन लहौं यह चित्त जिय भ्रम भुलावौं।
> जो कहौं, कौन मानै, जो निगम आगम कृपा बिनु नहिं बसावै।
> भाव सो भजै, बिनु भाव में ये नहीं भाव ही माहिं ध्यानहि बसावै।
> यहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है, दरस दंपति भजन सार गाऊं।
> यह मांगौ बार बार प्रभु सूर के नैन दोउ रहै नरदेह पाऊं ॥[2]

३.४.६ निष्कर्ष :

अन्नमाचार्य की रचना में भी इन दार्शनिक प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। उनकी कविता में भी मुरली, गोपी-केली, राधा-कृष्ण लीला जैसों का तन्मयता-पूर्ण वर्णन मिलता है। वास्तविक बात यह है कि ऐसी दार्शनिक मान्यताओं को इन भक्त कवियों ने अपने भाव-जगत में साकार रूप से साक्षात् कृत कर लिया है। तभी अन्नमाचार्य उच्चैःस्वर में गाते हैं, "राधा माधव रति चरित मिदं, बोधावहं श्रुतिभूषणम्।"[3]

---

1. सूरसागर, पद ३४११ 2. सूरसागर, पद १६२४ 3. अ. सं. ३–६६४

४.१. | काव्य वैभव : भावपक्ष

४.१.१ काव्य का स्वभाव व स्वरूप :

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों भक्तकवि थे। भक्ति भावना से प्रेरित होकर ही इन्होंने पद-रचना में शुरू से रुचि दिखायी और जीवन के अंतिम क्षणों तक पद-रचना करते रहे। पद-रचना उनकी भक्ति साधना का प्रधान अंग है। फिर, ये दोनों कवि इष्टदेव के मंदिर में कीर्तनिया रहकर संकीर्तन सेवा में ही अपने जन्म को चरितार्थ कर गये। कहा भी है कि कलि में संकीर्तन ही सबसे सुलभ मोक्षोपाय है।[1] ये दोनों गायक थे, अतः पद-रचना और कीर्तन-गान में ही इनकी साधना साकार हुई। अन्नमाचार्य के पदोंवाले ताम्रपत्रों में उनके पदों को 'संकीर्तन' नाम से ही अभिहित किया गया है। 'सूर सगुन लीला पद गावै' कहकर सूरदास ने भी अपनी रचना को 'पद' संज्ञा से ही अभिहित किया है। पद, कीर्तन, संकीर्तन आदि सभी शब्द पर्यायवाची हैं। सारांश है कि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों ने अपने इष्टदेव के यशोवर्णन में सहस्रों की तादाद में जो संकीर्तन रचे हैं उन्हीं के बृहत संग्रह आज हमें उनकी रचना के रूप में मिलते हैं। यों कहे तो ये गेय मुक्तक कोटि के लघु संकीर्तनों के बृहत संग्रह काव्य हैं। अंतर यही है कि सूर की रचना भागवत पुराण के आधार पर निर्मित हुई है, अतः उसमें कथा सूत्र का थोड़ा-सा आभास अवश्य मिलता है। अन्नमाचार्य की रचना का न कोई आधार दीखता है, न वैसा कोई कथासूत्र का आभास। लेकिन सूर के गीतों की तरह अन्नमाचार्य के गीत भी कई जगह प्रसंग सापेक्ष बने हैं। वैसे तो हर कोई मुक्तक काव्य प्रसंग सापेक्ष होता है। पौराणिक कथा और कृष्णलीलाओं का एक-निष्ठ आधार मानने से सूर की रचना में प्रकरणोचित प्रसंग कल्पना

---

1. कलिं सभाजयंत्यार्या गुणानां सार भागिनिः
   यत्र संकीर्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते ।। महाभागवत, ११–५–३५

आसानी से हो सकती है, किंतु अन्नमाचार्य की रचना में वह भी सुगम नहीं है। क्योंकि उनकी सारी रचना तिरुपति में व्यक्त भगवान श्रीवेंकटेश्वर के लीला-वर्णन में ही एकनिष्ठ होकर गुजरी है। सभी विष्णुलीलाएं व अवतार लीलाएं श्रीवेंकटेश्वर के नाम पर ही वर्णित हुई हैं। साथ साथ अध्यात्म शृंगार की कितनी ही लीलाओं की सुविशाल कल्पना से यह रचना सुपुष्ट है। फिर, अन्नमाचार्य की सारी रचना आत्माश्रय ढंग पर हुई है, जब कि सूर की रचना, विनय के पदों को छोड़कर, बाकी जगह बहुधा वस्त्वाश्रय होकर ही गुजरी है।

४.१.२ मुख्य मुख्य विभाग और पद-परिमाण :

अन्नमाचार्य की रचना अध्यात्म संकीर्तन और शृंगार संकीर्तन नामक दो विभागों में बंट कर मिलती हैं। सूरदास की रचना भी विनय के पद और विनयेतर लीला पद नामक दो भागों में विभक्त की जा सकती है। अब उसके विनय और स्कंधात्मक पदोंवाला विभजन मिलता है। किंतु स्कंधात्मक पदोंवाले भाग में भी विनय पद सरीखे पद बहुतायत पाये जाते हैं, जो प्रकरणोचित रीति से वहां संग्रहीत किये गये हैं। अन्यथा, विषय की दृष्टि से सूर की रचना के भी विनय पद और लीलापद नामक दो ही भेद होते हैं। वर्ण्य विषय और शैली की दृष्टि से अन्नमाचार्य के अध्यात्म संकीर्तन और सूर के विनय पद दोनों समान हैं। हां, संख्या में अन्नमाचार्य के पद अधिक हैं। उनके अब तब प्राप्त अध्यात्म संकीर्तन दो हजार से ज्यादा हैं, जब कि सूरदास के विनयपद कुल मिलाकर भी तीन सौ से अधिक नहीं होते। अन्नमाचार्य के शृंगार संकीर्तन श्रीवेंकटेश्वर (भगवान विष्णु) की विभिन्न अवतार लीलाओं और आत्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक शृंगार लीलाओं के वर्णन में अपने एक विशाल विश्व का ही निर्माण करते हैं। सूरदास के लीलापद कृष्ण के बाल एवं किशोर लीलाओं तथा अन्य अवतार-लीलाओं के वर्णन में अपने एक अलग रस प्रपंच की सृष्टि करते हैं। अन्नमाचार्य के अब तक प्राप्त शृंगार संकीर्तन करीब तेरह हजार हैं। सूर के पद भी, सभी प्राप्त पदों को एकत्र किया जाय, तो करीब ६–७ हज़ार होंगे। पद चाहे अध्यात्म का हो या शृंगार का अथवा विनय का या लीला वर्णन का, अन्नमाचार्य और सूर का मुख्य वर्ण्य-विषय भक्ति भाव ही होता है। भक्ति अथवा भगवद् रति भाव ही इनकी रचना में कहीं शांत, कहीं वात्सल्य व कहीं शृंगार के रूप में व्यक्त होकर तत्तदुचित स्थाई संचारी भावों व विभावानुभावों को जुटाकर रस रूप में परिणत हुए मिलता है। तभी अन्नमाचार्य के पदों की प्रशंसा करते उनके पौत्र चिनतिरुमालाचार्य ने कहा है कि "ये पद स्वतः श्रुतियां हैं, शास्त्र और पुराण कथाएं हैं। इनमें सुज्ञानसार निहित हैं, आगम की बिधियां प्रकट हैं और

सभी मंत्रो का अर्थ संग्रहीत हैं। ये नुति, नीति और सत्कृति के रूप हैं। फिर ये पव श्रीवेंकटेश्वर की शृंगार लीलाओं के रहस्य से सुविलसित हैं।"[1] सूरदास की कविता के बारे में भी नाभादास का यह कथन प्रसिद्ध है कि

"उक्ति, चीज, अनुप्रास वरन, अस्थिति अतिधारी।
वचन, प्रीति निर्वाह अर्थ, अद्भुत तुकधारी।
प्रतिबिंबित दिवि दृष्टि हृदय में लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥"[2]

४.१.३ अध्यात्म और विनय पदों का लक्षण :

अन्नमाचार्य-कृत संस्कृत 'संकीर्तनलक्षण' के तेलुगु अनुवाद में उनके पौत्र चिन तिरुमलाचार्य जी अध्यात्म संकीर्तनों के लक्षण यों बताते हैं। जो संकीर्तन (१) वैराग्य को बढ़ानेवाले गंभीर वाक्यों व अर्थों से भरे रहते हैं, और जो (२) विष्णु के रम्य लीला वृत्तों के वर्णन से उदार होते हैं, जिनमें (३) देह, आत्मा और ईश्वर के विवेक में उत्साह और (४) लोक वेद, धर्म और अधर्म के बारे में ऊहापोह प्रकट होते हैं, उन हरि संकीर्तनों को अध्यात्म संकीर्तन कहा जाता है।"[3] ये लक्षण अन्नमाचार्य के अध्यात्म संकीर्तनों पर जिस तरह लागू होते हैं उसी तरह सूरदास के विनयपदों पर भी लागू होते हैं। दोनों के काव्य इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। अलावा इसके उनके काव्य सचाई, तन्मयता और तीव्र अनुभूति

---

1. संकीर्तन लक्षणमु १२

श्रुतुलै, शास्त्रमुलै, पुराण कथलै सुज्ञानसारंबुलै
यति लोकागम वीथुलै विविध मंत्रार्थंबुलै नीतुलै।
कृतुलै वेंकटशैल वल्लभ रति क्रीडा रहस्यंबुलै
नुतुलै तालुलपाक अन्नय वचो नूत्मक्रियलु चेन्नगुन्॥

2. श्रीभक्तमाल, सटीक, पृ ५३९–४०

3. संकीर्तन लक्षणमु ६०–६१

वैराग्य वृद्धिकर गंभीर पद श्रेणि पोसग बेनुपुचु नन्रा-
म्यारम्य विष्णु चरितोदारमुलै यून्न जालु धरणिन् वेलयुन्।
देहात्मेश विवेकोत्साहंबुनु लोकवेद धर्माधर्मा-
द्यूहापोहंबुलुगल या हरि संकीर्तनंबुलध्यात्मंबुल्॥

से ओत-प्रोत होकर सुनते ही श्रोता के दिल में एक गूंज-सी प्रतिध्वनित हो उठते हैं। ऐसा लगता है कि जिस मूल भाव से प्रेरित होकर इन दोनों महाकवियों ने पद-रचना की थी वह मानों उनकी सारी चेतना में परिव्याप्त होकर हृदय के गहनतम स्तरों में प्रस्फुटित व प्रताडित होकर, वाणी के द्वारा बाहर फूट पड़ा हो।

४.१.३.१ अध्यात्म कविता की भावभूमि :

अन्नमाचार्य की अध्यात्म कविता अतीव विस्तार और अत्यंत वैविध्य पूर्ण है। वे दो पत्नियों के साथ गृहस्थाश्रम में रहकर भी वैराग्य साधना में सतत उद्योग करते गये। फलतः उनके अनुभव विविध और विस्तृत हुए। अतएव उनकी कविता में विस्तार और वैविध्य सहजः आ गये। प्रवृत्तिमार्ग में चलते हुए निवृत्ति मार्ग की साधना को अपनानेवाले साधक को एक ओर से चिंता, त्रास, दैन्य, संताप, ग्लानि, नैराश्य जैसे भावों का जो अनुभव होता है वह सब अन्नमाचार्य की अध्यात्म कविता में अत्यंत विशद रूप से वर्णित हुआ मिलता है। निवृत्ति साधना की पहली सीढी है संसार के प्रति विमुखता और जीवन के बीते अनुभवों के कारण निर्वेद। अन्नमाचार्य जगत और जीवन के प्रति वितृष्णा और विचिकित्सा पूर्ण दृष्टिकोण को अपनाकर पहले पूछते हैं कि इस संसार में आखिर क्या है? चाहे कितना ही भोगो, यहां के पामर सुख खुद आफत जैसे हैं।[1] और फिर इसका व्यंग्य करते वे कहते हैं कि 'यह संसार कितना अच्छा है! तभी ऐसा नितांत दुख रूपी गहना पहनाया है। इंद्रिय रूपी पांच पातकियों की मदद देकर हमें अल्प सुखों की ओर प्रवृत्त किया तो फल यही हुआ कि काम बढ़ गया और दुरित धन का ढेर लग गया। यौवन रूपी महापापी का साथ देकर मिथ्या सुखों में भुलावा दिया तो परिणाम यही हुआ कि मोह रूपी कुपुत्र पैदा हुआ और नरकपुर का उपार्जन हुआ। अच्छा है न यह संसार!"[2] कभी लोगों की अज्ञता से चिंतित होकर वे कहते हैं :

---

1. अ. सं. २–११२

एमिगल दिद्दु एंतकालंबैन पामरपु भोग मापद वंटि दरय ।।

2. अ. सं. ४–२११

इदिवो संसारमेंत सुखमोकानि, तुदिलेनि दुखमनु तोडवु गडियिंचे ।
पंचेंद्रियमुलनु पातकुलनु देच्चि, कोंचेपु सुखंबुनकु गूर्पगानु,
मिंचि कामंबनेडि मेटि तनयंदु जनियिंचि दुरित धनमेल्ल गडियिंचे ।।
प्रायमनेडि महापातकुडु दनुदेच्चि, मायंपु सुखमुनकु मरुपगानु,
सोयगपु मोहमनु सुतुडेचि गुणमेल्ल, वोयि यी नरकमनु पुरमु गडियिंचे।।

"रोज का अनुभव है। हम उदय को देखते हैं और अस्त को भी देखते हैं, दोनों को एक ही दिन में देखते हैं। लेकिन देखकर भी हम अनदेखे-से रह जाते हैं और अपने जीवन को शाश्वत मानकर आगे बढ़ते हैं।[1] पहले जो गुजर गये उनके बारे में सुनते हैं, अब जो दुखी हैं उनके दुख देखते हैं। यह नित्य का अनुभव है, लेकिन हम अपने को शाश्वत व सुखी मानते हैं और मन में अविचल होकर आगे बढ़ते हैं।[2] क्या हम इस शरीर से इसी तरह सदा केलिए रह जाएंगे? उतना अविकल सुकृत पुण्य हम ने कब किया?"[3]

संसार और सद्गति में से किसको चुनें? किसको छोड़ें? कौन हमारा हित है? किससे हमारा अहित है? अन्नमाचार्य इस प्रश्न को लेकर इसका निश्चय पूर्वक समाधान पाने में जो कठिनाई होती है उसका कितने ही प्रकार से व्यक्त करते हैं। प्रयत्न वैफल्य से खीझ उठकर कभी वे कहते हैं,

"यही भला है, वही भला है
    कहकर आशा बारंबार।
यहां-वहां ले व्यर्थ घुमाती
    उमर गुजरती फिर बेकार।
लो यह सुख है, ना यह सुख है
    करके घूमा इधर-उधर।
सुख नहिं पाया, समय गंवाया
    व्यर्थ जतन में बढ़ी उमर॥"[4]

---

1. अ. सं. ८–१८५ उदयास्तमयमु लोक दिनमुनने
येदुटने उन्नवि येंचिननु।
इदिवो ज़ीवुलु एंचुक तम तम
ब्रतुकुल सतमनि भ्रमसेदरु॥

2. अ. सं. ११–९९ विनुचुन्नारमु वेनुकटिपाट्लु,
कनुचुन्नारमु कलिगेटि वारल।
दिनदिन भावमु वेलिसी तेलियदुँ,
मनसुन भय मिसुमंतयु लेदु॥

3. अ. सं. ११–६ ओडलितो निट्टुले उंडेमा गाक
चेडनि पुण्यमु लेल्ल जेसेमा॥

4. अ. सं. ५–४८ (स्वीयानुवाद)

कभी अपनी मूर्खता पर चिंतित होकर ग्लानि और पश्चात्ताप का अनुभव करते वे कहते हैं,

"किं करिष्यामि किंकरोमि
वहुल शंका समाधान जाड्यं वहामि ।
नारायणं जगन्नाथं त्रैलोक्य
पारायणं भक्त पावनं ।
दूरी करोम्यहं दुरति दूरेण सं
सार सागर मग्न चंचलत्वेन ।
तिरु वेंकटाचलाधीश्वरं करिराज
वरदं शरणागत वत्सलं ।
परम पुरुषं कृपाभरणं न भजामि
मरण भव देहाभिमानं वहामि ।।[1]

संसार का मोह माया का प्रभाव है। माया के स्वरूप, स्वभाव व प्रभाव के वर्णन में अन्नमाचार्य के एक से एक अनूठे कितने ही पद मिलते हैं । एक पद में वे माया को धान कूटनेवाली औरत के रूप में चित्रित करके कहते हैं कि "परमात्मा का यशोगान करती हुई यह माया जीव रूपी धान को ब्रह्मांड रूपी ऊखल में भरकर, दुर्मोह रूपी मूसल लिए दोनों तरफ से समेट समेट कर कूटती है। धान कूटने के वक्त उसका उत्साहमयी रूप देखता ही बनता है । दिवा-रात्रों की पलकें मारती, विलासी आखों को नचाती, हाथ झाड़ती, पसारती, जीवों को मार मार कर वह कूट रही है ।"[2]

अन्नमाचार्य कहते हैं कि "मायापति इंदिरानाथ की माया ही स्त्री है । अतः उससे सावधान रहें । कामिनियों के कटाक्ष मर्मों में लगते हैं तो शरीर पुलकित-सा उठता है, किंतु वास्तव में वे पुलकें नहीं, कटाक्ष (बाण) पात से होनेवाले शताधिक शरीर-छिद्र ही हैं । संसार में स्त्रियों का साहचर्य सांप का

---

1. अ. सं. ५–१६८

2. अ. सं. ५–७२
परमात्मुनि नोर बाड्चुनु निरुदरुलुनु गूड दोसि दंची माया ।
कोलदि ब्रह्मांडपु गुंदन लोन कुलिकि जीवुलनु कोलुचु निंची
कलिकि दुर्मोहपु रोकलिवेसि तलचि तनुवुलनु दंची माया ।
तोंगलि रेप्पलु रात्रुलु बगलुनु संगडि कनुगव सरि दिप्पुचुनु
चेंगलिचि वेस जेतुलु विसरुचु दंगुड वियुयमुगा दंची माया ।।

साहचर्य जैसा है । उनका प्रेम प्रेम नहीं, किंतु एक विचित्र विष है ।"[1] कभी अपने इष्टदेव से माया की शिकायत करते अन्नमाचार्य कहते हैं कि "हे भगवान, यह सब तुम्हारी माया है । माया से ही प्रेरित होकर मैं स्त्रियों के मोह में पड़ता हूं और संसार में लग जाता हूं । ये चपल आंखें स्त्रियों के वश हो जाती हैं और यह चंचल मन उनके हाथ बिक जाता है ।"[2]

अन्नमाचार्य कर्म बंधन का विवरण देते कहते हैं कि "प्राणी को दोनों जून भूख की बाधा होती है और भूख बुझे तो शरीर को मन्मथ बाधा होती है । मन्मथ से ममता और अभिलाषा उठती हैं। तो उनसे क्रमशः मानसिक शांति और दैवगति में बाधा पहुंचती हैं । ये सब उसी कर्म बंध की कड़ियां हैं । इनसे न कोई छुटकारा पा सकता है ।"[3] आखिर भगवान को भी पूर्वकर्म का फल भोगना पड़ता है । अन्नमाचार्य भगवान से ही कहते हैं कि जो हम सब को भवसागर में तुमने डुबो दिया उसी कर्म के फलस्वरूप तुम को भी सदा के लिए समुंदर में ही घर बसाकर रहना पड़ा ।[4]

कर्मगति से दुखी होकर अन्नमाचार्य उस कर्म से ही ऐसी दीन विनती करते हैं कि 'हे भगवान मेरे पुराकृत कर्म, ज़रा यह विनती भी सुनो, मैं तुम्हारी शरण में आया, क्षमा करो, अभय दो । अब और कब तक मुझे सताओगे ? और कौन-सी बाधा बाकी रह गयी ? खैर, पापों की ओर से पहले तुमने मेरी रक्षा नहीं की ! अब क्यों मुझे यों मनःपरिताप का दुख दे रहे हो ? तुम जितेंद्रियों के वश में रहते हो, ठीक है, लेकिन मेरे जैसे मतिविहीन जो हैं, उनकी क्या गति है ? यह भी जरा सोच लो, हमें भी थोड़ा मार्ग दिखा दो ।"[5]

---

1. अ. सं. ५–३१९ इंदिरापति मायलु यितलु सुंडी
   मंदलिंचि हरि गोल्चि मनुदुरु गाक ।।
2. अ. सं. ५–२२६ एमिसेतु दैवमा इतयु नीमाय,
   कामिनुल जूचि जूचि कामिचे भवमु ।।
3. अ. सं. ५–१४२ कटकटा यिटु जेसे कर्म बाध
   येटुवंटि वारिकिनि नेडय दी बाध ।।
4. अ. सं. ५–१८९ सामान्यमा पूर्व संग्रहंबगु फलमु
   नेममुन बेनगोनिये नेडु नीवनक ।।
5. अ. सं. ५–१८७

   एन्नि बाधलु बेट्टि येचेदबु नीविक, नेंत कालमु दाक गर्ममा ।
   मन्निचु मनुचु नीमरुगु जोच्चितिमि, मा माटला लकिचवो गर्ममा ।
   पनि लेनि दुरितमुल पालु सेयक नन्नु, बालिच वैतिवो गर्ममा ।
   ...मार्गबु जूपवो गर्ममा ।।

अंत में 'जडमतिरहं कर्म जंतुरेकोहं, जडधि निलयाय नमो सारसाक्षाय'[1] कहकर अन्नमाचार्य अपने इष्टदेव की शरण में जाकर उन्हीं से यह प्रार्थना करते हैं —

"मर्द मर्द मम बंधानि, दुर्दान्त महादुरितानि ।
चक्रायुध रवि शत तेजोच्चित, सक्रोध सहस्र प्रमुख,
विक्रम क्रमा विस्फुलिंग कण, नक्र हरण हरि नव्य करांक ।
कलित सुदर्शन कठिन विदारण, कुलिश कोटि भव घोषण,
प्रलयानल संभ्रम विभ्रम कर, दलित दैत्यगल रक्त विकीरण ।
हितकर श्रीवेंकटेश प्रयुक्त, सतत पराक्रम जयंकर,
चतुरोऽहं ते शरणं गतोस्मि, इतरान् विभज्य इह मां रक्ष ।।"[2]

भगवान की शरण में जाने पर भी माया अपना प्रभाव डालना नहीं छोड़ती । वह फिर भक्त को संसार की ओर खींचती है और हजारों नाच नचाए कर उसे तंग करती है । अन्नमाचार्य ऐसी विषम परिस्थिति से क्षुब्ध होकर अपने भगवान से ही इसमें से भी उद्धार की प्रार्थना करते हैं । वे कहते हैं कि "हे स्वामिन, मेरे कर्म मायामय संसार की ओर अग्रसर होते हैं न कि तुम्हारी ओर । मन मन्मथ सुख को ही चाहता है न कि तुम मन्मथ-जनक को । जीवन को कांचन पर ज्यादा भरोसा है, न कि तुम्हारी भक्ति पर । मूर्ख जीव यहां-वहां के ओहदे चाहता है, न कि मुक्ति । मैं पाप-पुण्यों के वश हो गया, भगवान्, तुम्हारा आश्रय नहीं पाया । अब क्या करूं ? मैं तुम्हारा हूं, हे वेंकटेश्वर, मुझे इस माया से मुक्त करो । इसकी भी एक दवा दो ।"[3]

---

1. अ. सं. ५–३०६
2. अ. सं. ६–८१
3. अ. सं. १०–२०४

एमिसेतु निंदुकु मंदेमैन बोय्य रादा, सामज गुरुड नीतो संग मोल्लदेटिको ।
मायल संसारमु मरिगिनी कर्ममु, यीयेड निनु मरुग देटिको हरि ।
कायजु केलि पै दमिगलिगिन मनसु, कायजु तंड्रि नीपै गलुग दिदेटिको ।
नाटकपु कनकमु नम्मिनट्टि बदुकु, येटिकि नी भक्ति नम्मदेले हरि ।
गूट बडे पदवुलु गोरेटि जीवुडु, कूटुवैन निज मुक्ति गोरडिदि येटिको ।
पाप-पुण्यमुल पाल बड्ड नेनु एपुन, नीपाल जिक्क नेटिको हरि ।
श्रीपतिवि नालोनि श्रीवेंकटेशुड, नीपेरिवाड नाकु निंदु मायलेटिको ।।

अपने अतीत व वर्तमान चरित से भक्त अन्नमाचार्य अतीव ग्लानि व पश्चात्ताप का ही नहीं, भगवान से शरण की याचना करने में भी लज्जा का अनुभव करते हैं। वे कहते हैं कि "मैं किस मुंह से उद्धार की याचना कर सकता हूं ! देव, मैं ने एक निमिष भी तुम्हारा स्मरण नहीं किया। सारी उमर संसार में ही व्यतीत करता रहा, लेकिन न कभी तुम्हारी सेवा में हाथ लगाया। सारी जीवनी कामिनियों की सेवा में ही खर्च हुई, किंतु तुम्हारे एक भी काम न आयी। चित्त में आशाओं को पाला-पोसा, मगर तुम्हारे ध्यान के लिए जगह नहीं दी। जीभ को कितने ही प्रकार के स्वाद दिलाये, लेकिन तुम्हारे कीर्तन का स्वाद न कभी दिया। जन्म पाकर अज्ञान के पास ही रह गया, किंतु विज्ञान के पास जाने को नहीं चाहा। अब यही डर है कि तुम मेरी रक्षा करोगे या नहीं। खैर, क्षमा की याचना भी मैं ने कभी नहीं की।"[1]

भगवान पतित पावन हैं। अशरण-शरण हैं और आपदुद्धारक हैं। पुराणों में इसके कई साक्ष्य हैं। अजामिल जैसे पापी, काकासुर जैसे घातुक, शिशुपाल जैसे निंदक, घंटाकर्ण जैसे हठी और कितने ही दुराचारी लोग चाहे-अनचाहे भी मोक्ष पा गये।[1] अब भगवान की करुणा में संशय क्यों? उनकी कृपा पात्र-अपात्र की चिंता नहीं करती। वह समदर्शी है। सब का हितचिंतक हैं।[3] अन्नमाचार्य कहते हैं कि "हम ने कौन पुरुषार्थ किया। हरि ने हमें जन्म दिया तो बस, हमारी रक्षा का भार भी उसी को उठाना है।"[4] कभी वे भगवान से यहां तक

---

1. अ. सं. ८–६०

ए नोरु वेट्टुकोनि निन्नु नेमनि कावुमंदुनु ने निन्नु दलचिनदिनिमुषमुलेदु।
प्रपंचमेल्ल संसारमुपालेबडिति गानि चेयार नीसेवने जेसुट लेदु।
कायमेल्ल कांतलके कडु शेषमाये गानि नीयवसरमुलंदु नोदुग लेदु।
चित्तमु आशल पालेज्रेसि बतिकितिकानि हृत्ति निन्नु ध्यानमु सेयग लेदु।
सत्तेपु ना नालुकेल्ल चवुल कम्मिति गानि मत्तिलि नीकीर्तनमु मरपुरालेदु।
पुट्टु गेल्ला नज्ञानमु पोंतने उंटि गानि वोट्टिनी विज्ञानमु नोल्लनैतिनि।
येट्टु नन्नु मन्निचिति विदुके पो वेरगटयी नेट्टन श्रीवेंकटेश निन्नडुगालेदु॥

2. अ. सं. ८–८२, १०–८, ७–४३ इत्यादि

3. अ. सं. १०–८ इंदरु नीकोक्क सरि... ... ...

4. अ. सं. ८–५९ मरि येपुरुषार्थमु मावंक लेदु मीकु,
अरुवडमु माकेल अतुवो नीकु।
भुवि लोनि नीवु नन्नु बुट्टिंचिन फलंबु
इवल रक्षिचे तोडुसिदोकटाय। ... ...

कह डालते हैं कि 'मेरे कारण से ही तुम यशस्वी बनते हो। अगर मैं न रहा तो तुम्हारी कृपा का पात्र कौन हैं?'[1] भगवत् कृपा का पात्र बनकर भक्त कवि अन्नमाचार्य हर्ष पुलकित होकर गा उठते हैं।

प्राप्तमिदं में अप्राप्त सुखं, कैवल्यं हरिकथाश्रवणं।
सुलभं सुकरं शोकनाशनं, फलदं फलितं भयहरणं
कलित श्रीवेंकटेशपति शरणं, जलजोदर नित्य स्तोत्रं ॥[2]

४.१.३.२ विनय पदों की भावभूमि :

सूरदास के विनय पदों की भावभूमि भी ठीक इसी तरह की भक्ति धाराओं से सिंचित हुई मिलती है। उनके विनय पदों में भी इस छोर से उस छोर तक ग्लानि, संताप, दीनता, त्रास, विबोध, विश्वास, गर्व, मद जैसे भाव ही पग पग पर वर्णित हुए मिलते हैं, जिनके मूल में सांसारिक विरक्ति और भगवदनुरक्ति ही सतत सक्रिय पायी जाती हैं। सूरदास शुरू से विरागी थे, लेकिन दुनिया उनके पीछे लगी रहती थी। वह लगती तो अपने समस्त मायाजाल के साथ आ लगती। यही सूरदास के निर्वेद व क्षोभ का प्रबल करण बनता। तभी वे बार बार उदास-से होकर कहते हैं,

"नर तैं जन्म पाइ कह कीनौ।
उदर भर्‌यौ कूकर सूकर लौं प्रभु कौं नाम न लीनौ।
श्री भागवत सुनी नहिं स्रवननि, गुरु गोविंद नहिं चीनौं।
भाव भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन विषया में दीनौ।
झूठौ सुख अपनौ करि जान्यौ परसप्रिया कैं मीनौ।
अघ कौ मेरु बढ़ाइ अधम तू अंत भयौ बल हीनौ।
लख चौरासी जोनि भरमि कै फिरि बाहीं मन दीनौ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु ज्यों अंजलि जल छीनौ॥"[3]

संसार के सुख-भोगों के पीछे दौड़ लगानेवाली अपनी मति को धिक्कारते हुए वे कभी कहते हैं,

---

1. अ. सं. ८–४८ ने नोकड लेकुंटे नी कृपकु पाप्र मेदि
पूनि ना वल्लने कीर्ति बोंदेवु नीवु॥
2. अ. सं ७–२३० (स्वीयानुवाद)
3. सूरसागर, पद ६५.

१) "रे मन छांड़ि विषय कौ रचिबौ ।
कता तू सुआ होत सेमर कौ, अंतहिं कपट न बचिबौ ।
अंतर गहत कनक कामिनि कौं, हाथ रहैगौ पचिबौ ।
तजि अभिमान, राम कहि बौरे, बतरुक ज्वाला तचिबौ ।।"[1]

२) "अब कैसे पैधत सुख मांगे ?
जैसोइ बोइयै तैसोइ लुनिये, कर्मन भोग अभागे ।
तीरथ व्रत कछु वे नहिं कीन्हौं, दान दियौ नहिं जागे ।
पछिले कर्म सम्हारत नहीं करत नहीं कछु आगे ।।"[2]

विवेक कहता है कि इन सभी कर्मगतियों का नाश हरि स्मरण से होता है, किंतु संसार का लंपट उसके लिए कुछ फुरसत भी पाने नहीं देता । दिन यों ही गुजर जाते हैं तो साधक का पश्चात्ताप और भी बढ़ता है । निदान पहचान कर भी रोग की दवा न की जाये तो उसका विषम-फल ही भोगना पड़ता है । तभी सूरदास कहते हैं कि "किते दिन हरि सुमिरन बिन खोये । परनिंदा रसना के रस करि केतिक जन्म विगोये ।"[2] माया ऐसी है जो बार बार संसार की ओर खींचती है और हरि को भुलावे में डालती है । भ्रांत साधक के हाथ पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ नहीं लगता । सूरदास कहते हैं,

१) यह आशा पापिनी दहै ।
तजि सेवा वैकुंठनाथ की नीच नरन कै संग रहै ।
जिन कौ मुख देखत दुख उपजत, तिनकौं राजाराय कहै ।।[3]

२) अब हौं माया हाथ बिकानौ ।
परवश भयौं पसु ज्यों रजुवश, भज्यौ न श्रीपति रानौ ।
हिंसा मद ममता रस मृत्यौ, आसाहीं लपटानौ ।
वाही करत अधीन मयोहौं, निद्रा अति न अघानौ ।
अपने अज्ञान तिमिर में, बिसार्यौ परम ठिकानौ ।।[4]

भगवान के रक्षकत्व में भक्त सूरदास का अतीव विश्वास है । भगवान अत्यंत उदार हैं, करुणामय हैं, अनेकानेक पापियों का उद्धार उनके हाथ हुआ है

---

1. सूरसागर, पद ५९
2. सूरसागर, पद ६१
3. सूरसागर, पद ५२
4. सूरसागर, पद ५३

और कितने ही अनाथों व अगतिकों को उनके यहां आश्रय मिला है। सूरदास वैसे ही विश्वास व प्रत्यय लिये हरि की शरण में जाते हैं और दिल पर हाथ धर कर कहते हैं,

१) जाकौ मनमोहन अंगीकार करै।
ताकौ केस खसै नहिं सिरतें जो जग बैर परै।
... ...
सूरदास भगवंत भजन करि सरन गये उबरै ॥[1]

२) जाकौ हरि अंगीकार कियौ।
ताकौ कोटि विघ्न हरि हरि कै, अभै प्रताप दियौ।
... ...
सूरदास प्रभु भक्तवत्सल हैं, उपमा कौं न बियौ ॥[2]

भगवान के गुणगान में सूरदास की आसक्ति, पौराणिक कथाओं के आधार पर बनी उनकी आस्था, कृपा प्राप्ति के बारे में उनके अचल विश्वास, शरण में जाने की आतुरता और हरिभजन में उनके आनंद का साक्षात्कार उनके कितने ही पदों में होता है।

१) कहा गुण बरनौं स्याम तिहारे।
कुबजा विदुर, दीन द्विज गनिका, सब के काज संवारे।
... ...
अब मो सौ अलसात जात हौ अधम उधारन हारे।
कहै न सहाय करी भक्तनि की, पांडव जगत उबारे।
सूर परी जब विपति दीन पर, तहां विघन तुम टारे ॥[3]

२) भक्तनि हित तुम कहा न कियौ?
गर्भ परीच्छत रच्छा कीन्हीं, अंबरीष व्रत राखी लियौ।
... ...
सूरदास प्रभु भक्तवत्सल हरि बलि द्वारैं दरबान भयौ ॥[4]

---

1. सूरसागर, पद ३७
2. ,, पद ३८
3. सूरसागर, पद २५
4. ,, पद २६

३) प्रभु तेरौ वचन भरोसौ सांचौ ।
पोषण भरन विसंभर साहब जो कलपै सो कांचौ ।
... ...
सूरदास प्रभु भक्त वछल है चरण सरन हौं आयौं ॥[1]

४) श्याम भजन बिन कौन बड़ाई ।
बल, विद्या, धन, धाम रूप, गुन और सकल मिथ्या सौं जाई ।
... ...
अति आनंद सूर तिहिं औसर, कीरति निगम कोटि सुख पाई ॥[2]

कृतनिश्चय होकर भगवान के आश्रय में जाने पर भी माया जाल से छुटकारा मिलना दूभर-सा लगने पर भक्त कवि सूरदास उसकी भी शिकायत लेकर अपने इष्टदेव के पास पहुंचते हैं और कहते हैं,

१) विनती सुनौ दीन की चित दै कैसे तुव गुन गावै ?
माया नटी लकुटी कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै ।
दर दर लोभ लागि लिये डोलति नाना स्वांग बनावै ।
तुमसो कपट करावति प्रभु जू, मेरी बुधि भरमावै ।
मन अभिलाष तरंगनि करि करि मिथ्या निसा जगावै ।
सोवत सपने में ज्यों संपति, त्यों दिखाइ बौरावै ।
महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिं लगावै ।
ज्यों दूती पर वधू भोरि कै, लै पर पुरुष दिखावै ।
मेरे तो तुम पति, तुम्हीं गति, तुम समान को पावै ।
सूरदास प्रभु तुम्हारी कृपा बिनु को मो दुख विसरावै ॥[3]

ऐसी दीनता के दर्शन पर भी भगवान का दिल न पिघले और वह तब भी करुणामय, दीनवत्सल, अकारण बंधु कहलाते फिरे, तो कौन भक्त धृष्ट नहीं होता । सूरदास भी धृष्ट और हठी बनकर कृपा-याचना करते हैं ।

१) पतित पावन हरि बिरुद तुम्हारौ कौन नाम धर्‍यौ ?
हौं तो दीन, दुखित, अति दुर्बल द्वारै रटत पर्‍यौ ।
... ...
बेर सूर की निठुर भए मेरौ कछु न सर्‍यौ ।[4]

---

1. सूरसागर, पद ३२
2. „ पद २४
3. सूरसागर, पद ४२
4. „ पद २३३

२) आज हौं एक एक करि टरिहौं ।
कै तुम्हीं कै हमहीं, माधौ अपने भरोसे लरिहौं ।
हौं तो पतित सात पीढ़िनि कौ, पतितै ह्वै निस्तारिहौं ।
अब हौं उघरि नाच्यौ चाहत हौं, तुम्हें बिरुद बिन करिहौं ।
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा ।
सूर पतित तब हीं उठिहैं, प्रभु जब हंसि दैंहो बीरा ।।[2]

वैसे तो शाठ्य या धाष्ट्र्य में भी सूरदास यह नहीं मानते कि भक्ति छोड़ दें या अन्य किसी के आश्रय में जाएं । वे अपने भगवान से साफ कहते हैं,

१) अब धौं कहौ कौन दर जाऊं ।
तुम जगपाल चतुर चिंतामणि, दीनबंधु सुनि नाऊं ।।[3]

२) मेरौ मन अनत कहां सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज़ कौं पंछी फिर जहाज़ पै आवै ।।
कमल नैन को छांड़ि महातम और देव कौं ध्यावै ।
... ...
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ।।[4]

३) तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान ।
छूटि गयें कैसे जन जीवन ज्यौं पानी बिनु मीन ।।[5]

४.१.३.३ विचार साम्य :

भावभूमि और साधनासरणियों की समानता के कारण से अन्नमाचार्य और सूरदास में कहीं कहीं अद्भुत विचार साम्य भी पाया जाता है । भगवान की अपार करुणा, अकारण बंधुता, अतिशय उदारता आदि के वर्णन में वे अथक जोश से कितनी ही पौराणिक कथाओं को उदाहरण के तौर पर दिखाते जाते हैं । अन्नमाचार्य एक जगह कहते हैं कि "हे स्वामिन्, पहले गजेंद्र ने जिस तरह तुम्हारी कृपा की याचना की, उसी तरह हम अब तुम्हारी दया की प्रार्थना कर रहे हैं । वैकुंठ में से लक्ष्मी ललना का सांगत्य छोड़कर भी तुम तब गजेंद्र की रक्षा करने चल पड़े । अब हमारी रक्षा में क्यों विलंब कर रहे हो? अपने दास जनों के दुख

---

1. सूरसागर, पद १३४
2. ,, पद १६५
3. सूरसागर, पद १६८
4. ,, पद १६९

तुम से थोड़े ही देखे जा सकते हैं ।"[1] सूरदास भी ठीक इसी तरह अपने एक पद में कहते हैं,

"जैसे तुम गज को पाऊं छुड़ायौ ।
अपने जन को दुखित जानि कै पाऊं पियदे धायौ ॥"[2]

अन्नमाचार्य अकसर कहते हैं कि 'जो जन हरि की कृपा का पात्र है वहीं पूज्य हैं ।[3] जो हरि का दास है उसी का भाग्य भाग्य है ।'[4] सूरदास का भी यही मत है कि 'जा पर दीनानाथ ढरै, सोइ कुलीन, बड़ौ सुंदर सोइ, जिहिं पर कृपा करै ।'[5] 'हरि के जन जवतै अधिकारी ।'[6]

अन्नमाचार्य अपने को 'परम पातक, भव बंधु' कहकर हरि की शरण में जाने का भी संकोच करके कहते हैं कि 'अपने चरित व आचरण से मुझे ही लज्जा आती है, मैं किस मुंह से तुम से वर मांग सकता हूं ।'[7] सूरदास की भी यही स्थिति है । वे भी इसी तरह कहते हैं, 'विनती करत मरत हूं लाज, नख-सिख लौं मेरी यह देही है पापकी जहाज ।'[8]

अन्नमाचार्य कहते हैं कि 'हरि भक्ति ऐसा धन है जो न अकाल में घटता है न कर या सुंक में जाता है । समझदार हो तो इसी धन से अपना भंडार भराओ ।'[9] सूरदास जी कहते हैं कि "हमारे निर्धन के धन राम, चोर न लेत घटत नहिं कबहूं, आवत गाढ़ै काम ।"[10]

अन्नमाचार्य बड़े आत्मविश्वास से कहते हैं कि "हम हरि श्रीवेंकटेश्वर के जन हो गये हैं, मानो करोड़-पति बन गये हैं । अब कौन-सी चिंता है? कौन-सा दुख है? भाल में तिरुमणि, कटि में कौपीन और आत्मा में वैराग्य धर कर हम श्रीपति के चरणकमल में आश्रय ले चुके हैं । हरिभक्ति हमारा भद्र-गज है,

---

1. अ. सं. ८–२६६
2. सूरसागर, पद २०
3. ,, ७–२६
4. ,, पद ३५
5. सूरसागर, पद ३४
6. अ. सं. ७–७५
7. अ. सं. ५–३३, १०–२
8. सूरसागर, पद ९६
9. ,, ८–२३०
10. ,, पद ९२

वैष्णव धर्म हमारा मोक्षसिंहासन है।"[1] सूरदास इससे भी अधिक निश्चित होकर कहते हैं,

"हमें नंदनंदन मोल लिये।
जम के फंद काटि मुकराए, अभय अजाद किये।
भाल तिलक, स्त्रवननि तुलसीदल, मेटे अंक बिये।
मूंड्यौ मूंड, कंठ वनमाला, मुद्रा चक्र दिये।
सब कोउ कहत गुलाम स्याम कौ सुनत सिराय हिये।
सूरदास कौं और बड़ौ सुख जूठन खाइ जिये॥"[2]

४.१.३.४ शैली साम्य :

अन्नमाचार्य कभी कुछ शब्दक्रीडा दिखाते भगवान की स्तुति यों करते हैं, "परम पुरुष हरि परम परात्पर, पररिपु भंजन परिपूर्ण नमो।

कमलापति कमलनाभ कमलासन वंद्य
कमल हितानंतकोटि घन समुदय तेजा।
कमलामल पत्र-नेत्र कमल वैरि वर्ण गात्र
कमलषट्क योगीश्वर हृदय तेऽहं नमो नमो॥"[3]

सूरदास भी कभी मौज में आकर इसी तरह गाते मिलते हैं,

"हरे बलवीर बिना को पीर?
सारंगपानि प्रगटे सारंग तें, जानि दीन पर भीर।
सारंग विकल भयौ सारंग मैं, सारंग तुल्य शरीर।
पर्‌यौ काल सारंग बासी सौं राखि लियौ बलवीर॥"[4]

---

1. अ. सं. १०–४०
कोटिकि वडग येत्ति कोंक नेल, यीट्टु लेनि पदमेक्कि यिक नेल चिंत।
पेट्टिनदि नोसलनु पेद्द पेद्द तिरुभणि, कट्टिनदि मोल जिन्न कौपीनमु।
पट्टिनदि श्रीहरिपाद पद्म मूलमु, येट्टयिना माकुमेले यिक नेल चिंत।
चिक्कि नालोनैनदि श्रीवैष्णव धर्ममु, तोक्किनदि भवमुल तुदि पदमु।
येक्किनदि हरिभक्ति यिदि पट्टपेनुगु, येक्कुव केक्कुवे काक यिक नेल चिंत॥
2. सूरसागर, पद १७१
3. अ. सं. ७–२१९
4. सूरसागर, पद ३३

अन्नमाचार्य कभी कुछ गूढ़ व सांकेतिक शैली में यों कहते हैं कि 'हे भगवान यह लो, हमारा मृग। यह बड़ा नटखट है। दुनियां भर में घूमता है। हर जगह दौड़ता है। जंगल जंगल जाता है। झाड़-झंकड़ सब कुछ खा डालता है। फिर न जानें कहीं घुस छिप जाता है। तुम जरा वश में लेकर इसे ठीक रखो न?'[1] सूरदास भी ऐसी एक गाय की शिकायत करते कहते हैं,

"माधौ जू यह मेरी इक गाइ।
अब आप तैं आप आगें दई, ले आइये चराई।
यह अति हरहाई, हटकत हूं बहुत अमारग जाति।
फिरति वेद-वन ऊख उखारति, सब दिन अरुराति।
हित करि मिलै लेहु गोकुल पति, अपने गोधन माहं॥"[2]

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों की कविता में सांगरूपक के आधार पर बने ऐसे कई छोटे, किंतु सर्वांगपूर्ण व रंगीले रूप चित्र व व्यापार चित्र मिलते हैं, जो अपने में बहुत सहज ही नहीं लगते, बल्कि तत्कालीन जन जीवन का भी काफी परिचय देते हैं। अन्नमाचार्य की अध्यात्म कविता में इस ढंग से अंकित किये हुए राजा और उसका शासन,[3] दुर्ग और उसके रक्षक,[4] कृषक और उसका परिश्रम,[5] सूत का व्यापारी और उसकी चतुराई,[6] नौकाव्यापारी और उसकी समस्याएं,[7] शिकारी और उसकी होशियारी,[8] आदि के चित्र बहुत सरस व संपूर्ण बने हैं।

---

1 अ. सं. ११–२–२२
लोकमु लोपल लूटि बेट्टु यिदि, कैकोनि हरि येरुगवुगा नीवु।
कोंकक यडवि माकुलु गंपलु मेसि, बिक मेडलि पारु पेनु मृगमु।
वेंकटपति दीनि वेदकि काननेमु, संके वाये देर्चवुगा नीवु॥

2. सूरसागर, पद ५१
3. अ. सं. ५–३१९
4. अ. सं. ५–६१
5. ,, ८–४९
6. ,, ५–१७८
7. ,, ५–३५
8. ,, ५–२०१

सूरदास के विनय पदों में भी, राजा और उसकी टाट-भाट,[1] माया नटी और उसकी चातुरी,[2] अमलदार और उसकी अविनीति,[3] कायानगर और उसकी अराजकता,[4] खलिहार और उसकी होशियारी,[5] खेतिहर और उसकी समस्याएं[6] आदि को लेकर रचे रूप व्यापार भरे अप्रस्तुत चित्र अत्यंत विशद व रसणीय बने हैं।

४.१.३.५ तुलना और निष्कर्ष :

अन्नमाचार्य के अध्यात्म संकीर्तनों में राम, कृष्ण, नृसिंह, वामन, हनुमान, विष्वकसेन, सुदर्शन चक्र, श्रीरंगशायी, पांडुरंग विठल आदि के कई स्तोत्र संस्कृत और तेलुगु दोनों भाषाओं में रचे मिलते हैं। दशावतार स्तोत्र तो सैकड़ों मिलते हैं। इन स्तोत्रों में जयगान, मंगल, आरती, कवच, स्तुति जैसे कितने ही प्रकार के गीत मिलते हैं। अवतारवाले स्तोत्रों में भी, रूप, गुण, प्रभाव, लक्ष्य फलसिद्धि जैसी बातों का कभी वाच्य और कभी व्यंग्यमयी शैली में वर्णन करके काफी वैविध्य दिखाकर उनको पुनरुक्ति से बचाने का प्रयत्न हुआ है। सूरदास के विनय पदों में भी यमुना जी के स्तोत्र में रचे एक-दो पद मिलते हैं।

नित्य सेवा व उत्सव संबंधी गीतों में अन्नमाचार्य का भक्त हृदय द्विगुणित उत्साह और आनंद से भरा मिलता है। उनको ऐसे अवसरों पर मंदिर की उत्सवमूर्ति में मानों भगवान का साक्षात्कार ही हुआ करता हो, वे हर्ष विस्फारित नेत्रों से देखकर, आनंद नर्तित हृदय से उत्सवमूर्ति के अलौकिक रूप-लीला-वैभव का वर्णन करते हैं। स्वामी की मूर्ति को जब कभी रथ या किसी वाहन पर बिठाकर जुलूस में ले जाते हैं, तब अन्नमाचार्य को उसमें स्वामी के विश्वलीला विहार ही दिखाई देते हैं। भावना की उच्चतम भूमि में खड़े होकर, आध्यात्मिक क्षेत्रीयसीमाओं तक दृष्टि फैलाकर वे उत्साहोद्रेकमयी ऊंची आवाज से गाते हैं कि

---

1. सूरसागर, पद ४०
2. ,, पद ४३, १५३
3. ,, पद १४३
4. ,, पद ६४
5. ,, पद १४२
6. ,, पद १८५

"लो, भगवान का रथ निकला। राक्षसो, अब तुम्हारी खैर नहीं। दुर्जनो, अब अपना अंत समझो। स्वामी ने आज चक्र उठाया। अधर्म का तिमिर भाग गया। धर्म का महोज्ज्वल उदय हुआ।"[1]

अन्नमाचार्य आचार्य भी थे। अतः उनकी कविता में धर्म, नीति, सदाचार, लोक संग्रह जैसों का भी वर्णन मिलता है। अपने समय के पालकों के स्वार्थ, लोभ-प्रेरित अत्याचारों का आंखों देखा वर्णन करते अत्यंत क्षुब्ध व आक्रोशमयी आवाज में वे कहते हैं कि "अहो, सोचते ही दिल कांप उठता है। भगवान, इन दुष्टों के बीच में कैसे रहना। पितृ-हंता को दोषी नहीं, किंतु प्रजापालक कहते हैं। भ्रातृ-घातक को दुष्ट नहीं कहते, पर बदले में चतुर व सुकृति कहते हैं। माता-पुत्रों का वध करनेवाला निर्दयी व्यक्ति मानवनाथ बनकर निंदा के बदले प्रशंसा पाता है। इष्टदेव के विग्रह को अपनी इच्छा के अनुसार कहीं भी उठा ले जानेवाले पापी को प्रभु कहना पड़ता है। श्रीवेंकटेश्वर, इन कष्टशीलों के संग से मुझे अलग करो। मैं कहीं एकांत में तुम्हारे दासों का दास बनकर रह जाऊंगा। कृपा करो।"[2] कलिकाल की व्याप्ति से दुखी होकर अन्नमाचार्य कभी कहते हैं कि 'खैर न मालूम यह काल विशेष है या लोक की गति। लोक में सन्मार्ग दीखता नहीं और सौजन्य फलता नहीं। धर्म नष्ट हुआ, विज्ञान विरत हुआ,

---

1. अ. स. ८–१३४, ७–२५३
2. अ. सं. ५–१३८

वेरतु वेरतु निंदु वेडुकपड निट्टि, कुरुच बुद्धुल नेट्टु कूडुदुनय्य।
देहमिच्चिनवानि दिविरि चंपेडिवाडु, द्रोहिगाक नेडु दोरयटा,
आहिकमुगा निट्टि अथमव्रित्तिकि ने साहसमुन नेट्टु चालुदुनय्य।
तोडबुट्टिनवानि तोडरि चंपेडिवाडु, चूड दुष्टुडु गाक सुकृतियट,
पाडैन विट्टुवंटि पाप बुद्धुलु सेर्सी, नीड निलुव नेट्टु नेरुतुनय्य।
कोडुकु नुन्नतमति गोरि चंपेडि वाडु, कडु बातकुडु गाक घनुडटा,
कडलेनि यिटुवंटि कलुष व्रित्तिकिनात्म वोडय परपग नेट्लोपुदुनय्य।
तल्लि जंपेडिवाडु तलप दुष्टुडुगाक, येल्लवारल केल्ल नेक्कुडटा.
कल्लरियनुचु लोकमु रोयुपनि यिदि, चेल्लबो नेनेमि सेयुदु नय्य।
यिंटिवेलुपु वेंकटेश्वरु दनवेंट वेंट दिप्पेडुवाडु विभुडटा,
दंटनै यातनि दासानु दासिनै वोंटि नुंडेद नेमि नोल्ल नोयय्य॥

शांति दूर हुई और विवेक मानों अस्तंगत हो गया। वेद, शास्त्र विचार, सत्य, संतोष, आचारनिष्ठा, जाति मत, सबके सब मानों किसी घने अंधकार से आवृत्त हो गये हों, न कहीं आशा की किरण दिखाई देती है। हे वेंकटेश्वर, अब तुम्हीं हमारी गति है। जरा आंख उठाकर दया-दृष्टि से देखो।"[1]

* * *

---

1. अ. सं. ५–६३

काल विशेषमो लोकमु गतियो सन्मार्गबुल
कीलु वदले सौजन्यमु क्रिदयिपौयिनदि ।
इंदेक्कडि संसारमु येदेस जूचिन धर्ममु,
कंदयिनदि विज्ञानमु कडकु दोलंगिनदि ।
गोंदुलु दरिबडे शांतमु कोंचेंबाये विवेकमु,
मंदुकु वेदकिन गानमु मंचिदनंपु वनुलु ।
मरियिक नेटि विचारमु मालिन्यंबयि पायिन,
नेरुककु संतोषमुनकु नेडमे लेदाये ।
कोरमालेनु निजमंतयु कोंडल केगेनु सत्यमु
मरुगयि पोयेनु विनुकुलु मतिमालेनु तेलिवि ।
तम किक नेक्कडि व्रतुकुलु तडबडे नाचारंबुलु,
सममै पोयिन वप्पुडे जाति विडंबमुलु ।
तिमिरंबितयु बापग दिरुवेंकटगिरिलक्ष्मी,
रमणुडु गति दप्पनु गलरचनेमियु लेदु ।।

४.२. काव्य वैभव : भावपक्ष (लीला-पद)

४.२.० लीला-पद ओर लीला-रस :

आध्यात्म और विनय पदों की अपेक्षा अन्नमाचार्य और सूरदास की रचना में लीला पदों की संख्या बहुत अधिक है। ये दोनों भक्तकवि भगवान की आनंदमयी लीलाओं को ही अपनी रचना का प्रधान वर्ण्यविषय स्वीकृत कर गये। यों तो भक्तों की दृष्टि में लीला और लीला पुरुष भगवान में कोई अंतर नहीं होता। "लीला विशेष मेव शुद्धं परंब्रह्म, न कदाचित् तद्‌हित मित्यर्थः" कहकर आचार्य प्रभु वल्लभ ने लीला को ही भगवान माना है। वे लीला को नित्य मानते हैं और कहते हैं कि "लीला एव कैवल्यम्, जीविनां मुक्तिरूपम् तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिरिति।"[1] अनवरत लीला संबंध व उसकी प्राप्ति को ही भक्त लोग कैवल्य प्राप्ति मानते हैं, क्योंकि वही भगवत प्राप्ति है। लीला भगवान का स्वाभाविक गुण हैं। अतः उनसे वह अलग नहीं है। वैसे ही उसका कोई अलग प्रयोजन भी नहीं है। आचार्य प्रभु कहते हैं कि 'नहिं लीलायां किंचित् प्रयोजनमस्ति, लीला एव प्रयोजनत्वात्।'[2] लीला का प्रयोजन लीला ही है। भगवान से अभिन्न होने से लीला व्यापक विस्तृत, नित्यनूतन, चिरंतन व शाश्वत होती है। साधक भक्तों के अंतरंग में भी उसका उसी तरह नित्य नूतन विलासमयी प्राकट्य होता रहता है और भक्त उसी में निमग्न होकर आनंद पाता रहता है। साधक भक्त का लक्ष्य इसी लीलारसानंद की ही प्राप्ति होता है और इसीलिए भक्त कवियों में बहुधा लीला गान या लीला रसानुसंधान की विशेष प्रवृत्ति पायी जाती है। हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों लीलारसानुभूति के ही गायक थे। अतः दोनों की रचना में भगवान की लीलाओं का ही तरह तरह से वर्णन मिलता

---

1. आचार्य वल्लभ, ब्रह्म सूत्र भाष्य, ४–४–१४
2. ,, ,, २–१–३३

है। दोनों ने एक ही प्रकार से भगवान की बाल, किशोर व यौवनलीलाओं में अनुरक्ति दिखाई। फलतः दोनों की रचना वात्सल्य, सख्य व शृंगार भावों की विविध लीलाओं के वर्णन से ही भर गयी। इन कवियों के हाथ में ये भाव इतने विशद व विस्तृत रूप में वर्णित हुए हैं कि चाहे अन्यत्र इनमें से किसी किसी को रस संज्ञा मिले या न मिले, यहां तो वे अवश्य रसदशा को प्राप्त हो चुके हैं।

४.२.१ वात्सल्य रस :

४.२.१.१ अन्नमाचार्य का वात्सल्य वर्णन :

अन्नमाचार्य की रचना में वात्सल्य भाव के वर्णन में सैकड़ों पद मिलते हैं। इन सभी पदों में कवि ने श्रीकृष्ण के बाल रूप व किशोर रूप को आलंबन माना। उन्होंने इन पदों को रचते वक्त अपने को कभी यशोदा के रूप में और कभी गोपियों के रूप में मानकर सारी रचना को आत्माश्रयी ढंग पर ही चलाया। सूरदास के वात्सल्य वर्णन के पदों की तुलना में अन्नमाचार्य के ये पद संख्या में बहुत कम दीखते हैं, लेकिन कृष्ण चरित की उन सभी घटनाओं का वर्णन, जिन का विस्तार रूप से वर्णन सूर की रचना में मिलता है, थोड़ा बहुत अन्नमाचार्य की रचना में भी मिलता है। हां, सूरदास की रचना में वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों पक्ष खूब वर्णित हुए मिलते हैं, जब कि अन्नमाचार्य की रचना में वात्सल्य के वियोग पक्ष का अभाव खटकता है। यद्यपि सूर और अन्नमाचार्य दोनों यह मानते हैं कि बालकृष्ण तो परब्रह्म का रूपांतर या अवतार रूप है, सूरदास बहुधा बालकृष्ण का मानव सुलभ रूप में ही वर्णन करते हैं। अन्नमाचार्य के हर एक पद में कृष्ण के अलौकिक रूप की ओर स्पष्ट संकेत रहता है। हर पद के अंत में कृष्ण का श्रीवेंकटेश्वर से अभेद भाव भी सूचित किया जाता है। फिर, इन पदों में से अधिक भाग तिरुमलै-तिरुपति के श्रीवेंकटेश्वर मंदिर में होनेवाले श्रीकृष्णजयंति, गोकुलाष्टमी कृष्णाष्टमी जैसे उत्सवों के अवसर पर विशेष प्रेरणा व स्फूर्ति पाकर रचे हुए पदों का है। अतः बहुत से पद प्रशंसा या स्तोत्र के रूप में मिलते हैं। लेकिन इनमें कृष्ण के लोकरंजक व लोकरक्षक दोनों लीलाओं की सम प्रधान्य से प्रशंसा की जाती है। एक दूसरी विशेषता यह है कि कृष्ण और बलराम दोनों की लीलायें एक ही तरह से देखी जाती हैं। दोनों की समान रूप से प्रसंशा की जाती है। बाल लीलाओं के वर्णन में भी कई जगह कवि अपनी स्वतंत्र कल्पना से काम लेते हैं। ऐसे कल्पित प्रसंगों के वर्णन का अपना अलग सांस्कृतिक महत्व भी दीखता है, क्यों कि ये आंध्र प्रांत के घरेलू आचार-विचार व ग्रामीण खेल-कूद से संबंध रखते हैं। उत्सव गीत होने से इन पदों के आधार पर उस समय के उत्सव आयोजन, उनके संचालन और उनके

प्रति तत्कालीन समाज का दृष्टिकोण जैसी महत्व पूर्ण बातों का भी अंदाज किया जा सकता है। इन पदों का लोगों में जो विशेष प्रचार दीखता है वह इनकी सरसता का प्रमाण है।

अन्नमाचार्य के मत में कृष्ण का जन्म मामूली घटना नहीं है। उसका विशेष प्रयोजन और विश्वव्यापक प्रभाव है। श्रावण बहुल अष्टमी के दिन, रोहिणी नक्षत्र में, आधीरात के समय, अधर्म रूप अंधकार के अस्त और धर्म रूप चंद्रमा के उदय होते समय इस लोक में परब्रह्म का श्रीकृष्ण रूप में अवतरण हुआ। कारा के आंगन में ब्रह्मादि देवता लोग स्तोत्र पाठ करते खडे रहे। आसमान में देव गंधर्वों व नारदादि का दिव्य मंगल गान हो रहा था। देवकी को चतुर्भुज धारी, शंख-चक्र धारी भगवान नारायण के दिव्य साक्षात्कार हुए। फिर, उसकी गोद में शिशु कृष्ण का रूप प्रकट हुआ।[1] अन्नमाचार्य इन बातों का अपार हर्ष से, कितने ही प्रकार से वर्णन करते हैं। कभी वे कहते हैं कि "लो, श्रीकृष्ण का अवतार हुआ। अब कंस कहां जायेगा? आज रोहिणी के दिन उधर चंद्रोदय हुआ, इधर कृष्णोदय हुआ। देखो देखो, वही शंख-चक्र-गदाधारी, वही चार भुजाओं वाला बालक, वसुदेव और देवकी के पास प्रत्यक्ष है।"[2] और कभी वे कहते हैं कि "वे हैं ब्रह्मादि देवता लोग, जो शिशु कृष्ण की सेवा में उपस्थित हैं। उधर चंद्र का उदय हुआ, इधर कृष्ण का जन्म हुआ। वह समुद्र का बेटा है, यह समुद्र का दामाद है। लेकिन यह उसका शासक बना। वह गोरा है, यह काला है। वह खुद अमृत है, लेकिन यह अमृतनाथ है।"[3] "आज कृष्ण-चंद्र का उदय हुआ, बस, असुरों का अंत हुआ, समझो।"[4]

---

1. अ. सं. ८–१९३, १०–२०
2. अ. सं. १०–१

   एक्कड कंसुडु यिकनेक्कडि भूभारमु चिक्कु वाप जनियिंचे श्रीकृष्णुडु।
   अदिवो चंद्रोदयमदिवो रोहिणिपोद्दु, अदन श्रीकृष्णुडेत्ते नवतारमु,
   गदयु शंखचक्रालु गल नालुगु चेतुलु नेदिरिंचि युन्नाडु यिदिवो बालुडु।
   वसुदेवुडल्लवाडे वरुस देवकि यदे कोसरे ब्रह्मादुल कोंडाटमदे,
   पोसग बोत्तुल मीद पुरिटिंटि लोपल, शिशुवै महिम जूपे श्रीकृष्णुडु।।

3. अ. सं. ८–११४

   चूड नरुदायनम्म सोरिदि नंदरिकिनि, वेडुकतोवच्चि सेविंचेरु ब्रह्मादुलु।
   कोरिचंद्रु डुदयिंचे गोकुल चंद्रुडु बुट्टे नेरीति नीतडु नातडेमौदुरो,
   वारिधि कोडुकीतडु वारिधि यल्लुडतडु यीरीति नीतडातनि केलिकायगानि।
   नल्लवाडितडाये तेल्लवाडतडाये येल्लवारिकि जूड वीरे मौदुरो,
   अल्लातडे यमृतमु अमृतनाथु डितडु, चल्लनैन हरितोड सरि गाडु गानि।।

4. अ. सं. १०–२० अच्युतुडु जनियिंचे नह्म रेतिरिकाड
   मुच्चिमि राकासुलु मुत्तिपडिरि।

अन्नमाचार्य कृष्ण के व्रजयान के बाद योगमाया का वहां से लाया जाना और कंस के हाथ उसका अदृश्य होना बताकर उससे कंस को यह चेतावनी दिलाते हैं कि 'रे कंस, तेरा अंत करनेवाला पैदा हो चुका, इतना तो समझ ले कि अब अपना अंत समीप है। मुझे विष्णुमाया जान ले। तुझ से मैं नहीं डरती। आज्ञा नहीं मिली, नहीं तो मैं ही तेरा अंत कर डालती।'[1]

व्रज में कृष्ण का प्राकट्य मानों आनंद का ही अवतरण है। अन्नमाचार्य कृष्ण के जातकर्म, पुण्याह, पुत्रोत्सव, पहलाप्रासन, नामकरण आदि का बड़े धूम-धाम से उत्सव जैसा वर्णन करते हैं। व्रज नारियां कृष्ण को बारी बारी से अपने हाथों में लेती हैं। सर्वत्र हर्ष का संचार है। सभी सानंद हैं। उनमें से एक होकर कवि शिशु कृष्ण को पालने में रखकर गाने लगते हैं कि 'डोलायां चल डोलायां, हरे डोलायां।'[2]

बालक कृष्ण की छोटी मोटी सेवाओं में गांव भर की औरतें लग जाती हैं। वे उनको बारी बारी से गोद में लेकर प्यार से खिलाती-पिलाती हैं। कभी किसी को बालक के मुंह में सारे ब्रह्मांड का दृश्य दीखता है, वह इतना डर जाती है कि बालक को नीचे छोड़कर औरों को बुलाती है। विश्वास न करके रहने पर भी यशोदा को भी कभी ऐसा दृश्य दिखायी देता है, तो वह भय-विस्मित होती है। फिर न जाने कितनी ही शिशु-रक्षाएं करती कराती है।[3]

बालक कृष्ण का रूप सर्वसम्मोहनकारी है। उनको देखने शुक, नारद आदि भी अकसर प्रच्छन्न रूप में आया करते हैं। बालक क्रमशः बढ़ता जाता है तो उनको उसमें नित्यनूतन विकास दिखायी देता रहता है। सेज पर लेटे रहे, तो वटपत्रशायी के रूप को, उलट कर सिर उठाते, हाथ-पैर मारते रहने पर मीन के अवतार को, फर्श पर रेंगते वक्त कूर्म की लीला को और आंगन में छोटे छोटे पग धरते चलते समय वामन की मूर्ति को कृष्ण के बालरूप में साक्षात्कृत करके वे

---

1. अ. सं. १०–११०
पेरिगि रेपल्ले नदे बिरुदु नीवैरि वाडे, ओरसि नन्नेल पट्टे ओरि कंसुडा।
विरसान वेरवनु विष्णुनि मायनु नी, गोरबैन वेड बुद्धि नोलुपदु ओरन।
वेदकी नी वैरि वाडे वीर दानवुल नदे, उदुटु नातो नेल ओरि कंसुडा।
चिदुमना निन्नपुडे सेलवीडु गाकतडु, पेदवुल चेंटिते पेदवानि कोपमु।
वोद्दुनीवु नाकेदुरा वोरि कंसुडा, कोद्दि गादु पेनगन गोविंदुतो कंसुडा॥
2. अ. सं. ७–१४०
3. अ. सं. १०–२३७. १०–२५७

ऋषि-मुनि लोग अतीव हर्ष-विस्मृत हो जाते हैं ।[1] फिर चलते वक्त कृष्ण के बाल रूप को बार बार ध्यान में लाकर वे अपने मनः पटल पर उसे अंकित कर लेने में तत्पर रहते हैं । वह रूप भी झट भावना में नहीं आता । उसे कई बार भावित करना पड़ता है ।

"भावयामि गोपालबालं मनस्सेवितं तत् पदं चिंतयेयं ।
कटिघटित मेखला खचित मणि घंटिका
पटल निनदेन विभ्राजमानं ।
कुटिलपद घटित संकुल सिंजितेन तं
चटुल नटना समुज्ज्वल विलासं ।। भावयामि ।।
निरत करकलित नवनीतं ब्रह्मादि
सुरनिकर भावना शोभित पदं
तिरुवेंकटाचल स्थित मनुपमं हरिं
परमपुरुषं गोपाल बालं ।। भावयामि ।।[2]

माता यशोदा का प्रेमाकुल हृदय बालक के हित में हमेशा शंकाकुल रहता है । वह बच्चे को शाम के समय द्वार से बाहर ले जाने नहीं देती । डर है कि बच्चे को पक्षिदोष लगे । बच्चे को संध्या के समय आंगन से दूर भेजती नहीं । क्योंकि रक्षः पिशाचों की वह तो संचार वेला है । वह सदा ऐसी औरतों की दीठ व छूत के दोष से बच्चे को बचाती रहती है, फिर कोई अनुमान लगे, तो हजारों प्रकार की शिशुरक्षाएं करती जाती है ।[3]

वह बालक भी बड़ा विचित्र लगता है । दूध, दही, माखन, मलाई के दाग हमेशा उसके अंग अंग पर शोभित रहते हैं ।[4] फिर भी वह उन चीजों केलिए

---

1. अ. सं. १०–२६२ पोत्तुललो पव्वलिंचे पुरुषोत्तमुडु तोलिल
हत्ति मर्राकुपै पडिनट्टु वलेनं ।
वोत्तिगिलि बोरगिलि तुंड जोच्चे कृष्णुडु
तत्तरान मीन कूर्मावतार गतुल वलेने ।
तप्पटडुगुलु वेट्टि तग त्रिविक्रमुडै
गोप्प पादालनु भूमि गोलिचिनट्लु ।
... ... ।
अनुचु सुकादुलचे विंटिमि नेमिदिवो ।।

2. अ. सं. ५–७९

3. अ सं. ३–३१५, ३–३०७

4. अ. सं. ३–४११

अकसर मचलकर रोता रहता है। मां उसे भुलावे में डालने केलिए कभी चांद को दिखाती है, तो वह उसे माखन का गोल मानकर उसे पाने केलिए हाथ मारकर रोता है।[1] कभी माता यशोदा चांद को बुलाते गाती है,

> "चंदामामा आओ, जाविलि मामा आओ।
> कुंदन की कटोरी भर, दूध मक्खन लाओ॥"[2]

न जाने बालक कृष्ण क्या संकेत करते हैं, कभी ऐसा लगता है कि चांद नीचे उतरकर बालक के पास आया हो। भय और विस्मय से व्याकुल होकर यशोदा आंखें मूंद लेती है, लेकिन आंखें खोलने पर फिर सब कुछ यथा पूर्व लगता है और सारी घटना विस्मृति में पड़ जाती है।[3]

इधर मां की गोद में खेलते खेलते ही कृष्ण पूतना, तृणावर्त और शकटासुर का संहार करते हैं। आये दिन के इन उपद्रवों से माता यशोदा इतनी प्रभीत व शंकित हो जाती है कि हर क्षण वह बालक की रक्षा में ही तत्पर रहती है। लेकिन पालने में सोते सोते कभी कृष्ण मां को शंख-चक्र-धारी लक्ष्मी-रमण के रूप में दिखाई देते हैं और उसे विस्मय विमूढ बना डालते हैं।[4] कभी आंगन में खेलते खेलते कृष्ण अदृश्य हो जाते हैं और यशोदा घबड़ाकर घर-बाहर उनको ढूंढने लगती है। दासियों को चारों ओर भेजकर कहती है, "अभी अभी बालक यहां खेल रहा था। न मालुम अब कहां गया। देखो, उधर कोई हलचल हो

---

1. अ. सं. ३–५३५ आकसमु चंदुरुनि नदे वेन्न मुद्द यंटा
आकड चेय्यि जाचि यंदगा राक॥

2. अ. सं. गा. १४४ चंदमाम रावो जाविल्लि रावो, मंचि
कुंदनपु पैंडि कोर वेन्न बालु देवो॥

3. अ. सं. १०–२५८ चंदमाम वाडि तल्लि सरि बोत्तुकु रम्मंटे
चंदुरु जूचि कृष्णुडु सन्न सेसेनु।
मुंदर चंद्रुडु वच्चि मोक्किते यशोद चूचि
मुंदेला यंटिनो यनि मुंचि वेरगंदेनु॥

4 अ. सं. १०–२५८ पालार्चि तोट्टेलो बंडवेट्टि यशोद
नीलवर्णु तोंगि जूचि निद्दुरो यनि।
वोन्नि शंखचक्रालतो नुरमु श्रीसति तोड
यी लील श्रीवेंकटेशुडै युन्नाडु॥

रहा है। कहते हैं कि कोई भारी गाड़ी उलटकर टूट गयी। देखो, कहीं कृष्ण उस ओर नहीं गया।"[1]

बालक कृष्ण कभी दही की हांडी पर हाथ मारते हैं तो कभी गरम दूध की मटकी उलट डालते हैं। पानी में कभी अपनी परछाई देखकर वे उसे पकड़ना चाहते हैं। पानी के हिल जाने से परछाई गायब हो जाती है तो कभी उसके लिए रोते हैं और कभी घड़े के पास इसी ताक में बैठे रहते हैं कि परछाई फिर से आवे, ताकि वे उसे फिर से पकड़ सके।[2]

बड़े होने पर कृष्ण अड़ोस-पड़ोस के घरों में जाकर दूध, दही, मक्खन आदि को चुराकर खाने लगते हैं। खाते हैं तो चिंता नहीं, घड़े मटकियों को भी फोड़ डालते हैं।[3] चोरी की कला में वे बड़े चतुर हैं। तरह तरह के उपाय सोचकर दूध, दही आदि पर हाथ मारते हैं।[4] आहट किये बिना आते हैं और सब कुछ खाकर चुपचाप चले जाते हैं।[5] गोपियां कभी तंग आकर यशोदा के यहां शिकायत ले जाती हैं, तो कृष्ण अपनी मां के पास खड़े होकर उनसे कहते हैं कि तुम यों ही झूठमूठ फिरयाद कर रही हो। मैं थोड़े ही तुम्हारे यहां जाता हूं।[6] उनको धूर्त मानकर गोपियां खुद उनको पकड़ने के कई उपाय करती हैं। कभी चोरी करते कृष्ण पकड़े भी जाते हैं। सभी गोपियां खुशी खुशी उनको घर रखती हैं। कोई डांटती है, तो कोई उनको रस्सी से बांधना चाहती है और कोई उसे मनाती है।[7] किसी तरह छूटे तो कृष्ण फिर माखन-चोरी करने निकलते हैं। अब उनके कई साथी मिलते हैं। कृष्ण उन सबको दूध-दही बांट बांट कर देते हैं। इतना ही नहीं, वे कभी गायों व बछड़ों को भी खोल देते हैं। सोते हुए बालक

---

1. अ. सं. ६–६५ ईड नुंडे निंदाक निंटि मुंगिट
   आडनेंदु वोड्डुगद अप्पुडे यी कृष्णूडु ॥
   वितगाग तोक बंडि विरिगे नप्पाटि नंटा
   रंतु सेसेरदिवो रच्चलु निंडि।
   ... ... पापडु ॥
2. अ. सं. ३–५३५ नीराट लोन तन नीड जूचि–पोंचि यृन्नाडृ कृष्णुडु ॥
3. अ.स. २–१२२ कागेंडु पेरुगु चाडे कव्वमु तो वोडिचि–अलिगि पोयीनि॥
4. अ. सं. ३–२९९ एट्टुसेयनैन नेर्चु निंदृ नंदु नतंडु–दोंति वेचं नेर्चु गान नितंडु ॥
5. अ. सं. ६–१६६
6. अ.सं. ३–२८३ मानरे मायलु मगुवलु ने कानु कानंचु कनली शिशुवु॥
7. अ सं. १७–४५०

की चोटी को बछड़े की पूंछ से गांठ लगाकर बांधते हैं।[1] लेटी हुई औरतों से छेड़-छाड़ करते हैं। बेचारी गोपियों को बार बार यशोदा से फ़िरयाद करनी पड़ती है। यशोदा का मातृ-हृदय अपने बच्चे का पक्ष लेता है। वह उनसे कहती है कि क्यों बहनो, क्या तुम्हारे यहां बाल-बच्चे पलते नहीं? क्या तुमको मालूम नहीं कि बच्चे दूध-दही जैसी चीजों को अधिक चाहते हैं? बच्चों को क्या मालूम? खुले मिलें तो वे ऐसी चीजों पर अवश्य हाथ मारते हैं। उन चीजों को बच्चों से बचाये रखना हम बड़ों का कर्तव्य है न?[2]

कृष्ण की धूर्तता दिनों दिन बढ़ती है। वे अब माखन दूध की ही नहीं गोपियों के मन की भी चोरी कर जाते हैं।[3] कोई कोई उनको चोर कहकर पकड़ती है, लेकिन गले से लगाकर छोड़ देती है। कोई उनको अपने घर में बुला लेती है और मक्खन-मलाई खिला देती है। कोई उनकी अवस्थानुचित चेष्टाओं से विस्मित होती है तो कोई उनको धूर्त कहती है। यशोदा के पास शिकायतों का ढेर-सा लग जाता है, तो वह नाराज होकर कृष्ण को ऊखल से बांध देती है। फल-स्वरूप यक्षकुमारों का शाप-मोचन होता है और ब्रह्मा नारद आदि को श्रीकृष्ण के स्तोत्र का बड़ा अवसर मिलता है।[4] इधर गोपियों को अपने काम पर पछताना पड़ता है। वे यशोदा से अब यह विनय करने लगती हैं कि 'वाह री यशोदा मैया, तुम कैसी निर्दयी बनी! छुड़ाओ, छुड़ाओ भला, बच्चे को ऊखल से कोई बांधता है? देखती नहीं, बालक रो रोकर कितना दीन बन गया?[5]

---

1. अ. सं. ६–१६५ लेगल नन्निटि नेमु लेवक तोल्ले विडिचे
मूगि आवुलु पेयलु मोगि गलय ।।
पिन्नवाड़ु निद्रवोग पेनचि कूकटि तोड
पन्नि लेगतोक गूड वंधिचि कट्टे ।।

2. अ. सं. ३–३२१ कानरटे पेंचरटे कटकटा विड्डलनु
नेनु मीवलेने कंटि नेय्यमैन बिड्डनु ।।
बयटं बारवेसिन पालु वेन्नलुनु
चेयि वेट्टकुंदुरा चिन्नि विड्डलु ।
मीयिड्लु जतनालु मीरु चेसुकोनक
पायक दूरेरेल प्रतिलेनि विड्डनु ।।

3. अ. सं. ३–३२६ वीडे वेन्न दोग तोलवम्मा...।।

4. अ. सं. २–२७६ पालदोंग बट्टि पाडेरु ब्रह्मादुलु,
रोल गट्टिन वानि वाडेरु ।

5. अ. सं. ५–५७ विड्मनवो रोलु विड्मनवो तल्लि
विड्मनवो वेग वेरचीनि बालुडु ।।

कृष्ण और बलराम को साथी गोप बालकों के साथ गांव में खेलते फिरते देखकर व्रज के सब नर-नारी उनके रूप-लीला-सौंदर्य पर मुग्ध होकर आपस में कभी ऐसी चर्चा करते हैं कि "देखो, देखो, वे ही राम और कृष्ण हैं। गांव में हर कहीं ये ही दीखते हैं। बड़े बड़े काम करते फिरते हैं। कृष्ण छोटा है और राम बड़ा है, लेकिन दोनों यमल जैसे लगते हैं। माखन-चोरी में दोनों बराबर हैं।"[1] कृष्ण और बलराम दोस्त-सखाओं के साथ घर-बाहर कितने ही प्रकार के खेल खेलते हैं। कभी गिल्ली डंडा खेलते हैं तो कभी गेंद का खेल खेलते हैं। अन्नमाचार्य इस संदर्भ में 'बिल्लिगोटलु', 'पुट्ठचेंड्लु', 'समुद्र बिल्ललु', 'सिरिसिंगन वत्तुलु' जैसे कितने ही खेलों की सूची देते हैं।[2] अन्नमाचार्य कृष्ण के विभांडक के साथ आंखमिचौनी खेलने का विशेष उल्लेख करते हैं, जो उक्त मुनि के साथ भगवान कृष्ण की आध्यात्मिक आंखमिचौनी का मात्र रूपक है।[3] कभी कृष्ण और बलराम अपने साथी-संगियों के साथ यमुना-ह्रद में जाते हैं और वहां पानी में और नदी के रेतीले किनारे पर तरह तरह के खेल खेलते हैं।[4] साथ साथ रास्ते से गुजरनेवाली गोपियों से छेड़छाड़ भी करते जाते हैं।[5]

इस बीच में कृष्ण या बलराम के हाथ एक एक करके कई राक्षस मारे जाते हैं। केशि, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, व्योमकासुर और प्रलंबासुर का अंत हो जाता है। इंद्र का गर्व चूर चूर हो जाता है। माया रचकर ब्रह्मा खुद माया के शिकार बन जाते हैं। कालीय नाग का विष उतर जाता है।

---

1. अ. सं. ८–४ एक्कड जूचिन वीरे यिंटिंटि मुंगिटनु
पेक्कु चेतलु सेसेरु पिलुवरे वालुल ॥
पिन्नवाडु कृष्णुडु पेद्दवाडु रामुडु
वन्ने निद्दरमडल वले नुन्नारु ।
वेन्नलु दोंगिलृदुरु वीडु वाडु नोक्कटे
पन्नुगडै बच्चिनारु पट्टरारु वालुलु ॥
2. अ. सं. १०–१७२
3. अ. सं. ८–१७९ तगु विभांडकुनितो दागिलि मुच्चि लाडितिवि ।
4. अ. सं. ५–१०८ पसुल गाचुचु गोल्ल पड्चुल यमुनलो
इसुक चल्लिन चेतुलिविये वो ।
5. अ. सं. ३–१०० गोल्ल चल्लंटने यक्कुनं वोयमनेवु
चेल्लेंबो गोल्लवारित चेडबोयेरा ।
गोल्लुवेसे यलकल कोप्पुनने मुडिचिन
मल्ले पूवु लेल नीकु मनसाये निपुडु ॥

दावाग्नि देखते देखते शांत हो जाती है।[1] कृष्ण यथापूर्व अपने दोस्तों से खेलते ही रहते हैं। कभी मुरली बजाते हैं तो कभी किन्नरी वाद्य बजाते हैं। सवेरे उठकर छाक लिये जंगल जाते हैं और शाम को गोधन के साथ मनमोहन रूप लिये आते हैं।[2] अन्नमाचार्य इस अवसर पर कहते हैं कि क्या इतनी महिमाएं देखकर भी उस समय के लोग कृष्ण को भगवान नहीं समझ सके?[3] ऋषि-मुनियों से उनकी पत्नियां ही अधिक चतुर व समझदार साबित हुईं।[4] खैर, मैं उस समय कहां व कैसा रहा था, कुछ मालूम नहीं, लेकिन उस समय में कोई बछड़ा बनकर रहता तो कितना अच्छा होता। व्रज वनिताओं में भी एक होता तो अब तक मेरी मुक्ति कभी हुई होती।[5]

व्रज की शृंगार लीलाओं के वर्णन में भी अन्नमाचार्य के कई पद मिलते हैं, लेकिन उनमें दान लीला के पद ही सर्वाधिक हैं। चीरहरण, रासक्रीडा, मान-लीला आदि की तो सिर्फ सूचनाएं मिलती हैं। आगे शृंगार रस की चर्चा करते समय हम उन पदों के बारे में भी चर्चा करेंगे।

४२.१.२ सूरदास का वात्सल्य वर्णन :

सूरदास वात्सल्य का कविसाम्राट हैं। यों कहें तो वे हिन्दी के प्रथम वात्सल्य कवि हैं, और वात्सल्य वर्णन के विस्तार व गांभीर्य के आधार पर भी उन्हीं को सर्वश्रेष्ठ वात्सल्य कवि मानना पड़ता है। 'वात्सल्य के भीतर की

---

1. अ सं. ८–१७९, ८–२७५
2. अ. स. ४–१४८
3. अ. सं. ५–३२८ एल मोसपोयिरोको आकालपु वारु
 बालकृष्णुनि बंटुलै ब्रतूक वद्दा।
 पसुलु गाचेवानि ब्रह्म नुतिचे नंटेनु
 दशल देवुडेनि तेलिय वद्दा।
 शिशुवु गोवर्धनाद्रि चेत बट्टि नेत्तेनंटे
 कोसरि यितनि पादाले कोलुव वद्दा।
4. अ. सं. ८–२७७
5. अ. सं. २–१२
 अय्य्यो येमरिना नप्पुडेमयि वुंटिनो, अय्येड नीदासिनैते आदरिंतु गा।
 अलनाडु वालुडवै आवुल गाचु वेल, चिल्लर दूडनैते चेरिकातुवुंगा।
 वल्लेगा विट्टुडवै रेपल्ले लो नुंडेनाडु, गोल्लेतनैना नन्नु कूडुकोंदुवुगा।
 ... ... , मोर दोपुन यिन्नाल्लु मोसपोतिगा।

जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी और कोई नहीं।'[1] सचमुच वे इसका कोना कोना झांक आये। लेकिन सूर का वात्सल्य उनकी भक्ति का ही रूपांतर है। वल्लभ संप्रदाय में बालकृष्ण भक्ति और वात्सल्यासक्ति का बड़ा महत्व है। साधक कृष्ण-भक्त कवि नंद, यशोदा, आदि के साथ हृदयसाम्य व तादात्म्य स्थापित करके अपने 'प्रभु' कृष्ण की बाल-लीलाओं को भावनालोक में नज़दीक से देखते रहते हें और हर्षोन्मत्त होकर अपने हृदय के भावों को भी व्यक्त करते रहते हैं। सूर का वात्सल्य इसी तरह की भक्तिसाधना है। वे भगवान के बल-शीलों पर प्रगाढ विश्वास रखते हुए भी उनके सौंदर्यपक्ष से ज्यादा रुचि रखते हैं। अतएव उनके वात्सल्य वर्णन में हमें कृष्ण का लोकरंजनकारी रूप ही अत्यंत विशद रीति से चित्रित हुआ मिलता है, जब कि उनका लोकसंग्रहकारी रूप प्रासंगिक व इतिवृत्तात्मक ढंग से वर्णित हुआ मिलता है। सच तो यह है कि कृष्ण के लोकसंग्रहणशील पर सूर का इतना प्रवल विश्वास है कि वह उनके मत में सुनिश्चित, सब को परिचित और सर्वस्वीकृत तथ्य है, जिसका वर्णन यदि हो तो केवल माहात्म्य कथन केलिए ही हो सकता है। यद्यपि सूर के बालकृष्ण के लोकरंजनकारी पक्ष के चित्रण में भी माहात्म्य कथन, महत्व सूचना या भक्तिभाव की व्यंजना जैसी बातें अवश्य मिलती हैं, तो भी वहां ऐश्वर्य के रहते हुए भी मानवीयता अधिक झलकती है। बालकों के स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक रूप विलासों के चित्रण के साथ साथ भक्तकवि सूर में मातृ हृदय का भी बेजोड़ चित्रण मिलता है। बालकृष्ण तो मां-वाप के ही नहीं, बल्कि व्रज के सभी नारियों के वात्सल्य का आलंबन है। उनका रूप सर्व सम्मोहनकारी है।

बलि गइ बालरूप मुरारि।
पायि पेंजनि रटति रुन-झन, नचावति नंदरानि।
कबहुं हरि कौं लाइ अंगुरी, चलन सिखवति ग्वारि।
कबहुं हृदय लगाइ हित करि, लेत अंचल डारि।
कबहुं हरि कौं चितै चूमति, कबहुं गावति गारि।
कबहुं ले पाछें दुरावति, ह्यों नहीं बननवारि।
कबहुं अंग भूषण बनावति, राइ लोन उतारि।
सूर सुर नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि॥[2]

---

1. सूरसागर, प. रामचंद्र शुक्ल, पृ १६७
2. सूरसागर, पद ७३६

कृष्ण जन्म का अवसर भक्त कवि सूरदास के मत में त्रिलोक मंगलकारी शुभ समय है। भादों महीने के कृष्ण पक्ष में, आधीरात के समय, जब आसमान घनाच्छादित और जमीन सूची-भेद्य-अंधकार से आवृत थे, कंस की कारा में कृष्ण का प्राकट्य हुआ। देवकी को कृष्ण का चतुर्भुज रूप प्रत्यक्ष हुआ। परिस्थितियां झट बदल गयीं। कारागृह के द्वार खुल गये। पहरेदार गहरी नींद में गाफिल थे। कृष्ण को गोकुल पहुंचा दिया गया। महात्म्य का प्रदर्शन कारागार में देवकी के समक्ष हुआ, किंतु वात्सल्य परिपाक का क्षेत्र यशोदा के सामने खुला।

> जागी महरि पुत्र मुख देखौ, पुलकि अंग उर में न समाइ।
> गद्‌गद कंठ, बोल आवै, हर्षवंत ह्वै नंद बुलाइ॥[1]

यह हर्ष नंद और यशोदा का ही नहीं, सब का है, सभी के पुण्यफल आज कृष्ण के रूप में प्रकट हुए हों, झगरिन नेगी, वंदीजन, सूत, मागध, ऋषि-मुनि, याचक, ब्राह्मण, व्रज के समस्त नर-नारी हर्षोन्मत्त होकर बारी बारी से आकर नंद-यशोदा को आशीर्वाद व बधाइयां देते हैं। भला, अब भक्त कवि कैसे दूर रह जाते। वे भी नंद के घर ढाढी के रूप में पहुंचते हैं। उनकी अभिलाषाएं मां-बाप की चिर अभिलाषाओं से कम नहीं।

> जसुमति सुत अपनें पाइनि चलि, खेलत आवै आंगन।
> जब हंसि कै मोहन कछु बोलै तिहिं सुनि कैं घर जाऊं।
> द्वारै रहौं, देहु इक मंदिर, स्याम सुरूप निहारौं॥[2]

व्रज की सभी नारियां कृष्ण-जन्म की खबर सुनते ही साज-शृंगार के साथ नंद के यहां जाती हैं। उनके सामूहिक गमनागमन से व्रज की गली गली की शोभा बढ़ गयी है।

> सोभा सिंधु न अंत लही री।
> नंद भवन भरि पूरि, उमंगि चलि, व्रज की वीथिनि फिरति बही री॥[3]

उधर नंद भवन की शोभा अवर्णनीय है। परिवार व परिचारकों का कोलाहल ऊहातीत है तो दर्शकों का हर्ष अपार है। जन्मोत्सव से संबंधित आचारों व अनुष्ठानों का सूर ने पूरा पूरा वर्णन किया है। 'बेगिहिं नार छंदि बालक की, जाति बयारि भराई'[4] कहकर यशोदा झगरिन से बिगड़ती है तो 'मनिमय जटित

1. सूरसागर, पद ६३१
2. सूरसागर, पद ६५३
3. ,, पद ६४७
4. ,, पद ६३४

हार ग्रीव कौ, वहै आजु हौं लैहौं'[1] कहकर झगरिन लड़ती है। नारियां दही, रोचन, दूब लेकर चलती हैं तो नवेलियां साथिया रखने लगती हैं। एक ओर से मांगलिक ध्वनि हो रही है तो दूसरी ओर से सोहिला गाया जा रहा है। नाथिन सुहागिनों के पैरों में महावर दे रही हैं। बढ़ई पालना लिये आ रहा है। लोरी गीतों की गूंज हो रही है। शिशु कृष्ण पालने पर झूल रहे हैं।

"जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलरावै, मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल की आउ निदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न वेगि सों आवै, तो को कान्ह वुलावै।
कवहुं पलक हरि मूंद लेत हैं कवहुं अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै।
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरै गावै॥"[2]

वालकृष्ण के बढ़ने के क्रम विकास को लेकर सूर ने एक से एक अनूठे पद रचे हैं। पालने में लेटे हुए कृष्ण कभी अपने रंग में आप यों खेलते हैं,

"कर गहि अंगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि हरषि अपनै रंग खेलत॥"[3]

वालक उलट पड़ता है तो माता का आनंद वारपार नहीं जानता।

"महरि मुदित उलटाइ कै मुख चूमन लागी।
चिर जीवौ मेरो लाडिलै, मैं भई समागी॥"[4]

फिर माता का अभिलाषी हृदय बालक को अभी बड़ा देखना चाहता है।

"जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटरुनि रेंगै, कब धरनी पगु द्वैक धरै।
कब द्वै दांत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख वचन भरै।
कब नंदहि बाबा करि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरौ अंचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसौं झगरै॥"[5]

---

1. सूरसागर, पद ६३३
2. सूरसागर, पद ६६१
3. ,, पद ६८१
4. ,, पद ६८६
5. ,, पद ६९४

मां की अभिलाषाएं जैसे जैसे पूरी होती जाती हैं वैसे वैसे उसके हृदय का आनंद भी अधिकाधिक होता जाता है ।

१) सुत मुख देखि जसोदा फूली ।
हरिषित देखि दूध की दतियां प्रेम मगन तन की सुधि भूली ।
बाहिर तैं तब नंद बुलाये, देखौं धौं सुंदरसुखदाई ।
तनक-तनक-सी दूध दंतुलिया देखौं, नैन सफल करौं आई ॥[1]

२) माई बिहरत गोपालराइ मनिमय रचे अंगनाइ ।
लटकत पटरिंग नाइ घुटरुनि डोलै ।
निरखि निरखि अपनौ प्रतिबिंब हंसत किलक औं ।
पाछै चितै फेरि फेरि मैया मैया बोलै ॥[2]

३) चलत देखि जसुमति सुख पावै ।
ठुमकि ठुमकि धरनी पर रेंगत जननिंहि खेल दिखावै ।
देहरी लौ चलि जात बहुरि कै फिरि इतही को आवै ।
गिरि गिरि परत बनत नहिं नाघत सूरदास सुख पावै ॥[3]

इधर इन शिशुक्रीडाओं में नंद-यशोदा आनंद मग्न हैं तो उधर कंस प्राण-भय से कृष्ण के वध केलिए तरह तरह के उपाय सोचने में निद्रा विहीन है । सूर ने असुरवध संबंधी सभी कथाओं को कंस के प्रोत्साह मूलक बताया है । असुरवध तो होते हैं, किंतु व्रजवासियों पर उन अद्भुतमयी घटनाओं का प्रभाव कुछ क्षणों तक ही फैला रहता है । कृष्ण के मुंह में सारे ब्रह्मांड के दृश्य देखकर भी यशोदा जो पहले विस्मयातिरेक में जड़ीभूत-सी होती है, अगले क्षण टोना-टोटका करती फिरती है ।

मुख में तीन लोक दिखराए, चकित भई नंद रनियां ।
घर घर हाथ दिखावति डोलति, बांधति गरै बघनियां ॥[4]

सूर ने बालकृष्ण के नामकरण, अन्नप्रासन, वर्षगांठ, कनछेदन जैसे सभी संस्कारों का विशद वर्णन किया है । सब के सब संस्कार बड़े उत्साह से मनाये जाते हैं । सभी में मातृ-हृदय की छवि सफल झलकती है । कन-छेदन के समय बालक के कष्ट के अंदाज से ही मां की आंखों में पानी भर जाता है, किंतु वह

---

1. सूरसागर, पद ७००
2. सूरसागर, पद ७१९
3. सूरसागर, पद ७४४
4. सूरसागर, पद ७०१

हर्ष का समय है, मना नहीं सकती ।[1] बालक को पाकर नंद यशोदा भी कभी बालकों से होड मचाते खेलते मिलते हैं । इधर से बालक को नंद बुलाते है तो उधर से यशोदा बुलाती हैं ।[2] अभी यशोदा कृष्ण को चलना सिखाती है तो कभी नंद कृष्ण का हाथ पकड़कर चलना सिखाते हैं ।[3] यशोदा कभी 'नचि नचि सुतहि नचावई छवि देखत जियते'[4] तो कभी 'जेंवत नंद कान्ह इक ठौरे'[5]। एक बार यशोदा चांद को दिखाकर कान्ह का मन बहलाती है[6] तो और एक बार अन्य समवयस्क बालकों को दिखाकर कृष्ण को स्तन्यपान छुडाती है ।[7] 'कजरी कौ पय पियहु लाल, जासो तेरी बेनि बढ़ै'[8] कहकर कभी वह बालसहज स्पर्धा व अभिलाषा से लाभ उठाती है कभी 'दूरि खेलन जनि जाहु लला मेरे, बन में आये हाऊ'[9] कहकर आंगन छोड़कर खेलने जानेवाले बालक कृष्ण को झूठमूठ डर दिखाकर, अपने सहज शंकाकुल हृदय को कुछ शांत कर लेती है ।

कृष्ण बड़े होने पर अपने घर में ही नहीं, अड़ोस पड़ोस के घरों में भी जाकर दूध, दही, मक्खन की चोरी करने के आदी बन जाते हैं । वे खाते हैं कम, लेकिन बिखर देते हैं ज्यादा । कभी अकेले चोरी करने निकलते हैं तो कभी संगी-साथी लड़कों की एक सेना को साथ लिये जाते हैं । बालक नहीं मिले तो बंदरों को दही-माखन खिलाते हैं । 'नित प्रति हानि होत गोरस की' तो ग्वालिनों को यशोदा से शिकायत करनी पड़ती है । लेकिन यशोदा का मातृहृदय उन बातों में विश्वास नहीं करता । वह अपने बालक के पक्ष में ही झुककर गोपियों से कहती है ।

"मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधि की चोरी ।
हाथ नचावति आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी ।
कब सीकै चढ़ि माखन खायौ, कब दधि मटकी फोरी ।
अंगुरी करि कबहूं नहिं चाखत, घर ही भरी कमोरी ।।[10]

लेकिन ग्वालिनों की फिरयाद और कुछ आगे बढ़ती है । कोई कहती है कि कृष्ण ने 'बांह पकरि चोली गहि फारी भरि लीन्ही अंकवारि ।'[11] यशोदा को ऐसी मदमाती इटराती गोपियों की बातों पर जरा भी विश्वास नहीं होता । वह

---

1. सूरसागर, पद ७९८
2. सूरसागर, पद ७१६
3. „ पद ७३३
4. „ पद ७३३
5. „ पद ८४२
6. „ पद ८१३
7. „ पद ७१३
8. „ पद ७९२
9. „ पद ८३९
10. „ पद ९११
11. „ पद ९२४

उन्हीं को कोसने लगती है। लेकिन कोई खाली मटकी लाकर दिखावे तो क्या किया जाय? 'करि मनुहर कोसबे के डर भरि भरि देत जसोदा माता।'[1] जब यह शिकायतों का तांता टूटता-सा न लगा तो वह क्षुब्ध होकर कृष्ण को ऊखल से बांधती है। अब ग्वालिनों को पछतावा होता है। वे कृष्ण को उस स्थिति में कैसे देख सकतीं? वे अब यशोदा की निंदा करने लगती हैं, तो यशोदा खीझ उठती है और कहती है,

"कहन लगी अब बढ़ि बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुम्हिं बंधायौ, तनकहि माखन खात।।"[2]

कृष्ण के गोचारण के प्रसंग को लेकर सूरदास ने सख्य और वात्सल्य दोनों की गंगा-जमुनी धारा बहाई है। बालकों के सहज क्रीडा-कौतूहल, खेल खेल में स्पर्धा, हारजीत के आनंद व क्षोभ, परस्पर आकर्षण, चाह व स्नेह जैसे सभी भावों का एक विशाल चित्र-पट यहां मिलता है। साथी बालकों और बलराम से तंग आकर कृष्ण कभी मां के पास यह शिकायत लिये आते हैं कि

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।
मो सो कहत मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ।
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत श्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत, हंसत सबै मुसकात।।"[3]

कभी खेलने में झगड़ा होता है, तो बालहृदय में कितना क्षोभ उठता है!

खेलन में को काको गुसैयां।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैया।
जाति पांति हमते बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैया।।[4]

जंगल में गौओं को चराते फिरते वक्त भाइयों का परस्पर प्रेम भी कभी कभी खूब दर्शनीय मिलता है। बलराम कृष्ण की गायें घेरते हैं और उनको वन के फल तोड़कर देते हैं।

मैया री मोहिं दाऊ टेरत।
मो को वन फल तोरि देत है, आपुन गैयन घेरत।।[5]

---

1. सूरसागर, पद ९५०
2. सूरसागर, पद ९७३
3. ,, पद ८३२
4. ,, पद ८६३
5. ,, पद १०४२

ग्वालबालों के प्रति कृष्ण की ममता भी दर्शनीय है। वे सब को बुलाकर खाने बैठते हैं और 'ग्वालनि कर तें कौर छुड़ावत।

जूठौ लेत सबन के मुख कौ, अपने मुख लै नावत।
षट्रस के पकवान धरे सब, तिनमें रुचि नहिं लावत।
हा हा करि करि मांग लेत हैं, कहत मोहिं अति भावत ॥[1]

सूर ने वात्सल्य के वियोग पक्ष का भी गुरु गंभीर वर्णन किया है। अक्रूर का आगमन ही यशोदा को पुत्र वियोग की आशंका से संत्रस्त बनाता है।

मेरौ माई निधनी कौ धन माधौ।
बारंबार निरखि सुख मानति तजति नहीं पल आधौ।
छिनु छिनु परसति अंकम लावति, प्रेम प्रकृत ह्वै बांधौ।
करि है कहा अक्रूर हमारौ, दै हैं प्रन अबाधौ।
सूर स्याम धन हौं नहिं पठवौं, अबहिं कंस किन बांधौ ॥[2]

लेकिन जब ऐसा लगता है कि कृष्ण अक्रूर के साथ अवश्य जायेंगे तब वह एकदम दीन और विकल बन जाती है। वह कहती है, 'है कोऊ हितू व्रज में हमारौ, चलत गुपालहिं राखै।'[3] बेचारी मां की व्याकुलता को कौन समझ पाए। वह कहती है,

जिहि मुख तात कहत व्रजपति सो, मोहि कहत है माइ।
तेहि मुख चलन सुनत जीवित हौं, विधि सौं कहा बसाइ।[4]

चलते समय कृष्ण से दीनता और विवशता भरे शब्दों में वह कहती है,

मोहन नैंकु बदन तन हेरौ।
राखौ मोहिं नात जननी कौ, मदन गुपाल लाल मुख फेरौ।
बिछुरन भेंट देहु ठाढ़े ह्वै, निरखौ घोष जनम के खेरौ ॥[5]

कृष्ण को मथुरा में छोड़कर नंद वापस आते हैं, तो भारी दिल को लिये ही आते हैं, लेकिन उनको अकेले आये देखकर यशोदा का दुख क्रोध में बदल जाता है। वह नंद को जी भर कर बुरा-भला कहने लगती है।

---

1. सूरसागर, पद १०८६ 2. सूरसागर, पद ३५९१
3. „ पद ३५९२ 4. „ पद ३५९५
5. „ पद ३९०८

जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै ।
फूटि न गई तुम्हारी चारौं, कैसे मारग सूझै ।
इक तो जरी जात विन देखें, अब तुम दीन्हौं फूंकि ।
यह छतिया मेरे कान्ह कुंवर बिनु फटि न भई द्वै टूकि ।
धिक तुम, धिक ये चरन अहौ पति अध बोलत उठ धाए ।
सूर श्याम बिछुरन की हम पै, दैन बधाई आए ।।[1]

नंद, जो खुद दुखी है, यशोदा की बातों से विगड़ जाते हैं और यह कहकर उसको उलाहना देते हैं कि

"तब तू मारि वोई करति ।
रिसनि आगें कहि जु आवति, अब लै भांडे भरति ।
रोस कै कर दांवरी लै फिरति घर घर धावति ।।"[2]

दंपतियों की इस परस्पर निंदारोपण के मूल में वात्सल्य-जन्य वियोग दुख की कितनी विवशता झलक रही है! यशोदा को अब मथुरा में देवकी के यहां दासी बन कर रहना भी पसंद है, लेकिन कृष्ण से दूर व्रज में रहना नहीं। अब व्रज में कैसे रहा जाता। 'यद्यपि मन समनावत लोग, शूल होत नवनीत देख, मेरे मोहन के मुख जोग।'[3]

उद्धव के द्वारा संदेश भेजते वक्त वह देवकी से कहती है, 'हो तो धाय तिहारो सुत कौं' लेकिन, 'प्रात उठत मेरे लाल लड़ैं तिहि माखन रोटी भावै।'[4] वह कृष्ण से कहती है, 'जहां रहौ वहां नंद लाड़लौ, जीवौ कोटि वरीस।'[5]

४.२.१.३ तुलना और निष्कर्ष :

सूरदास का वात्सल्य चित्रण अत्यंत विस्तृत, विशद और विविध संयोग-वियोग दशाओं की मनोवृत्तियों से परिपूर्ण है। अन्नमाचार्य की रचना में वात्सल्य के संयोग पक्ष का ही थोड़ा बहुत चित्रण हुआ है, किंतु उसके वियोग पक्ष का वहां सर्वथा अभाव है। वात्सल्य भाव की गंभीरता की पहचान में दोनों एक ही तरह की कुशलता दिखा गये हैं, किंतु अन्नमाचार्य में उसका विस्तार नहीं हो पाया है। उसी तरह गोचारण प्रसंग को लेकर सूर ने जो बालसहज क्रीडा-कौतुक

---

1. सूरसागर, पद ३७५२
2. सूरसागर, पद ३७५६
3. सूरसागर, पद ३७८५
4. „ पद ३७९४
5. „ पद ४७१०

व केली विनोद के रूप में सख्य भाव का जितना विशद चित्रण किया है, वह भी अन्नमाचार्य की रचना में उतना नहीं मिलता। दोनों भक्तकवि थे, अतः दोनों के वात्सल्य चित्रण में मूल भक्ति भाव की झलक तो बीच बीच में अवश्य मिलती है, किंतु सूर में वालकृष्ण की लीला-माधुरी अलौकिक की अपेक्षा मानव सुलभ एवं सामान्य मानव के बुद्धिग्राह्य रूप में ही अधिक चित्रित हुई मिलती है, जब कि अन्नमाचार्य में उसकी अलौकिक एवं ज्ञानगम्य रूप का भी समान रूप से चित्रण मिलता है। असुर-वध वाले प्रसंगों को सूर ने इतिवृत्तात्मक शैली में विवरणात्मक ढंग पर ही सही, पूरा पूरा ब्यौरा देकर रचा है, किंतु अन्नमाचार्य ने कई जगह उनकी सूचना मात्र देकर माहात्म्य व्यंजन में अधिक रुचि दिखायी है। सूर और अन्नमाचार्य दोनों में वात्सल्य का वर्णन शृंगार की पूर्व-पीठिका के रूप में काम देता है। दोनों की गोपियों में शृंगार भावना की जागृति को कृष्ण के बालरूप व द्युति के निकट संपर्क व साहचर्य का फल दिखाया गया है। माखन चोर कृष्ण को दोनों ने गोपी-मानस चोर भी दिखाया है। दोनों भक्तकवि अपने इष्टदेव या प्रभु के दक्षिण नायकत्व की झांकी उसके बालरूप में ही साक्षात्कृत करके संतुष्टचित्त हुए हैं।

४.२.२.० शृंगार रस का वर्णन :

नाट्याचार्य भरत मुनि के अनुसार लोक में जो कुछ पवित्र, श्रेष्ठ और उज्ज्वल दर्शनीय है, वही शृंगार है।[1] सृष्टि के मूल में शृंगार का ही तत्व निहित है। शृंग कामदेव का उद्बोध है।[2] 'एकोहं बहुस्याम्' वाली कामना का प्रेरक व प्रवर्तक शृंगार ही है। अन्योन्य निष्ठा, आत्मत्याग और अहंभाव विसर्जन जैसे उत्तम धर्म या गुण नर-नारी संबंध रूपी शृंगार में सहज साध्य होते है। जीवन की व्यापकता और व्यस्तता की सार्थकता शृंगार में ही निहित हैं। ऐसा कोई भी भाव या अर्थ नहीं है जो शृंगार से उज्जीवित न हो। तभी शृंगार को रसराज कहा गया है। भक्ति में शृंगार की योजना उसके सर्वश्रेष्ठ साधना रूप होने के कारण से ही बहुधा उपदिष्ट एवं आदर्श रूप में प्रस्तावित है। भगवान से निकटतम संबंध को स्थापित करने की साधना में एक एक मंजिल पार करते जानेवाले साधक अंत में दांपत्य संबंध रूपी उस मंजिल पर पहुंचता है, जहां वह अपने को अपने प्रिय भगवान के अत्यंत निकट, अवियुक्त और आंतरंगिक देख

---

1. यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्य उज्ज्वल दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपनीयते। ना. शा. अ. ६–४०४१

2. शृंगहि मन्मथोद्भेदः तदागमन हेतुकः। साहित्य दर्पण, ३–१४३

पाता है। वहां उसे अपने प्रियतम भगवान से अलग नहीं, किंतु आभ्यंतर संस्थिति की अनुभूति मिलने लगती है। उस स्थिति में भक्त अपने और प्रियतम में कोई भेद नहीं देखता। वह अपने अस्तित्व को भूल जाता है। वह तन्मयी बन जाता है और तदेकांत भाव का आनंद पाने लगता है। यह मुक्ति या मोक्ष से अलग या कम नहीं। यही प्रेमानंद भक्त का चिरवांछित भूमानंद है।

हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों की भक्ति-साधना इसी आदर्श पर गुजरी थी। अतः उनकी रचना में शृंगार का विस्तृत वर्णन मिलता है। अन्नमाचार्य के अब तक प्राप्त १५ हज़ार पदों में लगभग १३ हज़ार तक शृंगार के ही संकीर्तन हैं। सूर की भी अधिकांश रचना शृंगार मंडित है। आत्माश्रय ढंग पर होने से अन्नमाचार्य की रचना में शृंगार के साथ भक्तिभाव की लगातार व्यंजना होती रहती है। कथा निरपेक्ष होकर, केवल भावाश्रित प्रसंग-प्रवण-मुक्तक रचना होने से उसमें शृंगार को अपने दिव्य व अलौकिक रूप को लौकिकता से बचाये रखने की खूब सुविधा मिली। कथाश्रित होने से सूर की रचना में शृंगार पर लौकिकता की छाप अवश्य पड़ गयी है, किंतु उसे इस दोष से मुक्त करने का प्रयत्न तो सूर में यथेष्ट रूप में मिलता है। आलवारों के आदर्श पर चलने पर भी अन्नमाचार्य की रचना में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का विस्तार से वर्णन हो पाया है, जब कि आलवार प्रबंधम् में संयोग शृंगार को कम और वियोग शृंगार अथवा विरह को अधिक स्थान दिया हुआ मिलता है। भागवत के अनुसरण में चलकर भी सूरदास ने शुद्धाद्वैत की मान्यताओं को दृष्टि में रखकर संयोग और वियोग दोनों का वर्णन करने पर भी पहले की अपेक्षा दूसरे को अधिक प्रश्रय दिया है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा की जीवात्मा से सदा अवियुक्त संबंध माना जाता है। अतः वहां प्राकृत रूप से वियोग की और अप्राकृत रूप से संयोग की मान्यता स्वीकृत है। वहां उद्दाम विरह की कल्पना संभव है, न कि चिर वियोग की। अन्नमाचार्य की कविता में शाश्वत वियोग के बदले उत्कट विरह का ही वर्णन मिलता है। फिर, प्राणांतक विरह के वर्णन में भी पद के अंतिम चरण में संयोग रूप स्वीकृति की व्यंजना की जाती है। सूर का आदर्श इससे कुछ भिन्न लगता है। गोपियों व राधा का प्रेम चिर वियोग में परिणत होता है। कुरुक्षेत्र मिलन से परिस्थिति में ज्यादा अंतर नही पड़ता। मिलन-आशा के रहते हुए भी वह वियोग करुण विप्रलंभ के बहुत निकट हो जाता है। लेकिन आचार्य वल्लभ के मत में विरह-ताप भगवान की धर्मऊष्मा है। रसरूप भगवान के संबंध से या तन्निमित्तक होने से वैसा ताप

भी रस रूप माना जाता है ।[1] इसकी मुक्तिपर्यंत साधना को भगवद् भाव कहा जाता है ।[2] सूर का यही आदर्श है । लेकिन स्वीकृत दार्शनिक मान्यताओं के ऐसे अंतर रहने पर भी अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों कांताभाव की भक्ति का आदर्श मानकर साधना में निरत हुए, अतः दोनों की कविता में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के वर्णन में तीव्र अनुभूति और तन्मयता आ पायी हैं ।

४.२.२.१ नायक-नायिकाएं :

४.२.२.१.१ नायक श्री वेंकटेश्वर :

भक्तकवि अन्नमाचार्य का आलंबन तिरुपति में व्यक्त श्रीवेंकटेश्वर की अर्चामूर्ति है । यह विष्णु भगवान का अर्चावतार है, नकि लीलावतार । भक्त-कवि ने इसी को प्रत्यक्ष भगवान माना । इसी में विष्णु भगवान की समस्त विश्वलीला विहारों को साक्षात्कृत कर लिया और अपने दिल के उसी नायक को काव्य का नायक ठहराया । नायिका रूप में अपने को भावित करके नायक वेंकटेश्वर के दिव्य सुंदर रूप गुणों के वर्णन में वे कहते हैं कि 'लो, यह शृंगार का नव-सावयव-साकार रूप है ।[3] गोपांगनाओं के वक्षोजों पर सुशोभित कस्तूरी इसी की छाप है । महालक्ष्मी के अपांग-वीक्षणों में विलसित काजल की रेखा इसी की छाया है ।[4] यही माणिक्य-मणि-मंडित किरीट वाला, रत्नांगद-कटक-मणि-मुक्ताहार सुशोभित दिव्य शरीरवाला, स्मितिच्छटा विमिश्रित विमल माणिक्य-कुंडल-द्युति-प्रतिफलित सुस्निग्ध-चारु कपोलवाला मेरा प्रिय है ।[5]

---

1. अणु भाष्य, ४–२–११
   भगवतः एव धर्मऊष्मा विरह तापः इत्यर्थः । ... स्थायि भावात्मक रसरूप भगवत् प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तत् प्राप्तिजः तापः । ... स तापोऽपि रसरूप एव ।
2. अणु भाष्य, ३–४–५१
   एवं सति मुक्ति पर्यंत साधनम् भगवद्भाव इति निर्णयः ।
3. अ. सं. ११(१)-२५
   श्रीवेंकटाचल शृंगारमूर्ति नव सावयव साकार शरणु शरणु ।
4. अ. सं. ५–११२
   गोपांगनल मेरुगु गुब्बचन्नुल मीद, चुपट्टु कम्म कस्तुरिपूत इतडु ।
   जलधिकन्यापांग ललितेक्षणमुललो, कलसि वेलुगुचुनुन्न कज्जलंबितडु।
5. अ. सं. १२–८९
   आतडे पो चेलि मा यातडु......वेलुगोंदी नदे चूडवे मा यातडु ।

फिर एकांत में नायक से वह नायिका (कवि) यों कहती है ।

सदय मानस सरोजात मादृश वशंवद
मुदाहं त्वया वंचनीया किम् ।।
जलधि कन्यापांग चारु विद्युल्लता
वलय वागुरि कांत वन कुरंग ।
ललित भवदीक्षा विलास मनसिज बाण
कुलिशपातैरहं क्षोभणीया किम् ।।
धरणी वधू पयोधर कनक मेदिनी-
धर शिखर केलि तत्पर मयूर ।
परम भवदीय शोभन वदन चंद्रांशु
तरणि किरणैरहं तापनीया किम् ।।
चतुर वेंकटरमण संभावयसि संप्रति
यथा तत् प्रकारं विहाय ।
अतिचिरमनागत्य हंत संतापकर
कितव कृत्यैरहं खेदनीया किम् ।।[1]

४.२.२.१.२. श्री कृष्ण :

सूरदास का नायक हैं श्रीकृष्ण, जो स्वयं भगवान है । वह पुरुषोत्तम पर-ब्रह्म और अवतार पुरुष दोनों हैं । विरुद्ध धर्माश्रयवाले इसी अलौकिक नायक में सूर ने एक ओर वात्सल्य का आलंबन पाया तो दूसरी ओर शृंगार का । गोपियां कृष्ण के बालरूप पर ही मुग्ध हैं । उनकी चाह है कि कृष्ण एक बार मिलें तो उनको भुजाओं में बांधकर रख लें । कृष्ण के सम्मोहनकारी रूप के वर्णन में सूरदास ने एक से एक अनूठे कितने ही पद रचे हैं ।

सोभा कहत कही नहिं आवे ।
अचवत अति आतुर लोचन पुट मन न तृप्ति को पावै ।
सजल मेघ घनश्याम सुभग वपु तडित वसन वनमाल ।
सिखि सिखंड वनधातु विराजत सुमन सुगंध प्रवाल ।
कछुक कुटिल कमनीय सघन अति गोरज मंडित केस ।
शोभित मनु अंबुज पराग रुचि रंजित मधुप सुदेस ।

---

1. अ. सं. ४–१६०

कुंडल किरन कपोल लोल छवि नैन कमल दल मीन ।
प्रति अंग अंग अनंग कोटि छवि सुन सखि परम प्रवीन ।
अधर मधुर मुस्क्यानि मनोहर करति मदन मन हीन ।
सूरदास जहां दृष्टि परत है होत तहीं लवलीन ।।[1]

सूर ने कृष्ण के रूप सौंदर्य के प्रभाव को जड-चेतन-मय सारे विश्व भर में परिव्याप्त देखा । कृष्ण को देखने की लालसा पशु-पक्षी, वनलता-गुल्म, सभी में व्यक्त है । सूरदास कहते हैं,

मोहन जा दिन वनहिं न जात,
ता दिन पशु पक्षी द्रुम बेलि बिनु देखे अकुलाते ।।[2]

कृष्ण की रूप छटा को पी पी कर भी नेत्र तृष्णा विरत या संतृप्त नहीं होते ।

नख सिख अंग अंग छवि देखत नैना नहिं अघाने ।
निसि वासर कटक ही राखे पलक लगाई न जाने ।
छवि तरंग अगनित सरिता जल लोचन तृप्ति न माने ।
सूरदास प्रभु की शोभा को अति व्याकुल ललचाने ।।[3]

माखन की हानि हो तो होवे, रूप निरखने का सुअवसर मिले, यही गोपियों का अभिलाषामय आनंद है ।

गोपिका अति आनंद भरी ।
माखन दधि हरि खात प्रेम सों, निरखत नारि खरी ।।[4]

४.२.२.१.३ नायिका अलमेलमंगा :

अन्नमाचार्य और सूर दोनों की रचनाओं में नायिका-बाहुल्य दीखता है । लेकिन प्रधान नायिका के रूप में अन्नमाचार्य ने श्रीवेंकटेश्वर की देवी अलमेलमंगा (पद्मालया, लक्ष्मी) को चुन लिया तो सूरदास ने परमपुरुष की प्रकृति राधा को ग्रहण किया । नायिका के स्वरूप व स्वभाव को व्यक्त करते अन्नमाचार्य कहते हैं कि वह सहज सुंदरी व सुकुमारी है । उसके अंग प्रत्यंग सुकोमल फूल जैसे हैं । बस, उन्ही से पति वेंकटेश्वर की पूजा करके वह उनके अनितर सुलभ वात्सल्य का वरदान पा चुकी । सखी बनकर नायिका से अन्नमाचार्य कहते हैं,

---

1. सूरसागर, पद १०९६ 2. सूरसागर, पद ३०२२
3. ,, पद २७४४ 4. ,, पद २२१६

"सखी, तुम देखो तो कमल दलों से पूजा होती है और जरा मुस्कुराओ तो कुंद कुसुमों से अर्चा होती है। तुम उसांस छोड़ो तो चंपा पुष्पों से पूजा होती है और अपने तन में पुलकें उठाओ तो जाती मुकुलों से अर्चना हो जाती है।"[1]

इस भक्त कवि के मत में नायिका को सौंदर्य प्रसाधन की आवश्यकता नहीं है।

"नायिका को आइना देखने की क्या जरूरत? उसका मुख खुद आइना है, जिस में वेंकटपति अपना रूप-सौभाग्य देख पाते हैं।[2] उसे आभरणों की क्या आवश्यकता? आभरणों को ही उसकी आवश्यकता है। उसके मुख का गहना केशपाश है तो उसकी चितवन स्वयं सौंदर्य का गहना है।[3] वह खुद लक्ष्मी है। अतएव ऐसा लगता है कि उसके अंग अंग में मणि-माणिक्यों की निधियां बसी हैं। उसका केश-कलाप नील माणिक्य राशि है और अधर विद्रुम रत्न है। वह जरा मुस्कुराती है तो मोती बरसते हैं और क्रोध करती है तो माणिक्य बिखर जाते हैं। ऐसी नायिका को पाकर ही वेंकटपति लखपति बन गये हैं।[4] नायिका का सौंदर्य पति वेंकटेश्वर का क्रीडोद्यान है और उसकी देह की सहज सुगंध उनके लिए पुष्पोद्यान है।"[5]

नायिका के रूप वैभव के वर्णन में अन्नमाचार्य के कितने ही पद मिलते हैं। सर्वत्र उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुमान आदि अलंकारों की छटा के साथ साथ कविपरंपरा-प्रसिद्ध उपमानों का प्रचुर, किंतु प्रौढ एवं समय, संदर्भ, पात्र

---

1. अ. सं. १२–९५ कलिकि नी कनुचूपु कलुव रेकुल पूज
   ललन नी नगवु मोल्लल पूज।
2. अ. सं. ३–२ अद्दमु चूचेवेल अप्पटप्पटिकिनि
   अद्दमु नी मोमु कंटे नपुरूपमा।
3. अ. सं. ३–७९ कलिकि नेम्मोमुनकु कवरीभरमु तोडवु,
   तलुकु जूपुलु चक्कदनमुनकु दोडवु
   ... ...
   लावण्यमुलकु नी ललन दा दोडवु॥
4. अ. सं. १२–२०७ नेरि गुरिसी ग्रोप्पुन नीलालु
   ... ...
   पगडालु वातेर बायक कुरिय।
5. अ. सं. ७-५२ यिति जव्वन वनान.........वेंकटेशु दंड॥

आदि विषयों के अनुरूप प्रयोग मिलता है। सौंदर्य के स्वभावसिद्ध वर्णन की अपेक्षा उसके प्रभाव का वर्णन अधिक मिलता है। वे एक जगह कहते हैं कि

"नायिका का सौदर्य सहज दुर्ग है, उसमें नायक वेंकटेश्वर अपने मदन-साम्राज्य का भार सुख से संभालते हैं। नायिका की दृष्टि मेघ-मध्यगत तडित्-रेखा-सी है, जो नायक के दिल का अंधेरा दूर करती है। उसका मुख चंद्रमा ही है और इसीलिए नायक के नैन-कुमुद नित्य प्रफुल्लित रहते हैं। नायक को एकांत स्थान ढूंढने का कष्ट है ही नहीं, क्योंकि नायिका का केश-कलाप खुद अंधेरा फैलाता है। नायिका की बाहु-लताएं प्रभु वेंकटपति की प्रणयलता से लिपट कर विहार कुंज का स्वयं संपादन करती हैं।"[1]

४.२.२.१.४ अन्य नायिकाएं :

अन्नमाचार्य की रचना में गोपिकाओं का प्रेम भी वर्णित है, लेकिन उनके स्फुट व्यक्तित्व या रूप वैभव के चित्र नहीं मिलते। गोपियों की तरह वे राधा का भी वर्णन करते हैं, किंतु उसको अकसर प्रणयकेलीरत विदग्ध नायिका के रूप में ही चित्रित करते हैं। वह स्वकीया और अष्ट महिषियों में एक बनकर दीखने पर भी अपने आध्यात्मिक-प्रतीक-स्वरूप से मुक्त नहीं हो पायी।

राधा माधव रति चरित मिदं, बोधावहं श्रुतिभूषणं।
गहने द्वावपि गत्वा गत्वा रहसि रतिं प्रेरयति सति।
विहरतस्तदा विलसंतौ विहृत गृहाशौ विवशौ तौ।
पुरतो यांतं पुरुषं वकुलैः कुरंटकै र्वा कुटजै र्वा।
परमं प्रहरति पश्चाल्लग्ना गिरं विनापि विकिरति मुदं।
लतागृह मेलनं नव सैकत वैभव सौख्यं दृष्ट्वा।
ततस्ततश्चरतस्तौ केलीव्रतचर्यां तां वांछंतौ।

---

1. अ. सं. १२–११२

अतिव जव्वनमु रायलकु बेट्टिन कोट, पति मदन सुख राज्य भारंबु निलुप।
कांत कनुचूपु मेघंबु लोपलि मेरुगु, कांतुनि मनंबु चीकटि वापनु।
इंति चक्कनि वदन मिंदु बिंबमु विभुनि, वंत कनुदोयि कलुवल जोक्क जेय।
अलिवेणि धम्मिल्ल मंधकारपु भूमि, कलिकि रमणुनकु नेकत मोसगनु।
पोलतिकि बाहुवुलु पूव दीवेल कोनलु, पोलसि प्राणेसु वलपुल लतल बेनचे।।

एवं विचरन् हेलाविमुखः श्रीवेंकटगिरि देवोयं ।
पावन राधा परिरंभ सुख श्री वैभव सुस्थिरो भवति ।।[1]

श्रीवेंकटेश्वर का आवास तिरुमल पहाड़ है । अतः वहां की भिल्ल, कोल, किरात जातियों की युवतियां भी अन्नमाचार्य की रचना में नायिकाओं के रूप में वर्णित हुई मिलती हैं । वे अकसर परकीया के रूप में चित्रित होती हैं । गोपियों की तरह इनको भी विदग्ध वाक्चतुरा, व्यंग्योक्ति निपुणा और प्रगल्भ व प्रौढ नायिकाओं के रूप में ही पाते हैं । दानलीला सरीखे कितने ही प्रसंग ऐसी नायिकाओं को केंद्रित करके वर्णित हुए हैं ।

४.२.२.१.५ सखी, दूती आदि :

नायिका की सखियां भी कभी अवसरोचित नायिकाएं बनकर सखी से नायक की सहचरी अथवा दूती से स्वयंदूती के रूप में बदलकर नायक से घनिष्टता प्राप्त कर लेती हैं । इनके प्रियसखी, आंतरंगिक सखी, नर्मसखी, दूती, परिचारिका जैसे कितने ही रूप मिलते हैं । लेकिन इनमें न किसी का नाम या धाम व्यक्त होता है । कवि भी अकसर इनमें एक हो जाते हैं । वे भी कभी खंडिता या मानिनी बनकर नायक से यों कहते मिलते हैं,

नालं वा तव नय वचनं, चेलं त्यज तव चेटी भवामि ।
भज भज ते प्रियभामां सततं, सुजनस्त्वं निजसुखनिलय ।
भुजरेखा-रति-भोगि भवसि किं, विजयी भव मद्विधि वदामि ।।[2]

कभी वे कहते हैं कि मैं वेंकटेश की दासी हूं । फिर चेटी के रूप में अपनी स्थिति को स्पष्ट करते खिन्न किंतु अनुरक्त हृदय लेकर नायक से वे कहते हैं कि

"जी, तुम दोनों (अलमेलमंगा और श्रीवेंकटेश्वर) सदा एक हैं, हमसे क्या मतलब, जो सेविकाएं ठहरीं । तुम्हारी बातें उसको सुनाना और उसकी बातें तुमसे बताना, यही न हमारा काम ! हां, ऐसा करने में कभी हम से थोड़ा अविनय हुआ हो, तो क्षमा करना । तुम कोई भेंट दो, उसे पहुंचायेंगी और वह कोई उपहार भेजे तो तुमको ला देंगी । बस, इतना ही न

---

1. अ. सं. १२–१६५
2. अ. सं. ४–१५५

हमारा काम! अगर इसमें कोई भूल हुई हो, माफ करना। आखिर हम तुम्हारे परिवार हैं न?"[1] हमें छोड़कर तुमसे भी नहीं रहा जाता।

"न चलतु वेंकटनाथ, मां विना
विचरणमपि ते वृथा वृथा।"[2]

४.२.२.१.६ नायिका राधा :

सूरदास की नायिकाओं में सर्वप्रधान है, राधा। राधा का आध्यात्मिक पक्ष तो सूर ने स्पष्ट किया कि वह परमपुरुष की नित्य सहचरी प्रकृति है। लेकिन काव्य में उसका वर्णन सहचरी, स्वकीया, परकीया, मानिनी, विरहिणी जैसे कितने ही रूपों में किया है। राधा अतीव सुंदरी है। प्रथम मिलन में ही, भौंरा-चकडोरी खेलते फिरने की अवस्था में ही, कृष्ण उसके रूप पर मुग्ध हो जाते हैं।

खेलन हरि निकसे व्रजखोरी।
गये स्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तहं राधा, नयन विशाल भाल दिये रोरी।
नील-वसन-फरिया- कटि पहिरे, वेनी पीठि रुलति झकझोरी।
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छवि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नयन नयन मिलि परी ठगोरी॥[3]

यह सहज सुंदरी अभिसार के समय और अधिक सुसज्जित होती है।

प्यारी अंग सिंगार कियो।
वैनी रची सुभग कर अपने, टीका भाल दियो।
मोतियनि मांग संवारी प्रथम ही केसरि आड़ संवारि।
लोचन आंजि, स्रवन तरिवनि छवि को कवि कहै निवारि।
नासा नथ अति ही छवि राजत वीरा अधरन रंग।
नवसत साज चली चोली बनि सूर मिलन हरि संग॥[4]

---

1. अ. सं. १८–२०२
एप्पुडू मीरोक्कटे येलनि नेंचि चूचिते, मुप्पिरि मी वूडिगान कप्पणियॣरय़्या।
चेंगट नी सुद्दुलेल्ल जेलितो चिन्नविंतुमु, अंगन माटलु नीतो नाड्दुमु।
एंगिलि पोत्तुवारमू यिद्दरि येडकु नेमु, वुंगिट नेमेमनिना नोरुचुको रय्या।
अलरि नी विच्चिनट्टि आनवालाके कित्तुमु, नेलत चे कानिकलु नीकित्तुमु।
वोलिसि मीकिद्दरिकि नूडिगपु चूट्टालमु, तलचि माचेतलु तालुकोन रय्या।

2. अ. सं. ४–८५

3. सूरसागर, पद १२९०

4. सूरसागर, पद २६४५

सूर ने प्रेम की उत्पत्ति रूप-लिप्सा और साहचर्य में दिखायी। हास-परिहास, छेड़-छाड़, केली-कौतुक व मिलन-संग से गुजरता हुआ राधा-कृष्णों का प्रेम रासक्रीडा में उनके विवाह में पूर्णता को पहुंचता है। इस तरह स्वकीया बनकर राधा, कृष्ण से मिलने केलिए जो उत्कंठा, जो प्रयत्न, जो बहाने, जो चंचलता व चातुरी दिखाती है, वह सब उसे परकीया-भाव संपन्न ही दिखाती हैं। राधा अकसर मान करती है, कभी कभी सुदीर्घ काल तक मान नहीं छोड़ती। उसका विरह भी अपार है। गोपियां संयोग काल में जो 'धन्य बड़भागिनी राधा तेरे वश गिरधारि' कहकर उसके भाग्य को सराहती थीं, वियोग में उस बेचारी की स्थिति से दुखी होकर कहती है 'प्रीति करि निरमोहि काहि नहिं दुख होइ।' राधा का कष्ट देखकर वे अपना कष्ट भूल जाती हैं और उसके पक्ष में होकर उद्धव के आगे उसकी शोचनीय दशा का वर्णन करती हैं।

४.२.२.१.७ गोपियां :

गोपियां सामूहिक रूप से नायिकाएं हैं। उनका व्यक्तित्व तो स्पष्ट नहीं हो पाया, किंतु चीर-हरण, पनघट-लीला जैसे प्रसंगों में इनका सौंदर्य वर्णित हुआ है। लेकिन राधा के सौंदर्य के सामने इनके रूप की क्या गिनती? ये राधा के व्यक्तित्व से दब-सी गयी हैं। राधा का प्रेम इनके लिए आदर्श बन गया। राधा की दशा को प्राप्त करना इनका चरम लक्ष्य हो गया। वास्तव में वे भी कृष्ण के अलौकिक रूप सौंदर्य पर मुग्ध हैं। उनको पति के रूप में पाने के लिए व्रत रखती हैं। राधा और कृष्ण की समस्त लीलाओं में साथ देती हैं। उनमें प्रगल्भता, चंचलता, उक्ति-चातुरी व व्यंग्य-विदग्धता तो खूब मिलती हैं। ललिता, चंद्रावली जैसी गोपियां खंडिता के रूप में भी मिलती हैं। ये विश्वासपात्र सखियां हैं, जो दौत्य निभाती हैं और साथ साथ कृष्ण-प्रेम में भागिनी भी बनती हैं। इन सबका सामूहिक रूप से रासकेली में स्वीकृति होती है। लेकिन वे राधा से कभी ईर्ष्या नहीं करतीं। राधा-कृष्ण सौंदर्य की चर्चा व केलीविलास की चर्चा में वे निपुण ही नहीं, अपितु उनके सुख में अपने को सुखी मानने तक की सहनशील व संतृप्तिशील भी हैं।

गोपियों में कुछ परकीया नायिकाएं भी दीखती हैं जो मुरलीवादन पर मुग्ध होकर घर का काम, लोक-लाज, सुत-पति सबको छोड़कर कृष्ण से मिलनें वन में जाती हैं।

जबहि वन मुरली स्रवन परी।
चकित भई गोप कन्या सब, काम-धाम बिसरीं।

कुलमर्याद वेद की आज्ञा, नैकुहुं नहीं डरीं ।
स्याम-सिंधु, सरिता ललना गन, जल की ढरनि ढरीं ।
सुत-पति नेह, भवन-जन-संका, लज्जा नाहिं करी ।
सूरदास प्रभु मन हरि लीन्हौं, नागर नवल हरी ॥[1]

कृष्ण के विरह में गोपियों की दशा अत्यंत शोचनीय बन जाती है । उनको व्रज, मधुवन, यमुना सब कुछ व्यर्थ दीखते हैं । कृष्ण के साथ उद्धव भी उनके उपालंभ का लक्ष्य बनता है । कुब्जा उनकी ईर्ष्या का पात्र बनती हैं। राधा और कुब्जा की तुलना करके वे और भी व्याकुल हो जाती हैं और कृष्ण की निष्ठुरता एवं विधि की वक्रता पर दुखी होती हैं ।

४.२.२.२ पूर्वराग :

४.२.२.२.१ अन्नमाचार्य की रचना में पूर्वराग :

अन्नमाचार्य के शृंगार संकीर्तनों में पूर्वराग के वर्णन में कितने ही अनूठे प्रसंग मिलते हैं । नायक और नायिका के प्रेम का क्रम विकास अन्नमाचार्य ने जितनी खूबी से वर्णित किया है, वह अन्यत्र शायद ही देखने में आता है । क्योंकि एक तो यह मुक्तक रचना है । दूसरी बात है कि कथा या घटना-क्रम का आधार किंचित भी नहीं है । तो भी नायिका-नायकों के प्रेम की क्रम परिणति को दिखाते वक्त कवि की दृष्टि से उसका कोई भी अंग, कोई भी मंजिल, कोई भी दशा या कोई भी अंश छूट नहीं पाया ।

अन्नमाचार्य के नायक और नायिका जगदेक दंपती हैं । अतः उनका प्रणय 'प्रीति पुरातन' जैसा होकर भी नित्य नूतन है । कवि कहते हैं कि नायिका अलमेलमंगा और नायक श्रीवेंकटेश्वर के परस्पर प्रेम का आरंभ तो कभी हुआ । यौवन के आरंभ में जब नायिका के दिल में सात्विकोदय के साथ साथ नयी नयी अभिलाषाएं अंकुरित होने लगीं तभी उसका मन श्रीवेंकटेश्वर से लग गया ।[2] वह तभी से मलयपवन में उस परमात्मा की शीतल सुगंधमय निश्वास को पहचानने लगी और शारदीय ज्योत्स्ना में उस भगवान का स्वच्छ सुहास पाने लगी ।[3] बस

---

1. सूरसागर, पद १९१८
2. अ. सं. ३–६५५ कलिकि कोरिकल नुंगरमु वेंट्टिन नाडे
   चेलुवंपु विरहाग्नि चेसेगा वेंड्लि ।
3. अ सं. ३–१७५ ओंगि चल्लगालि तन ऊर्पुगा भाविंतु
   नगवु गा दलतु चिन्नारि वेन्नेल ।

तभी से वह उस जगन्नायक के विरह में तड़पने लगी। नायक का सामीप्य पाने के लिए उसके प्रयत्न भी उसी तरह के हैं। न जाने किस ने कहा, वह पांचों भूतों में अपने प्रिय के ही तत्व देखती है। प्रिय के बारे में सोचते सोचते, उनके रूप को अपने मन में लाते लाते, न जाने वह क्या देखती है, अचानक हवा से आलिंगन करती है और आसमान की ओर देखते देखते हठात् हर्षविस्फारित नयन बढ़ाती है।[1] वह कभी मौन घरे, निराहारी होकर, चिंता-तप में निमग्न बैठकर नायक का साक्षात्कार पाना चाहती है। वह जानती है कि अनिमिष देवता लोग पति वेंकटेश्वर को प्रिय हैं, अतः जागरण करके दिन-रात वह निर्निमेष-दृष्टि से उनकी राह देखती रहती है।[2] जो कोई नायक की बातें कहते हैं वे ही उसको प्रिय लगते हैं। नायक की कथाओं में ही उसका मन लगता है। दिन में उनकी बातें सुनती है और रात में उन्ही का स्वप्न देखती है। बेचारी, कभी ताप-संतप्त हो उठती है, तो कभी विलप-कलप कर रह जाती है।[3]

अभी नायिका संप्राप्त यौवना है। उसमें यौवनोचित हाव-भांवों का अभी अभी उदय हो रहा है। उसकी कटि दिनों दिन इस तरह क्षीण हो रही है कि मानों वह उसके श्रीवेंकटेश्वर की प्रिया बन जाने की अवधि के संकोच का संकेत कर रही है।[4]

नायिका अपने भवन में क्रीडा-शुक को वेंकटेश्वर के नाम पढ़ाती है, तो तभी नायक वेंकटेश्वर, न जाने कहां से और कैसे आ जाते, उसके सामने आ

---

1. अ. सं. ४–८४ निनु दलचि ललितांगि नीरूपमात्मलो
गनि नीवुगा बयलु कौगलिंचिनदि।
तनर नाकाशतत्वमु नी महत्वमनि
वनित येव्वरि वलन विनियेनो कानि॥

2. अ. सं. १२–६
तगिलिन मुनुले यातनि गंदुरटा, मगुव येव्वरि तोनु माटाड दिपुडु।
अतुल निराहारु लतनिकि प्रियुलटा, अतिव निन्नटि नुंडि आरगिंचदु।
... ...
वलनैन अतडु देवतल कोडयडटा, कलिकि रेयिबवलु कनु मूयदिपुडु।

3. अ. सं. १२–२८ अतनि सुद्दुलु चेप्पे अतिवले चुट्टालु
... ... चूडरम्मा चेलुलु॥

4. अ. सं. ४–१०० आकाश पाकाश माये कोमलि नडुमु
वैकुंठ पति पोंदु वडि देलुपु कोरकु॥

उपस्थित होते हैं और पूछते हैं कि मुझे क्यों बुलाया?[1] वह कभी झरोखे पर खड़ी रहती है तो वे बार बार उसी रास्ते से गुजरते फिरते हैं। वे कभी शिकार खेलने जाते हैं. तो नायिका घंटों आंगन में खड़ी खड़ी उनके आने की प्रतीक्षा करती है। वे कभी घोड़े पर सवार होकर सड़क पर से निकलते हैं तो उनकी छटा देखती देखती वह अपने को भूल जाती है और सखियों के कहने तक अपने शिथिल आंचल को भी ठीक नहीं कर लेती। सखी सहेलियों से वह कभी बातें करती है तो नायक का ही प्रसंग करती है और वैसे ही अपने कपोलों पर पसीना जमा पाती है।[2] कभी वह अपने मनोनायक को सपने में देखती है और उसे सच मानकर सखियों के लाख कहने पर भी अपने भ्रम को दूर नहीं कर पाती।

सपने की उन बातों को सुन, सखियां भी भरमाती हैं।
हां नहिं कहने को न बना तो, मन ही मन घबड़ाती हैं ।।[3]

लेकिन सखियों में ज्येष्ठा (कवि) अपने अनुभव के बल सारा रहस्य भाप लेती है। वह नायिका से कहती है कि सखि मैं तुम्हारा मन जानती हूं। तुम्हारे उस मानसचोर का पता भी मुझे मालूम है।

सकलं हे सखि जानामि, तत् प्रकट विलासम् परमं दधसे।
अलिक मृगमदमय मषीक कलनोज्ज्वलतां सखि जानामि।
ललितं तव पल्लवित मनसि, निश्चलतर मेघश्यामं दधसे।

---

1. अ. सं. ३–३५२
मेलपुन नेनु मेड मीद यी चिलुकं बेरुकोनि विलुवगनु
अलपुन वीथि दा नरुगुचुनु तनुं बिलचितिनंट बलिकिन वानि।

2. अ. सं ३–४०२
एप्पुडु वच्चुनो यंट नेदुरु चूची पतिकि, दप्पिदीरु मोमुतोड दाचलेदु प्रियमु।
वेट वोयिन प्रियुडु वीथि रांगा ..., ... दा निक्कि चूची मेड मीद।
... ...
इंति चूडगाने विभुं डैतुल गुर्रमुं दोलि, चेंतनुन्न सतुलेल्ला चेतं जूपगा।
नंतलोने याके तनुवंतयुनुं बुलकिंची, वंतपु सतुल कैनं बट्टारदु प्रियमु।।

3. अ. सं. ३–४० कलगनि चेलितो कांत नायकुनि
चेलुबमु चेप्पुचु चिडुमुडितो।
... ...
चेमर्रिचग विनि सिरसुलु वंचुक।।

चारु कपोल करांचित विचारं, हे सखि, जानामि ।
नारायण महिनायक शयनं, श्रीरमणं तव चित्ते दधसे ।।[1]

उधर नायक भी नायिका के विरह से संतप्त हो उठते हैं । नायिका यहां आहें भरती है तो नायक वहां उदास बैठे रहते हैं । यह सदा अनमन हुई अकेली बैठकर आंसू बहाती है तो वे अकसर खिन्न मालूम पड़ते हैं ।[2] वे चांदनी में बाहर निकलने से भी डरते हैं, क्यों कि उनको चांदनी में नायिका के मुख-चंद्र की छटा दीखती है । आजकल वे वन विहार भी नहीं करते, क्यों कि वन की हर लता उनको उस लतांगी की याद दिलाती हैं ।[3] वे हमेशा नायिका के बारे में ही सोचते हैं, हर किसी से उसी की बात करते हैं और यक्षिणी को हाथ दिखाकर अपने भाग्य को जानना चाहते हैं । यक्षिणी उनसे कहती है कि अहो मेरे राजा, आप का हाथ ऐसा है, जो उसे पकड़े उसीका भाग्य भाग्य है । आप के मन की साध में जानती हूं । आप जिस जीव की चिंता करते हैं वह आप के ही वश में है । आपकी उससे अभी अभी भेंट होगी । मेरी बात सच मानिए । आप लक्ष्मीवान हैं ।[4]

इधर नायिका दिनों दिन विरहक्लेश से अधिकाधिक संतप्त और अत्यंत खिन्न होती जाती है तो सखियों से अब रहा नहीं जाता । आंतरंगिक सखी नायक के पास पहुंचकर, नायिका की दशा बताकर उनके दिल में दया उपजाती है । वह कहती है कि "स्वामिन्, उसका आप से प्रेम हो गया । अब आपके विरह में वह मरा चाहती है । वह अबला है । उससे मन्मथ का विरोध हो गया और आप भी मन्मथ बन बैठे । भला, वह इसका क्या प्रतीकार कर सके?"[5] वह

---

1. अ. सं. १२–२२
2. अ. सं. ४–८९

एट्टु दोरकेने चेलिय निद्दरिकि निट्टुवंटि, पट्टि निलुपग रानि बरुवैन वलपु ।
निडिवि तमकमुलचे निट्टुर्पु लिवे नीकु, अडियाश तमकबु लातनिकिनि ।
कडलेनि वेदनल कन्नील्ले नीकु, अलरु परितापंबु लातनिकिनि ।।

3. अ. सं. ३–३८६ वेदजल्लु नीमोमु वेन्नेललु दलचि पो
पोदलु वेन्नेल बयट बोलयडतडु ।
ललितांगि नी देहलत तलंचि पो अतंडु
चेलंगि वनमुनकु विच्चेय डिपुडु ।

4. अ. सं. १३–३१५ एरुक जेप्पे नी इच्च लेल्ला नेरुगुदु

5. अ. सं. ३–६० तरुणि पै मरुनिकि दयलेदु नीवु
मरुनिने पोलिति मरियेटि व्रतुकु ।।

अतीव सुंदरी है, लेकिन आप मन्मथ के ही बाप हैं। वह नितांत चतुरा है, किंतु आप तो माया के ही पति हैं। अतः उसके रूप गुणों की बात पर नहीं, किंतु उस बिचारी की असहाय स्थिति पर ध्यान दीजिए।[1] आप अनाथनाथ हैं। अशरणशरण हैं। आप जैसे चतुर नायक के मोह में पड़कर कोई अपने प्राण छोड़ें, तो भी वह भली बात है, लेकिन निंदा आप को लगेगी। अतः अवसर जानिए। कृपा करके जल्दी चलिए। हमारी सखी, नहीं, अपनी दासी की रक्षा कीजिए।[2]

नायक को सुमुख बनाकर जब सखी नायिका के यहां आ जाती है, तब नायिका उसे झट गले से लगा लेती है और कहती है कि सखी, अब तुम को देखकर ऐसा लगता है कि खुद पति को ही मैं देख पायी। अच्छा, अब बताओ, तुम्हारे प्रयत्न का फल क्या हुआ? क्या वे राजी हुए? कब आयेंगे? अभी क्यों नहीं लायी?[3]

नायक के आते ही नायिका की यह सारी उत्कंठा झट लज्जा, हर्ष, आवेग, जडता आदि न जाने कितने ही भावों से मिल जाती है और वह नायक के स्वागत सत्कार की बात दूर, सामने जाने को भी भूल जाती है। सभी उपचारों के बदले कृतज्ञता से हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहती है, लेकिन वैसा करने से पहले ही उनके पैरों पर गिर पड़ती है।[4]

---

1. अ. सं. १८–२२१ चेलि चक्कदनमुलु चेरि नीतो चेप्पेनंटे
मलसि नीवैतेनु मरु तंड्रिवि ।.
पोलसि यीपे नेरुपुलु पोगडे नंटेनु
अलरि नीवु माया नाथुडवु ।।

2. अ. सं. ४–७९ नीवेंटि चतुरुनकु निक्कंबु गा वलचि
जीवंबु विडिचिना सेगि गलदा ।
भावमुल निनु दलचि पडति यिट्लायेननि
आवेल ... ... ।

3. अ. सं. १५–७८ तानेट्ल नुन्नाडो तरुणि विनिर्पिचवे
कानक निनु गन्न ननति गन्नट्ल नायने ।

4. अ. सं. ३–१८५
एमि सेतु नाभाग्यमु येरिगि नेरंगनीदु। ना मोहमे मिक्कुटमै नन्नु दडबरचेनु।
म्रक्कुन नीवेदुरैते कड्डु सिग्गु रेगुंगानि, पेक्कु उपचाराल मेप्पिप मरतु ।
तक्कक नीवंटितेनु तमकमे निंडुगानि, चोक्किकचि ना चेतलु चूपंग मरतु ।।

नायक और नायिका को खुश देखकर सखियां मन ही मन अपार हर्ष का अनुभव करती है। वे अपनी सखी का सौभाग्य सराहती है और अपने को धन्य मानती हैं। वे आपस में कह लेती हैं,

> "सति का नव लावण्य विभव अब
> पति-करुणा से सफल हुआ सब।
> रांकव-गंध-विलिप्त हुआ तन
> वेंकटपति-हित-लग्न हुआ मन ।।"[1]

४.२.२.२.२ सूरदास की रचना में पूर्वराग :

सूरदास के काव्य में कृष्ण और राधा या गोपियों के प्रेम का विकास ग्रामीण प्रकृति के सुंदर वातावरण में चित्रित हुआ है। उसमें अवस्थोचित केली-कौतूहल के साथ साथ साहचर्य-जन्य प्रेम का क्रम-विकास वर्णित हुआ है। माखन चोरी से दान-लीला तक, प्रेम के आरंभ से आत्मसमर्पण तक की सभी भावाकुल दशाओं व परिस्थितियों का अत्यंत विस्तार से सूर ने अपने काव्य में वर्णन किया है। गोपियों का प्रेम कृष्ण के लोक सम्मोहनकारी रूप सौंदर्य का फल है। वह कृष्ण की बाल-लीलाओं से ही अंकुरित होकर क्रमशः पल्लवित व पुष्पित होता है। गोपियां अकसर बाल-कृष्ण या माखन-चोर कृष्ण को देखती हैं और मन ही मन मुग्ध होती हैं। लेकिन राधा, कृष्ण के बारे में सुनती है कि 'नंद ढोटा करत फिरत माखन दधि चोरी।' अचानक उनसे भेंट हुई तो सिद्ध हुआ कि वह माखन-चोर ही नहीं, वरन् मानस-चोर भी है। खेल-खेल में प्रेम परिपक्व होता है।

गोपियां कृष्ण की मादक लीलाओं से मानों मंत्रमुग्ध-सी हो जाती हैं। कृष्ण के रूप माधुर्य में वे उलझ जाती हैं। उनके मन में अनजान में ही अभिलाषा का अंकुर उठता है और अतिशीघ्र विकास पाता है और कितने ही रूपों में व्यक्त होने लगता है।

> "कोऊ कहति, किहिं भांति हरि कौं, देखौ अपने धाम।
> हेरि माखन देऊं आछौ, खाइ जितनौ स्याम।
> कोऊ कहति मैं देखि पाऊं, भरिधरौ अंकवारि।
> कोऊ कहति मैं बांधि राखौं, को सकै निरवारि ।।"[2]

---

1. अ. सं. ३–७८ (स्वीयानुवाद) 2. सूरसागर, पद ७९१

गोपियों की सारी चिंता कृष्ण को किसी तरह अपने समीप पाने में ही लगी रहती है।[1] मिलन के वे कितने ही उपाय सोचती हैं। यशोदा के पास अकसर कृष्ण की शिकायत लिये जाती हैं तो तब भी कृष्ण को और एक बार निकट से देखना ही उनकी कामना रहती है। मुरलीवादन पर उनकी तब तक की गुप्त, अंतः सलिला जैसी आर्द्र कामना झट बाहर फूटकर बाढ़-सी व्यक्त हो जाती है। उनको मुरली के सौभाग्य पर असूया लगती है। वे मुरली व कृष्ण की चर्चा में आत्मविस्मृत होती रहती हैं।[2] अब कृष्ण को पति रूप में पाने की साधना में लग जाती हैं। व्रत-उपवास धरती है और देवी-देवताओं से मनौतियां करती हैं।[3] इन सबका सुफल उनको रास-केली और जल-केली में पूर्ण रूप से मिलता है।[4]

राधा कृष्ण के प्रथम परिचय में ही बिक जाती है। लेकिन यहां कृष्ण भी राधा के सौंदर्य पर समान रूप से मुग्ध हो जाते हैं। गोपियों के प्रति वे लिप्त होकर भी निर्लिप्त दीखते हैं, किंतु राधा के प्रति उनके अभिलाष व आकर्षण अधिक तीव्रगति से सक्रिय होने लगते हैं। भोली राधा उत्कंठा, कुतूहल और गुरुजन भीति से विकल होती है, लेकिन कृष्ण-प्रेम का यह नवोदित अंकुर नितांत चतुराई से अपने विकास का मार्ग आप ही ढूंढ लेता है। वह कृष्ण के घर जाने लगती है। यशोदा उस पर मुग्ध होती है। तब वह कहती है कि 'खेलो जाइ स्याम संग राधा'[5]। तब राधा और कृष्ण दोनों स्वेच्छा पाकर परस्पर मिलन के कितने ही अवकाश निकाल लेते हैं। दोनों कभी खलिक में जाते हैं और कभी वन में मिलते हैं। गोदोहन के समय अकसर मजाक की केली और मान-मनुहार का भी रस लेने लगते हैं।[6] इन दोनों का अनुराग सखियों पर ही प्रकट नहीं होता, बल्कि यशोदा को भी थोड़ा थोड़ा अवगत होता है।

> "आजु राधिका भोर ही जसुमति कें आई।
> महरि मुदित हंसि यों कहियौ, मथि भान दुहाई।
> आयसु लै ठाढ़ी भई, कर नेति सुहाई।
> रीतौ माठ बिलोवई, चित जहां कन्हाई।
> उनके मन की कह कहौं, ज्यों दृष्टि लगाई।
> लैया नोई वृषभ सौं, गैया बिसराई।

---

1. सूरसागर, पद ८९२. ९७ 2. सूरसागर, पद १२३८–७९
3. ,, पद १३८४ 4. ,, पद १८०५
5. ,, पद १३२३ 6. ,, पद १३५१–५५

नैंननि मैं जसुमति लखी, दुहूं की चतुराई ।
सूरदास दंपति दशा कापे कहि जाई ।।[1]

राधा की चतुराई दिनों दिन बढ़ती है । कृष्ण से मिलने केलिए वह सांप से डस जाने का बहाना करती है और कृष्ण गारुडी बनकर उसकी व्यथा दूर करने जाते हैं ।[2] सूर ने ऐसे कई प्रसंगों में काम-केली का स्पष्ट वर्णन किया है। कहीं कहीं वह असहज और अश्लील भी बना है ।

४.२.२.३ संयोग लीला वर्णन :

४.२.२.३.१ अन्नमाचार्य की रचना में संयोग लीला वर्णन :

अन्नमाचार्य की रचना में संयोग लीलाओं की पृष्ठभूमि दो तरह की मिलती है। एक तो श्रीवेंकटेश्वर और अलमेलमंगा की संयोग लीलाओं की सुख-समृद्धिमय नागरिक जीवन की विलासमयी पृष्ठभूमि है। दूसरी, ग्वाल, कोल, किरात नायिकाओं और नायक वेंकटेश्वर की शृंगार लीलाओं की सहज सरल ग्रामीण व आटविक जीवन की उल्लासमयी पृष्ठभूमि है । प्रधान वर्ण्य तो अलमेलमंगा और वेंकटेश्वर का शृंगार है । वे जगदेक दंपती हैं । उनका शृंगार अलौकिक एवं आदर्श रूप का है । फिर, वह भगवदीय और भक्तिभावोपेत है । सखियों का (और कवि का भी) आदर्श है, उन लोकैक-नायिका-नायकों के अनुपम लीला-विलासों में अपने को निकटतम भागी पाकर सुखी होना । गौण रूप से वर्णित अन्य शृंगार लीलाओं में भी सखियों का साहचर्य रहता है, किंतु तब उनके नायिका रूप में स्वकीय शृंगार एवं सपत्नीभाव प्रधानतया व्यक्त होते रहते हैं । नायिका-द्वयाश्रित और बहुनायिका-निष्ठ रतिभाव का वर्णन भी कई पदों में मिलता है ।

नायक के दक्षिण नायकत्व पर अन्नमाचार्य नितांत मुग्ध होते हैं । वे नायक भगवान की प्रशंसा के साथ साथ उनकी प्रियाओं का भी सौभाग्य सराहते हैं । नायिका अलमेलमंगा नायक श्रीवेंकटेश्वर के गले का हार बनी है । वह कितना वाल्लभ्य है ! सचमुच वह अनितर सुलभ वाल्लभ्य है, जो उसके अनन्य सौभाग्य से ही प्राप्त हो सका है । इसके लिये कितने व्रत रखे ![3] कितना तप किया ![4] तभी वह पति की छाती पर विराजकर दुनिया का राज कर रही है । कवि उससे कहते हैं कि "सखी, तुम निहायत भाग्यवती हो ।

---

1. सूरसागर, पद १३३३ 2. सूरसागर, पद १३६५, १३७६
3. अ. सं. १२–१२७ 4. अ. सं. १२–१७

पति के उर की शोभा बनकर
हारावलि में झूल रही हो ।
विभु के नयनों का तारा बन
जगती को जगमगा रही हो ।।[1]

अन्नमाचार्य को नायिका-नायकों की हर एक लीला में कोई न कोई विशेषता दिखाई देती है । मामूली बात को भी वह भक्तकवि कुछ विशेष दृष्टि से देखते हैं । अतएव उनको श्रीवेंकटेश्वर के गले में (हार-पदक में अंकित) रहनेवाली अलमेलमंगा में स्वाधीन पतिका नायिका की गर्वच्छटा देखने को मिली है । उनकी दृष्टि इतनी पैनी और पारदर्शी है कि वह लौकिक में अलौकिक और साधारण में असाधारण को देख पाती है। फिर जो कोई भी बात दिखाई पड़ती है, उसका असाधारण रूप से वर्णन किये बिना उनसे नहीं रहा जाता । उनका उक्ति-वैचित्र्य भी अनूठा है । ऊपर की बात में एक ओर से नायिका के वाल्लभ्य को सराहते हुये ही, दूसरी ओर से वे नायक के प्रगाढ प्रेम का भी अंदाज कर लेते हैं। वे कहते हैं कि नायक अपनी प्रिया को इतने प्यार से छाती पर ढोते हैं कि उसे नीचे पांव रखने नहीं देते, यही बात नहीं, बल्कि वे उसके पाद-संवाहन तक को भी कर देते हैं । नायक की ओर प्रशंसा दृष्टि से देखकर उन्हीं से ऐसा कहकर कि

कर-कंकण को नूपुर करके
नर्म किये कुछ हंसा रहे हो ।
मोती का नव नूपुर सति के
पैरों में खुद धरा रहे हो ।।[2]

यह भक्तकवि अपने भगवान की नित्य नूतन शृंगार लीलाओं पर मुग्ध हो उठते हैं।

अन्नमाचार्य की कविता में नायिका-नायकों की शृंगार लीलाओं केलिए अभ्यंतर मंदिर,[3] पुष्पोद्यान,[4] क्रीडा सरोवर,[5] कौतुक गृह,[6] केलीवन,[7] आदि कितनी ही क्रीडा-भूमियां ग्रहीत एवं वर्णित मिलती हैं । झूला,[8] वसंत केली,[9]

---

1. अ. सं. ४–६५ (स्वीयानुवाद) 2. अ. सं. १२–२८३ (स्वीयानुवाद)
3. ,, ४–११९ 4. ,, ३–६५५
5. ,, १९–२३४ 6. ,, ३–२४५
7. ,, ३–१२० 8. ,, १२–२९
9. ,, १३–४४५

जलक्रीडा,[1] वनविहार,[2] शिकार,[3] सैर, जैसी सभी लीलाएं संयोग शृंगार की व्यंजना से भरी मिलती हैं। नायिका-नायक अकसर शतरंज या पासा खेलते[4], नृत्य व गीत का आनंद लेते,[5] कंदुक क्रीडा में भाग लेते,[6] दरबार लगाये सखी-सहचरियों के मध्य सरस सल्लाप करते,[7] अश्व, गज, आंदोलिका, चतुरंतयान, रथ आदि विविध यान-आसन-वाहनों पर सैर चलते[8] और तत्तद् ऋतुओं के अनुरूप उत्सवों में भाग लेते[9] मिलते हैं। वस्तु स्थिति यह है कि भगवान तथा उनकी देवियों की उत्सव-मूर्तियां इस भक्त कवि की दृष्टि में साकार व सजीव निजरूप-सी लगती हैं। तभी उसकी पारदर्शी दृष्टि में अपने भगवान की साधारण व असाधारण सभी लीलाएं मूर्तिमान हो जाती हैं।

पर्यंक में स्थित भगवान के पास में नायिका को पति की पाद-सेवा में लगी हुई पाकर भक्त कवि पहले अपने नयन-लाभ पर गर्व करते हैं। फिर वे उस नायिका के सुकोमल हाथों तथा उंगलियों की शोभा देखकर अपने को धन्य मानते हैं। बाद को वे उस नायिका की उंगलियों में जो रत्न जडित अंगूठियां हैं, उनको प्रभु की पाद-धूलि के संपर्क में आते देखकर कुछ आशंकामय अकारण भय का अनुभव करते हैं और प्रियसखी होकर नायिका को यह उपदेश देते हैं कि

> संभव है सखि, रत्नांगुलियां
> पति-पद में लग गजब करें।
> पुरा शिला से नारी निकली
> अब निकले, कौन मना करें ॥ [10]

पाद-सेवा की बात भगवान जाने, सपत्नी कलह का कष्ट कौन उठावे! फिर, नायक वेंकटेश्वर का शरीर नितांत कोमल है। पांव तो सरोज हैं ही। ऐसों पर रत्नों की अंगूठियां लगती हैं तो शायद उनको सुख के बदले दुख ही होता हो। नायिका के जरा आंख उठाकर कटाक्ष करके देखने मात्र से ही नायक की सुकुमार उरस्थली पर शाश्वत रूप से वह काला दाग लग गया, जिससे उनको श्रीवत्सलांछन नाम पड़ा है।[11] अब उनके पद-सरोजों में कौन-सा नया चिह्न लग

---

1. अ. सं. १९–२३४ 2. अ. सं. ३–११०
3. ,, ३–४०२ 4. ,, ३–२६३ आदि
5. ,, ३–१९ 6. ,, १७–२
7. ,, १२–८० 8. ,, ३–११३
9. ,, ४–३५ 10. ,, ३–३८५ (स्वीयानुवाद)
11. ,, ३–४४२

जाये, कौन जाने ! इसी डर से कवि नायिका से कहते हैं कि सखी, उन अंगूठियों को उतारकर पदसंवाहन करो, नहीं तो पति के पैर दुखेंगे ।

'रत्नांगुलियां धरकर पति की
पदसेवा मत करो, सखी ।
पावं तले की सहज लालिमा
और लाल हो खूब दिखी ।।'[1]

एक ओर से दिल के अनुराग को व्यक्त करती रहकर, दूसरी ओर से नायिका-नायकों के परस्पर प्रेम को उद्दीप्त करनेवाली आकृति मुद्राओं, अंगभंगिमाओं और चेष्टाओं के कितने ही चित्र उतारते जाना अन्नमाचार्य की रचना की एक स्वतः शोभा है । नायिका कभी अपने सुनील कचभार को दोनों हाथों से संवारती हुई, करमूलों का प्रदर्शन करती, जरा मुस्कुराती नायक की ओर तिरछी नजर से देखती है ।[2] कभी वह नायक को प्रिय लगने वाली दाडिम के फूलोंवाले आंचल जरा सरकाती हुई उसके सामने से गुजरती है ।[3] नायक भी कम चतुर नहीं हैं । वे नायिका को कभी संगीत पढ़ाने बैठते हैं और नये नये रागों व तानों को पढ़ा पढ़ा कर, गाते वक्त उसके मुख-पद्म की क्षणक्षणोदित नवीन आकृति शोभा पर मन ही मन प्रसन्न होते हैं । कुछ देर वे नायिका के हाथ अपने हाथों में लेकर ताल बजाना सिखाते हैं और कभी कभी वीणा को ठीक तरह से पकड़वाने के बहाने उसके वक्ष पर हाथ बढ़ाते हैं, जिससे नायिका लज्जा मिश्रित हर्ष से पुलकित हो उठती है ।[4]

संयोग शृंगार के वर्णन में अन्नमाचार्य की कविता कभी अपनी मर्यादा को नहीं भूलती । न कभी वह भक्त कवि अपने नायक के लोकोत्तर विभव को विस्मृति में पड़ने देते हैं। वे पग पग पर ऐसे संकेत देते रहते हैं कि नायिका और नायक अलौकिक हैं और उनकी लीलाएं असाधारण हैं । वहां संयोग और वियोग

---

1. अ. सं. ३–३६८ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. १३–:४०
कडु कोप्पु दुव्वुकोंटू करमूलमुलु चूपि ... ... तन्नु तानेरुगदु ।
3. अ. सं. ४–४२
दाडिमपुव्वल वन्ने तलृकु बय्येद कोंगु वेडुकतो वल्लेवाटुवेसि
... ... नेव्वतेरा ।।
4. अ. सं. ३–१२९ अंगडिवेतुरु वलपंदरुजूडगनू,
चेंगटनोपेकुनैन सिग्गु कोंत वलदा ।।

नाम मात्र के लिए हैं। वास्तव में संयोग भी वियोग का और वियोग भी संयोग का आभास देने में समर्थ हैं। सचमुच दोनों एक हैं। नायक वेंकटेश्वर के विश्वं-भर होने से नायिका अलमेलमंगा को उनके गले में रहकर भी गाढ़ालिंगन से वंचित रहना पड़ता है।

"डर है, आलिंगन करने से
दब जाएं उदरस्थ चराचर।
नयन मूंदने पर, केली वश
अंधेरा हो जाएं जगत भर ॥"[1]

भला, ऐसे संयोग को संयोग कहें या वियोग! इसीलिए तो, नायिका अकसर कहती है कि पति से मिलकर परवश होने की अपेक्षा हित-विरह में उनसे अलग रहने में ही ज्यादा सुख है।[2] तब नायक के हर एक गुण, हर एक विलास, हर एक उक्ति और हर एक उपचार का पुनःपुनःस्मरण, चिंतन व मनन करके नायिका ध्रुवानुस्मृति एवं अनवरत आनंद पा सकती है। तभी भक्त कवि कहते हैं कि वियोग में भी नायिका को संयोग सौख्य मिलता है।[3] सचमुच, उसका भाग्य सराहनीय है। कभी उसको सपने में प्रिय-मिलन का सौख्य मिलता है,[4] तो कभी जागरण में चारों ओर वह उनके विभिन्न तत्वों व रूपों को देख पाती है।[5] लेकिन नायक इसे मान समझते हैं और नायिका से हर प्रकार के अनुनय-विनय करने लगते हैं। नायिका मन ही मन मुस्कुराकर कहती है,

"ननु मम तावन्मान स्त्वदीय नितांत हित सरणिं व्रजामि ॥
न वदतु भवान् जनार्दन घनरतिविवाद वचनं वृथा वृथा।
तव मृदु वेद सुधामय वचनैः विविधावश पदवीं वहामि ॥
न भजतु मां करुणानिधे, भवद् विभव विनयश्च वृथा वृथा।
त्रिभुवन सुखकर दिव्यरूप ते प्रभुतया पराजयं भजामि ॥[6]

---

1. अ. सं. ३–४५ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. ३–२८० पति गलिसि मेनेल्ल परवशं बगुकंटे,
   हित विरहमुन निंटनुंड्टे मेलु।
3. अ. सं. ३–४६४
   विरह्मो संभोगमो वेडुक श्रृंगारमो सरसिजमुखि गनिन ... ।
4. अ. सं. ३–१९८
   कांतुनि ने गललोन ... पनुलेल्ल मेन नगपडिये चेलिया।
5. अ. सं. ४–८४ निनु दलचि नी रूप मात्मलो गनि ... ।
6. अ. सं. ४–८५

जब कभी संयोग होता है, तब वह उन दोनों के अनुरूप होता है। नायक लोकोत्तर दिव्य पुरुष हैं और नायिका उनकी सती साध्वी है। नायिका के किये सभी उपचार पति वेंकटेश्वर की पूजा व अर्चा बन जाते हैं।

गले लगी, नैवेद्य हुआ, फिर,
विनय दिखाया प्रणुति हुई।
अधर दिया तांबूल बना, बस
रति ही पति की पूजा भई ।।[1]

अन्नमाचार्य ने अपने नायक वेंकटेश्वर को बहुनायिका-प्रिय दिखाया है। समदर्शी सर्वेश्वर की प्रीति जीवरूपी सभी नायिकाओं से एक ही तरह की होती है। उनको कभी किसी ग्वालिन से दूध-दही के साथ उसके मान का आहरण रुचता है, तो कभी किसी भीलनी से शहद-गोरोचन का दान लेना पसंद लगता है। उन नायिकाओं की प्रीति केलिए वे एक बार गोपाल कृष्ण बनते हैं तो और एक बार चेंचु कृष्ण का वेष धरते हैं। जलकेली, चीरहरण, वनकेली, मुरली व किन्नरी बजाकर मानिनियों का मानाकर्षण, दानलीला मानलीला जैसे प्रसंगों को लेकर अन्नमाचार्य ने कितने ही पद रचे हैं। इनमें कई संवादगीत बने हैं। ये संवाद भी नर्मगर्भिता एवं वचन विदग्धता से भरे मिलते हैं। रास्ते में अकेली गुजरने-वाली किसी प्रौढा से नायक का यह संवाद है,

"शहद पिलाओ, ओ रमणी,
शहद कहां है? रे रमणा।
फूलों पर के भौरों से ही
शहद मांगना, ओ रमणा।
पुष्प-गुच्छ दो, ओ रमणी,
ऋतु वसंत नहि, रे रमणा।
सरोवारि में उतर, चतुर हो,
फूल चुनो अब, ओ रमणा ।।[2]

असमय में आतंकित होकर कोई विदग्धा नायक से कहती है,

"संवृत चेलं जहि चपल, त्वं संवादे मे सततं किम्।
त्वं वा मम चित्तं सांत्वयसि, किं वा कुरु मम खेलन मिह किम्।

1. अ. सं. ४–८७ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. ३–११० (स्वीयानुवाद)

अति बिभेमि भवदाचरणादिह, चतुर वेंकटाचल रमणा,
सतीं मा मनुसरसि किमर्थं, रतिराजविभव रचन मिदं किम् ।।[1]

४.२.२.३.२ सूरदास की रचना में संयोग लीला वर्णन :

सूरदास की रचना में शृंगार लीलाओं की पृष्ठभूमि ग्रामजीवन के निसर्ग सरल वातावरण में, अनवरत साहचर्य व असाधारण रूप सौंदर्य के आकर्षण में कल्पित है। जीवन के उल्लासमयी और विनोद पूर्वक केली-कौतुक-व्यापारों से उज्जीवित व उद्दीप्त होता हुआ कृष्ण और गोपियों का प्रेम सामूहिक रति की अत्यंत उज्ज्वल छटा को लिये, अपनी सहज सरल एवं क्षिप्रगति में पराकाष्ठाको प्राप्त होता है। संयोग लीलाएं एक ओर राधा और कृष्ण की युगल-लीलाओं के रूप में चित्रित हैं तो दूसरी ओर उनको भी अपने में समेटफर चपलवेग से समंततः प्रस्फुटित होनेवाली गोपी-कृष्ण सामूहिक संयोग विलास लीलाओं के रूप में प्रदर्शित हैं। यह शृंगार अकसर अपनी मर्यादा को अवश्य लांघ जाता है, कभी थकता नहीं दीखता और नित नये रूप में प्रकट होता है तो इसका एक हीं कारण है कि वह कृष्ण परमात्मा की नित्य नूतन दिव्य लीला है। वह अबाधित है और अनंत है। राधा के शब्दों में, इसका वैचित्र्य अथवा परमतत्व यह है।

स्याम सौं काहे की पहचानि।
निमिष निमिष वह रूप, न वह छवि रति कीजै जिय जानि।
इकटक रहति निरंतर निसि दिन, मन बुधि सौं चित सानि।
एकौ पल शोभा की सीवां, सकति न उर महं आनि।
समुझि न परै प्रगटही निरखत, आनंद निधि खानि।
सखि यह विरह, संजोग कि समरस, सुख दुख, लाभ कि हानि।
मिटत न घृत तैं होम अग्नि रुचि, सूर सुलोचन बानि।
इत लोभी, उत रूप परमनिधि, कोउ न रहत मिति मानि।।[2]

यह 'नेह पुरातन' है और 'जन्म जन्म जुग जुग की लीला' है।[3] इसमें भाग लेनेवाले कृष्ण, गोपियां व राधा सब 'एक हैं, नहिं है दोई'।[4]

सूर के काव्य में माखन-चोरी प्रसंग से लेकर कृष्ण के मधुरा गमन प्रसंग तक की कथा में न जाने कितने ही संयोग लीलाओं के चित्र मिलते हैं। आश्रय भेद से कृष्ण कहीं वात्सल्य और कहीं शृंगार का युगपत् आलंबन बनते हैं।

---

1. अ. सं. ४–१४
2. सूरसागर, पद २४७१
3. सूरसागर, पद २३०६
4. ,, पद २३०९

गोपियों के प्रेम में वे लिप्त होकर भी अलिप्त दीखते हैं। किंतु राधा के प्रेम में वे संपूर्णतया लिप्त होकर मिलते हैं। वैसे तो राधा-कृष्ण केली-कौतुक में भाग लेना ही गोपियों का आदर्श है, किंतु उनका अपना गांधर्व विवाह व रास-रस-भोग भी अलग है। चीरहरणलीला के समय कृष्ण उनको यह वचनदान देते हैं कि 'करौ पूरन काम तुम्हरौ, सरद रास रमाइ।'[1] चिर प्रतीक्षित रास में कृष्ण के साथ उनका गांधर्व विवाह होता है। बाद में जो निकुंज क्रीडाएं हुई, उनमें गोपी-कृष्ण मिलन के कितने ही चित्र कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रूप में वर्णित मिलते हैं।[2] रासलीला, दानलीला, नौकाविहार, जलक्रीडा, स्नानकेली, कुंज विहार जैसे कितने ही प्रसंग सामूहिक रति भाव को व्यंजित करनेवाले एक से एक अनूठे संयोग लीला-चित्रों से भरे पूरे मिलते हैं। पनघट लीला और दान-लीला में गोपी प्रेम ही प्रधान वर्ण्य है। यहां गोपनारी उत्साह, जडता, उद्वेग, चिंता, स्मृति, लज्जा, भय, त्रास जैसे कितने ही भावों से संघर्ष खाती हुई आगे बढ़कर अंत में इस निश्चय पर पहुंचती है कि 'सूर प्रभु पतिवर्त्त राखौं मेटिकै कुलकानि।'[3] दानलीला में वह अपना सर्वस्व कृष्ण को दान देती हुई कहती हैं,

> जोवन रूप नहीं तुम लायक, तुमको देति लजाति।
> ज्यौं वारिधि आगै जल किनुका विनय करति इहि भांति॥[4]

झूला, वसंत, होली जैसे प्रसंग गोपी-कृष्ण शृंगार के और अधिक संकीर्ण व संपन्न दृश्य प्रदर्शित करते हैं।

> काहू तुरत आइ मुख चूम्यौ, कर सौं छुयौं कपोल।
> कोउ मुरली लै लगी बजावन, मन भावन मुख हैरि।
> स्रवननि लागि कहत कोऊ बातें वसन हरे तेइ आप।
> कोऊ नैननिसो नैन जोरि कै कहति न मोहन चाहौं।
> इक बूझति इक चिबुक उठावति, बस पाए हरिनाइ।
> नख छत छाप बनाए पठए, जानि मानि गुन येहु॥[5]

गोपियों में ललिता जैसी दूतियां, चंद्रावली जैसी नागरियां, सुखमा जैसी रमणियां और कितने ही प्रिय सखियां देखने में आती हैं।

राधा और कृष्ण के संयोग का वर्णन उनके बढ़ते हुए बाल्यस्नेह के वर्णन के साथ शुरू होता है। जैसे

---

1. सूरसागर, पद १४१४
2. सूरसागर, पद १८०५–६
3. ,, पद २०७७
4. ,, पद २२०८
5. ,, पद ३५१६

१) सैन दै प्यारी लई बुलाइ ।
खेलन कों मिल करिकै निकसे, खरिकहिं गये कन्हाइ ।।[1]

२) नीवी ललित गही जदुराइ ।
जबहि सरोज धरेयौ श्रीफल पर, तब जसुमति गई आइ ।
ततछन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाइ ।।[2]

राधा भी कम चतुरा नहीं । वह भी कभी कृष्ण को गारुडी के रूप में अपने पास बुला लेती है,[3] तो कभी किसी सखी से बातें करते करते कृष्ण को घर का या घाट का संकेत सुना देती है ।[4] राधा तो रासेश्वरी है । उसी लीला में उसका कृष्ण के साथ विवाह भी संपन्न होता है । फिर उसके हरि का आधा रूप बनने में या यह प्रकट करने में कि 'तनु एकै ह्वै व्रज में अवतारि' ज्यादा देर नहीं लगती । राधा कृष्ण कुंज लीलाओं की चर्चा में ही गोपियां आत्म विस्मृत हो जाती हैं ।

नवल नागरि, नवल नागर किसोर मिलि,
कुंज कोमल कमल दलनि जज्या रची ।
गौर सांवल अंग रुचिर तापर मिले, सरस
मनि मृदुल कंचन सुआभा खची ।
सुंदर नीवी बंध रहति पिय पानि गहि,
पीय के भुजनि मैं कलह मोहन मची ।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत, हुंकरि
रोषि, करि गर्व, दृग भंगि, भामिनि लची ।
कोक कोटिक रभस, रसिक हरि सूरज, विविध
कल माधुरी किमपि नाहिन बची ।
प्रान मन रसिक, ललितादि लोचन चषक ।
पिवत मकरंद, मुख रासि अंतर सची ।।[5]

रासलीला से लेकर बाद की सभी लीलाओं में राधा-कृष्ण संयोग लीलाओं का ही वर्णन अत्यधिक प्राधान्य लेता मिलता है । ग्रीष्म, वसंत, झूला, होली जैसे प्रसंगों में उद्दाम रति भाव को उल्लासोत्साह भरी विनोद क्रीडाओं में और अधिक उद्दीप्त होता दिखाया गया है ।

---

1. सूरसागर, पद १३४६
2. सूरसागर, पद १३००
3. ,, पद १३६५
4. ,, पद २६४३
5. ,, पद १८०९

४.२.२.४ मानवर्णन :

शृंगार में मान का योग तदुपरांत संयोग के उद्दीपन के काम में आता है। मान के कारण भी कई प्रकार के हो सकते हैं जैसे प्रणय-कलह, वाल्लभ्य-गर्व, सपत्नी संबंध. ईर्ष्या, अनुमान, गोत्रस्खलन, अन्य संभोग दुख, नायक की शठता, वंचना, वचन-भंग आदि। शृंगार-भक्ति में मान साधक की असमग्र सिद्धि और तत्संबंधी व्याकुलता की प्रतीकात्मक अनुभूति है। भक्तजीव अपने प्रिय भगवान का नित्य सान्निध्य व निरंतर साहचर्य चाहता है और इसमें जो थोड़ा-सा अंतराय या विघ्न का अनुभव अथवा अनुमान होता है तो वह मान करने लगता है। मान का मनो-विज्ञान भी ऐसा है कि मानी जिससे दूर रहना चाहता है उसीको पहले से अधिक चाहता है और हर हमेशा उसी का ध्यान करता रहता है। संयोग में मान वियोग की स्थिति ला उपस्थित करता है तो वियोग में मान संयोग को मानसिक स्तर पर सुप्रतिष्ठित करता है। मान की स्वाप्निक दशा भी होती है। मान-मोचन की अवधि के आधार पर मान के लघु, मध्य, गुरु भेद भी प्रकल्पित किये गये हैं और उसके कारण तदनुरूप बतायें गये है। हमारे आलोच्य कवियों ने ये सभी प्रसंग उठाये हैं।

४.२.२.४.१ अन्नमाचार्य की रचना में मान वर्णन :

अन्नमाचार्य की रचना में मान का कितने ही प्रकार से 'वर्णन मिलता है। यहां नायक दक्षिणनायक है और नायिकाएं कई हैं। अतः मान के कारण तो पग पग पर मिलते हैं। परंतु नायक तो ठहरे जगत्पति। उनको साधारण पुरुषों की तरह देखना नहीं चाहिए। वह भगवदपचार होगा। न तो मान करके बैठना ठीक है, न उनसे अनुनय-विनय की आशा रखना उचित है। तभी मान-मनुहार करनेवाले नायक से नायिका कहती है कि 'जी, तुम पूज्य हो, तुम से कलह क्या? नहीं, नहीं,

> ननु विनयोक्ते नं योग्याहं,
> पुनः पुनस्त्वं पूज्योसि।
> दिन दिन कलह विधिना ते किं,
> मनसिज जनक रमारमण ॥[1]

इस तरह नायक से सगौरव प्रेम दिखाते रहने पर भी बेचारी नायिका को नायक के किसी बात पर रूठ जाने से दुखी होना पड़ता है। उसे नायक के पास सखियों को बार बार दौड़ाना पड़ता है।

---

1. अ. स. १२–२८८

नायक श्रीवेंकटेश्वर के चराचर जगत के एकमात्र नायक होने से नायिका को सपत्नियों के कारण ईर्ष्या, ताप, क्रोध व मान जैसे भावों का अवांछित, किंतु अनुराग मिश्रित अनुभव अकसर हुआ करते हैं। ऐसी मान दशाओं में उसे भगवद् विरह से अवश्य पीडित होना पड़ता है। लेकिन यह नायिका तो स्वीकृत भक्तात्मा है, अतः उसमें श्रेष्ठ नायिकोचित गर्वभाव भी विद्यमान रहता है। अन्यसंभोग चिह्नों से कुपित होकर, अनुनय करनेवाले नायक से नायिका की स्पष्टोक्ति है,

"अंजलि रंजलि रयं ते, किं जनयसि मम खेदं वचनैः।
मां किं भजसे मया किं ते, त्वं कोऽवा मे तव काऽहं।
किं कार्य मितो गेहे मम ते, शंकां विना किं समागतोसि।
दैवं बलवत्तरं भुवने नैव रोचते नर्म मयि।
एवं भवदिष्टं कुरु कुरु श्रीवेंकटाद्रि श्रीनिवास ।।[1]

लेकिन उसका यह क्रोध नायक के समयोचित व्यापारों से किसी तरह शांत होता है। लेकिन अब उसे यह डर होने लगता है कि नायक को कहीं मेरी बातों से कष्ट नहीं हुआ। वह क्षमाप्रार्थी होकर नायक से कहती है कि

"विरह ताप वश विकल हुई तो
कहा-सुनी कुछ कर बैठेंगी।
बुरा न मानो, क्षमा करो, हम
अबलाएं कब चुप बैठेंगी ।।"[2]

नायक इस बात पर प्रसन्न हो जाते हैं, लेकिन दूसरे दिन उनको किसी अन्य नायिका से इसी तरह की बातें सुननी पड़ती हैं। नायिका अलमेलमंगा इधर कहती है कि

"तुम्हें अपनाकर लेने का
बल मुझ में कब भला रहा।
चतुर नहीं मैं, तभी तुम्हारा
विरह मुझे यों सता रहा ।।"[3]

---

1. अ. सं. १२–२९८
2. अ. सं. १२–७७ (स्वीयानुवाद)
3. अ. सं. १२–२५० (स्वीयानुवाद)

उधर कोई गोपी साश्रुनयना होकर सोपालंभ कहती है कि

"हम अबोध ग्रामीण जनों की
बातों में तुम कब रुचि लोगे।
मथुरा की उन मानिनियों का
चातुर्य यहां कब पाओगे।।"[1]

अन्नमाचार्य ने नायक के मान का भी विस्तार से वर्णन किया है। नायिका का अक्सर यही शिकायत रहती है कि नायक यों ही रूठकर चले गये। बेचारी वह तो नायक का स्वभाव जानकर हर समय अपने क्रिया-कलाप व वचोविन्यास में सतर्क ही रहती है। फिर भी, न जाने, कब कैसे या किस बात में नायक को उसकी परिचर्या में थोड़ी-सी भूल, चूक व त्रुटि देखने को मिलती हैं, वह झठ उसे छोड़कर चले जाते हैं। साश्रुनयना होकर उदास बैठी हुई नायिका को देखकर सखियां घबडाती हैं और बार बार कारण पूछती हैं तो वह अश्रु बरसाती, अपनी सफाई देती कहती है कि "क्या कहूं सखियो, यह सब मेरा भाग्य है। आज सबेरे पति आये तो उन्हें मैंने जरा आइना दिखाया, तो बस, वे झट मुंह मोड़कर चलने लगे। फिर, मैं किसी तरह राजी करके अंदर लाई और उनके बिखरे हुए केश ठीक तरह से संवारना चाहा, तो फिर कुपित होकर उठ खड़े हुए। मैं क्या जानती कि सिर पर के वे कुंम्हलाए फूल उनको उतने प्रिय लगते हैं।"[2]

नायक की अन्यकांता-प्रीति भी कभी कुछ हद से बाहर जाती है। तो वह भी नायिका के क्रोध व मान का खास कारण बनता है। यह प्रेम में दगा जैसी बात है। तभी नायिका नायक से कहती है कि 'जी, तुम उस निगोड़ी ग्वालिन के पीछे पड़े हो।

'भूली मैं ने भेद कहा तो, तुमने उससे बता दिया।
अंगूठी को पहनाया तो, उसको भी ले उसे दिया।।'[3]

यह कहां का न्याय है? मेरे पास आकर ऐसे बोलते हो कि मानों मेरे लिए ही जी रहे हो। लेकिन तुम्हारा यह छल-कपट सारे संसार को मालूम है। अच्छा अब अपनी उस प्रिय के पास ही जाओ,

---

1. अ. सं. १२–२६४ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. १७–३६१
3. अ. सं. १२–६२ (स्वीयानुवाद)

परवनितामणि परतंत्रत्वात् परुष नखांकित पतिरसि त्वं ।
कुरुवक भूरुह कुंजगृहं ते तिरुवेंकट नगाधिप चलरे ।।[1]

अन्नमाचार्य खुद अपने को भी नायक वेंकटेश्वर की प्रिया मानकर कभी उनसे मान करते हैं तो कभी कुछ वाग्वाद । वे कहते हैं "जी दुनियां भर की तुम्हारी सतियों को कौन वंदना करें । आखिर में उनसे किस बात में कम हूं ! जब तुम ने मुझे अपनाया तब मैं भी बड़ी बनी न ?"[2]

४.२.२.४.२ सूरदास की रचना में मान वर्णन :

सूरदास की रचना में राधा को अकसर मानिनी के रूप में दिखाया गया है । वह बात बात पर क्रुद्ध होती है और कृष्ण को धमकी भी दे जाती है । गाय दुहते थोड़ी मजाक करने पर कृष्ण से रूठकर वह बोलती है,

करि न्यारी हरि आपुनि गैयां ।
नहीं अधीन तेरे बाबा के, नहिं तुम हमरे नाथ गुसैंयां ।
हम तुम जाति-पांति के एकै, कहा भयौ अधिकी द्वै गैयां ।
जा दिन तैं संचरे गोपिनि में, ताही दिन तैं करत लंगरैयां ।।[3]

राधा एक दिन कृष्ण के वक्षस्थल पर अपना ही प्रतिबिंब देखती है और उसी क्षण शंका करके कुपित हो उठती है । लेकिन क्रोध में वह जो मुद्राएं दिखाती है, वे सब प्रतिबिंब में भी दीखने लगती हैं, तो वह और भी क्रुद्ध होती है । लेकिन जितना अधिक वह तमकती है, खिचती जाती है, उतना अधिक कृष्ण उसकी ओर आकृष्ट होते जाते हैं । यही मान का वांछित फल है ।

रासलीला प्रसंग में कृष्ण-प्रेम में सनी राधा को स्वाधीन-पतिका नायिका का सहज अभिमान या गर्व लग जाता है, तो कृष्ण अदृश्य होकर उसे पश्चात्ताप की आग में विकल छोड़ते हैं । तब कभी उसे अपनी भूल मालूम पड़ती है और वह सखियों से साफ कह भी डालती है कि 'भूलि नहीं अब मान करौं ।'[4]

मानमोचन के प्रसंगों में सूर की एक स्मरणीय कल्पना यह है कि वे कृष्ण को स्वयं सखी के वेश में राधा के यहां मनुहार करने भेजते हैं । लेकिन राधा

---

1. अ. सं. १२–२६१ 2. अ. सं. १२–६५
3. सूरसागर, पद २३४३ 4. सूरसागर, पद २७११

कृष्ण को झट पहचानती है। सखी दूतियों के प्रयत्न भी मानमोचन में अत्यधिक सहायकारी साबित होते हैं। राधा के सामने वे कृष्ण की विरहविह्वलता का वर्णन करती है और कृष्ण के सामने राधा-सौंदर्य का बयान करती हैं।

मान के साथ खंडिता नायिका का सहज संबंध लगा रहता है। कृष्ण का सभी गोपियों से प्रेम संबंध हो जाता है। वे यहां किसी एक गोपी को वचन देते हैं और वहां जाकर किसी दूसरी के संग रात बिताते हैं। रात भर कृष्ण की प्रतीक्षा में रही हुई नायिका के सामने सबेरे कृष्ण प्रत्यक्ष होते हैं तो तब उनका रूप देखते ही बनता है। नायिका उन्हें दर्पण दिखाती है।

> प्यारी चितै रही मुख पिय कौ।
> अंजन अधर, कपोलन बंदन, लाग्यौ काहू त्रिय कौं।
> तुरत उठी दर्पन कर लीन्हें, देखौ बदन सुधारौ।
> अपनौ मुख उठि प्रात देखि कै, तब तुम कहूं सिधारौ।
> काजर चंदन, अधर कपोलनि, सकुचे देखि कन्हाई।
> सूर स्याम नागरि मुख जोवत, वचन कहौ नहिं जोई ॥[1]

इतना होने पर भी कृष्ण जब जरा कटाक्ष-पात करते हैं तभी नायिका का सारा अमर्ष कपूर-सा गल जाता है। लेकिन सब नायिकाएं एक तरह की नहीं होतीं। चंद्रावली जैसी नायिका के उपालंभ वचन अधिक तीव्र व कटु लगते हैं।

> तहँहि जाहु जहं रैनि बसे हौ।
> काहे कौ दाहन हौं आए, अंग अंग चिह्न लसे हौ।
> अरगज अंग, मरगजी माला, वसन सुगंध भरे हौ।
> काजर अधर, कपोलनि चंदन, लोचन अरुन धरे हौ।
> पलकनि पीक, मुकुर लै देख्यौ, ये कौ नहीं करे हौ।
> सूरदास प्रभु पीठ वलय गड़े, नागरि अंग भरे हौ ॥[2]

खंडिता के रूप में राधा का मान दीर्घ होता है। यह है अधिकार भेद का निरूपण। कृष्ण (भगवान) की घनिष्टता जिससे जितनी अधिक होती है, उस (भक्त जीव) का उनसे उतना ही मान करने व मनुहार पाने का अधिकार होता है। कृष्ण भी उनसे अलग नहीं रह सकते। उनकी व्याकुलता साक्षात्कार व स्वीकार का रूप ले लेती है। 'मान' दशा में संयोग की स्मृति भी संपन्न संभोग का अनुभव देने में समर्थ होती है। राधा कहती है,

---

1. सूरसागर, पद ३१०१ 2. सूरसागर, पद ३११२

नहिं बिसरति वह रति व्रजनाथ ।
हौं जु रही हठि रूठि मौन धरि, सुख ही में खेलत एक साथ ।
पछिहारे में तऊ न मान्यौ, आपुन चरन छुए हंसि हाथ ।।[1]

स्वप्न में संभोग का दृश्य देखकर, अचानक नींद के टूट जाने से बेचारी मानिनी उसे भी सौत मानने लगती है ।

सपने में हरि आए, हौं किलकी ।
नींद जु सौत भई रिपु हमकौ, सहि न सकी रति तिलकी ।।[2]

४.२.२.५ वियोग श्रृंगार :

संसार के सभी भक्तकवियों ने भगवद् विरह का सच्चा अनुभव किया है । अपनी रचनाओं में उन्होंने उसी विरह का उज्ज्वल वर्णन किया है । नम्मालवार तिरुमंगैयालवार, आंडल आदि की रचनाओं में माधुर्य-भक्ति, नायिका भाव और विरह की व्यंजना खूब मिलती है । ऐसे सच्चे भक्त कवियों में होने से हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों की कविता में भी इसी तरह का विरह वर्णन प्रचुरमात्रा में हो पाया है । यह तो भक्त हृदय की सच्ची अनुभूति है । फिर, यह भगवदीय है । अतः दूसरों के हृदय को स्पर्श करने व प्रभावित करने की भी यह कविता काफी क्षमता रखती है और तभी यह सत्यं, शिवं सुंदरं भी लगती है ।

४.२.२.५.१ अन्नमाचार्य की रचना में वियोग श्रृंगार :

अन्नमाचार्य की कविता में नायिका के विरह की कितनी ही अनूठी उक्तियां मिलतीं हैं । नायिका का विरह भगवद् विरह है । जब किसी एक को भगवान से ही दूर होना पड़ता है तब उसको इस संसार में और कौन आसरा हो सकता है? फिर, दैव जो विरोधी बन जाता है तो संसार में किसको तब उस अभाग्य प्राणी से दोस्ती निभाने की सूझती है और रुचती भी? विरह विकल नायिका की स्थिति भी उसी तरह की है । नायक भगवान वेंकटेश्वर ने इधर से मुंह मोड लिया तो बस, उसी क्षण यह सारा संसार उससे विरोध करने लगा । हवा में लू चलने लगीं । चांदनी में धूप पड़ने लगी । कोयल रूठ गयी । भौंरे सताने पर तुले रहे । अनंग का प्रकोप हुआ । उद्यान के फूल ही नहीं, उस पुष्प-कोमली नायिका के हर एक अंग में मन्मथ के पुष्पायुध लगने लगे ।

---

1. सूरसागर, पद ३२०३ 2. सूरसागर, पद ३२६१

सति का हृद् जलजात हुआ अब
क्रूर मार का कुसुमायुध ।
आफत में सच, वैर निभाता
अपने कर का भी आयुध ।[1]

बिचारी नायिका अपने घर में भी सुख-चैन से रह नहीं पाती । उसका घर जो पद्म है, वह अब उसके शरीर ताप से ही कुम्हिला जा रहा है ।[2] संगी-साथी की बात छोड़ दीजिए, स्वयं उसका भाई चंद्रमा भी अब उससे वैर निभाने लगा । उद्यान की चिड़ियां ही नहीं, बल्कि उसके हाथ का क्रीडाशुक भी अब उसका जानी दुश्मन हो गया है ।[3] खैर, सारी प्रकृति उसका विरुद्ध हो उठी है ।

चूतलता निश्शब्द बनी है
कोयल की इक कूक नहीं ।
तरणि-ताप-संतप्त भए गिरि
नभ अंधेरा भार नहीं ।।[4]

इस प्रगाढ ताप वेला में उस बेचारी की बाह्य प्रकृति के साथ आंतरंगिक प्रकृति भी असह्य संताप से विकल हो उठी हैं, तो कहना पड़ता है कि यह सब दैविक है । भगवान का विलास है । उन्हीं की लीला है । नहीं तो, यह क्यों इस तरह तड़पती है, विकल होती है और बिलख बिलखकर रोती है ? बिचारी का मन न किसी में लगता है । न कोई भी बात उसे रुचती है । वह न दूसरों से बोलती है न अपने में आप स्वस्थ रहती है ।

अभी सभी से रुक्ति छोड़ती
कभी दैवकी करती निंदा ।
कभी सोच कुछ, शीश हिलाती,
अभी हर्ष फिर दुख अमंदा ।।[5]
सो नहिं सकती, उठ नहिं सकती,
झूले में भी नींद न पाती ।
अश्रुधार तो अनिश बहाती,
स्नान-पान की सुधि बिसराती ।।[6]

---

1. अ. सं. ४-१३७ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. ३-६५९
3. अ. सं. १२-३६
4. अ. सं. १२-४४ (स्वीयानुवाद)
5. अ. सं. १२-७० ,,
6. अ. सं. १२-२६६ ,,

वेदनातिरेक से वह अपने शरीर को ही भूल जाती है, किंतु यही आश्चर्य है कि वह अपने नायक की बात नहीं भूलती। वह क्षीण कंठ से भी उसी का नाम लेती है। सखियों से उसी की बात पूछती है। वीणा लेकर उसकी प्रशस्ति गाना चाहती है, लेकिन नायक का नाम लेते ही उसका गला गद्‌गद हो उठता है और आंखें भर जाती हैं।[1] वह अपनी विधि को कोसती है और सखियों से अपने मन की शिकायत करती है। उसका मन उसके वश में नहीं है, वह कभी नायक वेंकटेश्वर के वश हो चुका। अब क्या किया जाय? ऐसी दुविधा में भी वह उसकी एक न सुनता। वह कहती है,

> अभिलाषी मन मेरा नहिं सखी,
> वह भी उनका साथ हुआ।
> अंतरंग भी वश में नहिं अब
> वह भी प्रभु के हाथ हुआ ॥[2]

खैर, इस तरह सब कुछ अपने वश में कर लेके, अकारण दूसरों को सताने पर जो तुले हैं, वह भी कोई प्रभु है? कहते हैं कि वह करुणामय हैं, कल्याणगुण संपन्न है और हैं दीनबंधु। तब अपनी प्रिया की रक्षा में वह क्यों तटस्थ हैं? नहीं, तो विलंब क्यों? नहीं नहीं। हम इसको ठीक ठीक नहीं जान सकते।

> तिरुवेंकटगिरि प्रभु की चिंता,
> मन में उपजाती हो ताप।
> जाने सब वह अंतर्यामी,
> कौन कहे यह कैसा ताप ॥[3]

बेशक, वह भगवान यह जानते हैं। फिर भी उनकी मर्जी वियोगिनी से प्रेम निभाने की हुई हो। तभी वे दूर रहते हैं, देरी करते हैं और तमाशा देखते हैं। पर, नायिका के लिए तो यह एक कठिन परीक्षा है। कौन कह सके कि यह अबला उस परीक्षा में पूरी उतरेगी? अभी झुंझुला कर वह कहती है कि 'धिक मेरा जन्म, पति के प्यार से वंचित होकर जीना क्या? आखिर में क्यों जीऊं?

---

1. अ. सं. ३–३४९ येंतटि वाडवू निन्नु नेमंदुनु यिट्टे
   संतस मैनि वितितोड चालदा नीकु।
   ... ... वीण लोने चल्लेंदन विरह मेल्लनु।
2. अ. सं. १२–२८६ (स्वीयानुवाद)
3. अ. सं. १२–२३८ (स्वीयानुवाद)

अच्छा, उन्हीं की आशा लिए मैं यह तन छोड़ दूंगी तो फिर उनसे मिलना सुलभ होगा। जिंदगी में जो बात नहीं घटी, उसे मरण के बाद में ही पाना पड़ता है। जो हो, मैं उनसे मिलूंगी ही।[1]

नायिका के विरह का प्रभाव भी कम नहीं। विरह वेदना से नायिका का मुख मलिन हो गया तो उधर चंद्रमा जरा स्वच्छ दीखने लगा। नायिका उसासें छेड़ती है तो मलयपवन में थोड़ी सी गर्मी आयी। नायिका गाना क्या, बोलना भी बंद कर चुकी, तो शुक-पिक-सारिकाओं के जी में जी आया। वह थकी लेट गयी तो राजहंसों की गति निर्बाध हो गयी।[2]

कहीं कहीं अब वैपरीत्य भी दीखते हैं। कमल, जो हमेशा पानी में ही रहते हैं, वे अब पानी से पीडित होने लगे। आंसू बहाये बहाये नायिका के नेत्र-कमल दुरंत विरह ताप की पीडा उठा रहे हैं। उसके मुख-पद्म से मदन-रवि विरोध कर रहे हैं। तो उच्छ्वास निःश्वासों की हवा से भूख प्यास की आग बुझ जाती है। ठीक है, जब दैव ही विपरीत होता है तब सब के सब विपरीत हो जाते हैं।[3]

संयोग समय की बातों की याद करके नायिका अपने विरह को आप ही उद्दीप्त करती है। सखियों से वैसे स्मरण को छोड़ने की बार बार सलाह पाकर भी वह दीन बनकर, पति के प्रति अपने किये किसी अपराध की याद करके कहती है,

सहसा प्रिय आ पहुंचे सखि मैं, स्वागत भी कर नहीं सकी।
विधि भूली, कुछ विवश हुई मैं. प्राप्त लाभ भी गवां चुकी ॥[4]

लेकिन सखियों के मुंह से भी क्यों न हो, उससे नायक की निंदा सुनी नहीं जाती। "प्रभु वेंकटपति में कौन सा दोष हो सकता है? दोष है अपने भाग्य

---

1. अ. सं. १२–५५ ऊरु लेनि पोलिमेर पेरु पेंपु लेनि ब्रतकु,
गारवंबु लेनि प्रियमु कदिय नेटिके ! ... ...
2. अ. सं. १२–१२ अतिव वदनमु वाड नलरि चेंदुरुडैन
ब्रतुकु गा वोककोंत बयलु मेरसि, ...
तति जेलगुगा नेडु तम केदुरु लेक ॥
3. अ. सं. १२–११०
कलुवलूरक नीट कंदुना यैंदैन, जेलिय कन्नीरिट्ल जेसे गाक।
जलव पै वेडि चल्लुना रवि यिट्ल, नलचि मदनाग्नि वदनमु नोंचे गाक।
अंतकंतकु गालि नणगुना यनलंबु, कांत निट्टूर्पुलावलि चेरिचे गाक ॥
4. अ. सं. ३–१८५ (स्वीयानुवाद)

का। चाहे प्रिय आयें न आयें, मैं उन्हीं की हूं, वे मेरे हैं। मैं अपने को उनकी दासी मानकर सुख पा सकतीं हूं। दूर से उनको देखकर खुश रह सकती हूं। उनके बारे में सुनकर संतृप्त हो सकती हूं। जहां कहीं भी हो वे कुशल रहें, बस, उनहीं का हित मेरा हित है।"[1] नायिका की ऐसी निश्चयोक्तियों और निर्विकल्प भावनाओं को देखकर सखियां आपस में साश्चर्य कह लेती हैं,

> सुधि ले भूले मन प्रिय पर है, प्रिय का भी मन सति पर है।
> मिले रहें या अलग रहें, भाव परस्पर हित पर है ॥[2]

नायिका की ओर से दौत्य निभाने जाकर सखियों ने नायक की स्थिति को भी खूब जान लिया। इधर नहीं आये, लेकिन उधर वे इससे भी अधिक संताप उठा रहे हैं। अपने आश्रितों व आसक्तों से दूर रहकर भगवान थोड़े ही सुखी रह सकते हैं! वे अब नायिका के विरह से इतने व्याकुल हैं कि उनको अब अपने शेष-तल्प पर भी नींद नहीं लगती। वे नायिका से मिलना ही चाहते हैं, उसके पास पत्र लिख भेजते हैं, दूती मुख से अभय दान की याचना तक कर सुनाते हैं।[3]

दूती का आश्वासन सुनकर नायिका तत्काल थोड़ी स्वस्थता पाती है, लेकिन वह भक्त पराधीन नायक वेंकटेश्वर न जाने अपना कष्ट भूलकर किस भक्त के कष्ट दूर करने में व्यस्त हों, यहां आने में विलंब करते हैं तो नायिका की स्थिति फिर पहले सी हो जाती है। नहीं, अब आशाभंग से उसका संताप और अधिक हो जाता है। उसका विरह अब उसी को नहीं, सखियों को भी व्यग्र विकल बना

डालता है। सखियों को अब उसके पास जाने में भी डर लगता है। बिचारी निश्वास छोड़ती है तो ऐसा लगता है कि मानों अंदर की सारी विरहाग्नि अब

---

1. अ. सं. ३–१७०

निन्नु निदुगा वट्टि नेरमुलेंचगा नेल, मन्निंचि नीविवैन मानुपंग रादुगा।
वूरके नन्नोल्लक नीवुंडिना नीगालिननि, पेरु चेप्पंगददुगा ने प्रेम तोडनु।
तेरुगोनि नीवु ना दिक्कु चूड कुंडिन्नु, दूरान निन्नुंजूचि संतोषिंच गद्दुगा।
मानि नीवु समुखान माटलाड कुंडिननु, वीनुल नी चरितलु विंदु गा नेनु ॥

2. अ. सं. २२–३४३ (स्वीयानुवाद)

3. अ. स. १२–३०७

विभुनि विनयमुलु विनवम्मा निनु नभयं बडिगीनय्यो तानु।
रहस्यमुन श्रीरमणुडु पंपिन विहरण लेकलु विनवम्मा ...।

बाहर अपनी लपटें फैलाना चाहती हो ।[1] सखियां घबड़ाकर फिर नायक के पास जाती हैं और कहती हैं कि "भगवन, तुम दोनों आप दोनों के समान हो । वहां हमारी सखी चिंता-समुद्र में निमग्न है, तुम यहां क्षीर समुद्र में बेसुध लेटे हो । वह विरहानल में आश्रय पा चुकी है, तुम रविमंडल में बैठे हो ।[2] अब तुम से क्या कहें ! तुम तो सदा दोषरहित हो और उसमें भी कोई दोष नहीं है, सिरफ उसके प्रेम का ऐसा फल है, जो उसे विरह के रूप में भोगना पड़ता है । सच,

सति का दोष नहीं जगपाल, यह सब त्वदीय लीला-जाल ।
जग से विराग, तुम से सुराग, निद्रा वियोग, उसका भाग ।।[3]

जो हो, अब तुम्हारी इच्छा उसका भाग्य है । तुम सब कुछ जानते हो, सर्वांतर्यामी हो । बस, इतना तो जान लो कि नायिका का कोई अनिष्ट हो जाय तो वह तुम्हारे ही कारण से होगा । बाद को तुम ही पछताओगे ।"[4]

नायक उसी क्षण निकलकर नायिका के पास पहुंचते हैं । नायिका का संकट दूर होता है । सखियों का मन स्वस्थ होता है । वे नायिका के सौभाग्य और नायक के कारुण्य की प्रशंसा में कहती हैं,

"अब तक सति के प्राणों के बच जाने की आस नहीं ।
अब पति वेंकटप्रभु की करुणा से प्राण बचे, भय लेश नहीं ।।
सति का ही नहिं, बल्कि विश्व में सकल चराचर नाथ यही ।
सत्य अहो अब प्रकट हुआ, प्राणि मात्र के प्राण यही ।।[5]

४.२.२.५.२ सूर की रचना में वियोग श्रृंगार :

सूर की रचना में वियोग श्रृंगार का वर्णन कृष्ण के मथुरा-गमन के प्रस्ताव से शुरू होकर भ्रमरगीत प्रसंग में अपना उज्ज्वल रूप लेता है । यह सब प्रवास जन्य विरह है । यह जानते ही कि कृष्ण अक्रूर के साथ जानेवाले हैं गोपियां वियोग जन्य जडता की दशा पा जाती हैं ।

"चलत जानि चितवति व्रज युवति, मानहु लिखी चितेरे ।
जहां सु तहां एक टक रहि गईं, फिरति न लोचन फेरे ।

---

1. अ. सं. ३—३०२ चलमु कोनि वेडि वेदजल्लु नूर्पुलतोडि
   नेलतगनि कट्टेदुर निलव वेरपाय ।
2. अ. सं. ३—२०३
3. अ. सं. १२—५३ (स्वीयानुवाद)
4. अ. सं. ३—६०
5. अ. सं. १२—१४४ (स्वीयानुवाद)

विसरि गईं गति भांति देह की, सुनति न स्रवनन टेरैं ।
मिलि जु गईं मानौं पै पानी, निबरति नहीं निबेरैं ॥"[1]

अव कृष्ण दूर जाते हैं । मिलन की संभावना भी दूर होती है । यह सोच कर उनका विरह ताप और अधिक हो उठता है, 'जिहि विधि मिलहि गुपालो ।'

कृष्ण के चले जाने पर उनकी स्थिति दिनों दिन अधिकाधिक दयनीय होती जाती है । बार बार उनको कृष्ण की और उनके साथ हुई अपनी क्रीडाओं की याद आती रहती है । व्रज की दशा ही बदली-सी लगती है । वहां अब मुरली की धुनि नहीं गूंजती । रातें कल्प समान लगती हैं ।[2] गोपियों को अब अपना श्रृंगार नहीं रुचता । शरीर क्षीण होने लगा । दिल में संताप बढ़ता गया ।

"मुख तमोर नैननि नहिं अंजन, तिलक ललाट न दीन ।
कुचिल वस्त्र, अलकै अति रूखी, दिखियत है तन छीन ॥"[3]

खैर, उनकी दशा से कृष्ण को परिचित करनेवाला भी कोई नहीं दीखता । कृष्ण के जल्दी आने की आशा भी नहीं । बेचारी गोपियों को सभी ओर, सब कुछ सूना ही सूना दीखने लगता है ।

"सूनै घर, सूनी सुख सेज्या, जहां करत सुख सैन ।
सूने ग्वाल बाल सब गोपी, नहीं कहीं उन चैन ॥"[4]

सारी प्रकृति कृष्ण वियोग संतप्त सी होकर, काली काली सी बदल कर, उदास व खिन्न मुद्रा में दिखाई देने लगती है । कालिंदी, जो पहले से काली थी, अब और अधिक काली दीखती है ।[3] लेकिन मधुवन अब भी हरा-भरा खड़ा है, तो गोपियों को पहले आश्चर्य और फिर उस पर क्रोध होता है। कैसी कृतघ्नता! वे उसे कोसने लगती हैं ।

"मधुवन तू कत रहत हरे ।
विरह वियोग श्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ।
मोहन वेनु बजावत तरु तरु साखा टेकि खरे ।
मोहे थावर अरु जड जंगम, मुनि जन ध्यान टरे ।

---

1. सूरसागर, पद ३५७८ 2. सूरसागर, पद ३८३१
3. ,, पद ३८८५ 4. ,, पद ३९६८

वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिर पुहुप धरे ।
सूरदास प्रभु विरह दवानल नख सिख लौं न जरे ।।"[1]

वियोगिनी गोपियों को एक ही वस्तु कभी सहानुभूति प्रकट करती दिखाई देती है, तो कभी दुख देती मालूम पड़ती है । यमुना कभी उन्हीं की तरह विरह-विकल दिखाई देती है तो और कभी पथबाधा-सी लगती है ।[2] चातक जो उन्हीं के समान पी पी रटकर प्रिय वियोग से काला दीखता है,[3] वही और समय में उनके विरह को उद्दीप्त करनेवाला वैरी सा लगता है ।[4] ऐसे चित्त-विभ्रम से गुजरने-वाली उन विरहिणियों की आंखें सावन-बादों के बादलों से भी अधिक व अजस्र रूप से आंसू बरसने लगती हैं ।

गोपियां कहती हैं,

१) "निसि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहति वर्षाऋतु हम पर, जब ते स्याम सिधारे ।।[5]

२) सखी इन नैननि तें घर हारे ।
बिन ही रितु बरसत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे ।।"[6]

गोपियों की ही नहीं, व्रज की गायों की भी कृष्ण विरह में वही दशा हो गयी । वियोग दुख से वे भी नित प्रति सूखती गयीं ।

"जल समूह बरसति दोउ आंखियन, हूंकति लीन्हे नाउं ।
जहां जहां गोदोहन कीन्हौ, सूंघति सोई ठाउं ।
परति पछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन ।
मनहुं सूर काढ़ि डारी है, वारि मध्य तें मीन ।।"[7]

बिचारी गोपियों को वियोग व्यथा से नींद भी नहीं लगती, और उसी हेतु स्वप्न मिलन की साध भी पूरी नहीं होती ।

"सुपने हूं में देखिये, जो नैनन नींद परै ।।"[8]

कृष्ण के पास वे जितने संदेश भेजती हैं, वे सब के सब व्यर्थ साबित होते हैं । कृष्ण नहीं लौटे, यही बात नहीं, संदेश का प्रत्युत्तर भी नहीं मिला । अब उनका मनःक्लेश व्यंग्य में बदल जाता है ।

---

1. सूरसागर, पद ३८०९
2. सूरसागर, पद ३८२८
3. ,, पद ३८९२
4. ,, पद ३९५५
5. ,, पद ४१०३
6. ,, पद ३८५४
7. ,, पद ४६७०
8. ,, पद ३८७६

"संदेसनि मधुबन कूप भरे ।
अपने तौ पठवत नहिं मोहन हमरे फिरि न फिरे ।
जिते पथिक पठये मधुबन कौं, बहुरि न सोध करे ।
कै वै स्याम सिखाइ प्रबोधे, कै कहुं बीच मरे ।
कागद गरे मेघ, मसि खूटी, सर दब लागि जरे ।
सेवक सूर लिखन को अंधौ, पलक कपाट अरे ।।"[1]

कभी कभी गोपियों को ऐसा लगता है कि शायद कृष्ण उन्हीं से तंग आकर मथुरा चले गये हों। वे सोचती हैं कि शायद हमने कृष्ण को कई कष्ट दिये होंगे। खैर, अब एक बार वे यहां आवें । फिर ऐसी धृर्तता हम कभी नहीं करेंगी ।

"फिर व्रज बसौ गोकुलनाथ ।
अब न तुमहिं जगाइ पठवैं, गोधननि के साथ ।
बरजैं न माखन खात कबहुं, दह्यौ देत लुटाय ।
अब न देहिं उराहनौ, नंद धरनि आगैं जाइ ।
दौरि दावरि देहिं नहिं, लकुटी जसोदा पानि ।
चोरी न देहिं उघारि कै, औगुन न कहि है आनि ।।"[2]

राधा की दशा पर अत्यधिक विह्वल होकर उद्धव भी कृष्ण से यही कहते हैं,

"फिरि व्रज बसौ नंद कुमार ।
हरि तिहारो विरह राधा, भई तन जरि छार ।
बिनु अभूषण में जु देखि, परी है, बिकरार ।
एकई रट रटति भामिनि, पीव पीव पुकार ।
सजल लोचन चुअत, उनके कहति जमुना धार ।
विरह अगिनि प्रचंड उनकै, जरे हाथ लुहार ।
दूसरी गति और नाहिं, रटति बारंबार ।
सूर प्रभु को नाम उनकै लकुट अंध आधार ।।".[3]

सूर का भ्रमरगीत वियोग का सर्वोत्कृष्ट काव्य है । संदेशवाहक उद्धव गोपियों और राधा की विरह दशा के प्रत्यक्ष परिचय से इतना प्रभावित होता है कि उसका ज्ञानमार्ग कहीं छूट जाता है और वह भी प्रेम मार्ग की उत्तमता को सराहने लगता है । भागवत में उद्धव के निर्गुणोपदेश से गोपियां संतुष्ट-सी रह

---

1. सूरसागर, पद ३९१९ 2. सूरसागर, पद ३८४८
3. „ पद ४७२८

जाती हैं। लेकिन सूर के भ्रमरगीत में गोपियों को ऐसी बातों में विश्वास भी नहीं होता। विश्वास होवे तो भी उनका कृष्ण के उस रूप से कोई मतलब नहीं। अन्योक्ति पद्धति को अपनाकर भ्रमर के मिष कृष्ण और उद्धव दोनों का वे उपालंभ करती हैं। अंत में वे उद्धव के द्वारा कृष्ण को यह संदेश भेजती हैं कि

"जद्यपि व्रज अनाथ करि डार्‌यौ,
तद्यपि सुरति फिरउ चित रहियौ।
तिनका तोर करहु जनि हम सौं,
एक बास की लाज निबहियौ।।"[1]

चाहें कृष्ण कहीं भी रहें, सुखी रहें। वे अब विरह संतप्त व्रज में न आवें।

ऊधौ इतनी जाइ कहौ।
सबै विरहिनी पा लागति हैं, मथुरा कान्ह रहौ।
भूलिहुं जनि आवहु इहि गोकुल, तपति तरनि ज्यौं चंद।
सुंदर वदन स्याम कोमल तन, क्यों सहि हैं नंद नंद।।[2]

अन्नमाचार्य की रचना में भी उद्धव-गोपी संवाद व भ्रमरोपालंभ के कुछ गीत अवश्य मिलते हैं,[3] किंतु वे यत् किंचित् उपालंभ तत्व को छोड़ और कोई प्रगाढ वियोग दशा की व्यंजना नहीं करते। सूर ने भ्रमरगीत प्रसंग को उपालंभन या वियोग व्यंजना मात्र के लिए ही नहीं उठाया, अपितु उसके जरिये प्रेमभक्ति की उत्तमता को सिद्ध करने के लक्ष्य से भी उसको अत्यधिक विस्तार से रचा है। किंतु सूर की खूबी इस बात में है कि गोपियों की सहज सरल प्रेमाकुल उक्तियों व साधारण युक्तियों के बल पर ही उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को कहीं अधिक उत्कृष्ट सिद्ध किया है।

४.२.२.६ तुलना :

अन्नमाचार्य और सूर दोनों के श्रृंगार वर्णन अलौकिक नायिका-नायकों के आलंबन पर हुआ है। अन्नमाचार्य अपने आलंबन की अलौकिकता को कभी नहीं भूलते। उनका श्रृंगार अकसर लौकिकता की परिधि को लांघकर अलौकिक वातावरण में विन्यस्त होता है। सूरदास का श्रृंगार अलौकिक होकर भी लोकिकता की परिधि में ही प्रदर्शित हुआ है। अन्नमाचार्य के नायिका-नायक अपने दिव्यत्व को बनाये रखते हैं। सूर के नायिका-नायक दिव्य होकर भी अकसर मानव रूप में उपस्थित होते हैं।

---

1. सूरसागर, पद ४६८४ 2. सूरसागर, पद ४६८५
3. अ. सं. १२–५६

अन्नमाचार्य का नायक श्रीवेंकटेश्वर सभी परिस्थितियों में उदात्त व गंभीर व्यक्तित्व को लिये मिलते हैं। पहाड़ी नायिकाओं के संग में भी उनके सर्वेश्वरत्व में त्रुटि नहीं होने पाती। कृष्ण चरित के वर्णन में भी अन्नमाचार्य की दृष्टि सदा नायक के दिव्य-पुरुषवाले रूप पर ही अधिक रहती है। सूरदास के कृष्ण अकसर चंचल व चपल दीखते हैं। राधा की धमकियां भी उनसे सही जाती हैं। उसके मान-मोचन के प्रयत्न में असफल ही नहीं होते, बल्कि वे सखी के छद्म वेष का भी धारण करते हैं। होली के अवसर पर गोपियों के हाथ उनकी कितनी ही बुरी दशा होती है। फिर भी उनका आकर्षण अलौकिक है। उनका सर्व सम्मोहन रूप है।

अन्नमाचार्य की नायिका नख से सिख तक देवी है। वह मान कम करती है, लेकिन अभिमान अधिक रखती है। प्राणोत्कट विरह में भी अभिसार या विप्रलब्धयोग की क़ल्पना तक उसके लिए असंभव है। वह लोकमाता हर परिस्थिति में अत्यंत गंभीर व शालीन रहती है। नायक की लोकोन्नत स्थिति में भी अपने कारण से वह कभी कोई आंच न आने देती। पूर्वराग में गुरुजन भीति या प्रणय में परकीया भाव की ऱति जैसों केलिए वहां स्थान ही नहीं है लेकिन सूर की राधा केलिए ये सब सहज हैं। वह अधिक मान भी दिखा सकती है। उसकी चपलता और चातुरी भी मोहक हैं।

अन्नमाचार्य का शृंगार ऐश्वर्योपेत संभ्रात परिवार के अंतःपुर जीवन के विलासमय वातावरण में अधिक और साधारण लोक जीवन के सहज सरल प्राकृतिक वातावरण में कम प्रकल्पित है। सूरदास का समस्त शृंगार ग्राम जीवन के परिपार्श्व में, प्रकृति के खुले वातावरण में विन्यस्त है। अन्नमाचार्य का शृंगार जीवन का उतना साथ देता या उसका वैसा अंग होता नहीं दीखता जितना कि सूरदास का। लेकिन प्रेम के वर्णन में विस्तार के साथ जो गंभीरता और सूक्ष्मता अन्नमाचार्य में मिलती हैं, वह सूर मे नहीं मिलती। सूर का पूर्वराग चापल्य मिश्रित हो गया है। दूती-प्रसंग भी अन्नमाचार्य की रचना में जैसा सर्वांगपूर्ण हुआ है, वैसा सूर की रचना में नहीं हो पाया। मान का वर्णन तो सूर ने कई बार किया, कहीं कहीं उसकी अति भी हो गयी, किंतु नायक का मान न तो वैसा प्राधान्य पा सका, न वह उतना गंभीर व पुरुषोचित भी हो पाया।

अन्नमाचार्य और सूर दोनों में संयोग वियोग की विविध मानसिक दशाओं का विस्तार से वर्णन हुआ है। विभिन्न परिस्थितियों की कल्पना और विविध प्रसंगों की उद्भावना में दोनों कवियों की कुशलता एक सी दीखती है। लेकिन वियोग की व्यावृति दिखाने में सूर की रुचि अधिक मालूम पड़ती है। अन्नमाचार्य संयोग के क्षणों की भावना और तद्गत पात्रों की विविध अनुभूतियों की कल्पना

में अधिक रुचि दिखाते हैं, तो सूर वियोग दशाओं की विस्तृत कल्पना और तीव्र अनुभूति में ज्यादा रुचि रखते हैं। यह उनके स्वीकृत दार्शनिक सिद्धांतगत आदर्श का फल है।

सूर की रचना में रासलीला, होली, फाग, पनघट लीला, दानलीला, भ्रमर-गीत वगैरह प्रसंग स्वतःपूर्ण खंड काव्य जैसे दीखते हैं। अन्नमाचार्य की रचना में मात्र दानलीला के पद ज्यादा मिलते हैं, किंतु उनका भी कोई क्रम या लक्ष्य नहीं दीखता।

सूर की रचना में प्रकृति का वर्णन खूब मिलता है। श्रृंगार के उद्दीपन रूप में, ऋतु शोभा व प्रभाव प्रदर्शन के रूप में और सौंदर्य चयन व उपमान ग्रहण के निमित्त सूर ने प्रकृति का खूब वर्णन किया है। अन्नमाचार्य की रचना में उसका केवल उपमान चयन के निमित्त ही उपयोग हुआ है। न कहीं ऋतु वर्णन मिलता है न कभी किसी घटना या लीला की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण।

मुरली वादन, नयन-समय, जैसों के अंतर्गत सूर ने एक से एक अनूठे पद रचे हैं। विवाह, उत्सव, दरबार, अंतःपुर प्रसंग व सपत्नी-कलह के वर्णन में अन्नमाचार्य के अनगिनत पद मिलते हैं। उनका अपना सांस्कृतिक महत्व भी है। सूर के होली, फाग आदि के सुदीर्घ व सुविन्यस्त पदों का भी वैसा सांस्कृतिक महत्व स्पष्ट है।

४.२.३ अन्य रस-भाव योजना :

४.२.३.१ संचारियों का वर्णन :

यद्यपि भक्ति मूलक शांत, वात्सल्य व श्रृंगार के वर्णन को ही प्रधान रूप से अपनाने पर भी हमारे आलोच्यकवि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों ने आनु-षंगिक रूप से अपनी रचना में अन्य रस-भावों की भी यथोचित व्यंजना की है। दोनों कवियों ने आनुषंगिक रूप से विविध संचारियों की विस्तृत एवं विशद व्यंजना की है। श्रृंगार के दोनों पक्षों में हर्ष, मद, ईर्ष्या, निर्वेद जैसे भावों के वर्णन में दोनों कवियों ने बड़ी खूबी दिखायी है। कहीं कहीं हर्ष या ईर्ष्या का स्थायित्व और तदनुरूप अन्य कई संचारियों की जागृति भी वर्णित हो पायी है।

अन्नमाचार्य की नायिका प्रिय का वाल्लभ्य पाकर अतीव हर्ष से फूली न समाती है तो सखियां उसे देखकर आपस में कह लेती हैं कि "देखो, आज इसे कितना गर्व-सा हो गया है। वह अपने रूप और यौवन के मद में इतनी भूली-सी

रहती है कि आंखें खोलकर हमारी ओर भी सीधी दृष्टि नहीं फेरती। झूले में झूलती रहकर तन की इतनी भी सुध नहीं रखती कि आंचल जो सरक गया उसे भी ठीक नहीं कर लेती।"[1]

सूर की गोपियों को मुरली सौत-सी लगती है। उससे ईर्ष्या करके कोई गोपी कहती है,

"सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिन गोपाल कीन्हे अपने वश प्रीति सबनु की तोरि।
छिन एक घोर, फेरि वसुता सुर, धरतन कबहूं छोरि।
कबहूं कर कबहूं अधरन पर कबहूं कटि में खोसत जोरि।
ना जानो कछु मेलि मोहिनी, राखो अंग अंग भोरि।
सूरदास प्रभु कौ मन सजनी, बंध्यौ राग की डोरि॥"[2]

इसी तरह निद्रा, जागरण जैसी शारीरिक वृत्तियों से लेकर, मति, तर्क जैसी बौद्धिक वृत्तियों तक की सभी संचारियों की रसानुकूल व्यंजना दोनों कवियों में मिलती है। भाव-संधि, भाव-शांति, भावोदय और भाव शवलता के कितने ही अनूठे उदाहरण दोनों की रचनाओं में से लेकर प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

अन्नमाचार्य की नायिका का यह एक विरह चित्र है।

"सत्वर उठ ले प्रिय की चिट्ठी साश्रुनयन पढ़ जाती है।
पढ़ते पढ़ते सोच सोच कुछ विस्मित हो चिढ़ जाती है॥"[3]

सूरदास की विरहिणी का भी एक चित्र नीचे दिया जाता है।

"कर कपोल भुज धरि कंधा पर, लेखति भुइं नखनि की रेखनि।
सोच विचार करति यह कामिनि, धरति जु ध्यान मदन मुख मेषनि॥"[4]

४.२.३.२ अनुभावों और मुद्राओं का वर्णन :

उपरोक्त उदाहरणों से हमारे आलोच्य कविद्वय के अनुभाव विधान का भी अंदाज मिल सकता है। अनुभावों को जुटाने में वे एक ओर से रस व्यंजना तो

---

1. अ. सं. ३–४५३ चक्कदनमुल चेत जव्वन भारमु चेत.
यॅक्कुडंटा गान दिंक नेमि सेतमे।
ओय्यनं बंगारु तूगुटुय्याल मंचमु मीद
पय्यदचेरगुजार बव्वलिंचि।
2. सूरसागर, पद १२७५
3. अ. सं. १२ (स्वीयानुवाद)
4. सूरसागर, पद ३४०५

करते हैं और दूसरी ओर से कोई मनोहर शब्द चित्र भी हमारे सामने उपस्थित करते हैं। ऐसे न जाने कितने ही शब्द चित्र नायिका के वर्णन में दोनों कवियों ने प्रस्तुत किये हैं। उनके हाव, भाव, विलासों की कितनी ही मुद्राएं व मनोहर अंगभंगिमाएं यहां देखने को मिलती हैं।

अन्नमाचार्य की नायिका का यह एक चित्र है जो पति के प्रवास प्रस्ताव के सुनने पर उसमें व्यक्त होनेवाली विरह शंका सूचक मुद्राओं से भरा पूरा है।

"सुनकर प्रिय की बात, मौन धर, सांस छोड़ दिल भरती है।
पादांगुलि से धरती पर लिख, आंखों में जल भरती है॥"[1]

सूरदास की रचना में ऐसे कई चित्र मिलते हैं जो नायिका की विविध अंग-भंगिमाओं व मुद्राओं के जरिए उसकी मानसिक दशा को खूब व्यक्त करते हैं।

"आवति ही जमना भरि पानी।
स्याम-चरन काहू कौ ढोटा, निरखि बगन घर-गैल भुलानी।
मैं उन तन उन मोतन चितयौ, तबहिं तें उन हाथ बिकानी।
उर धकधकी, टकटकी लागी, तन व्याकुल, मुख फुरति न बानी॥"[2]

४.२.३.३ हास्य आदि अन्य रसों का वर्णन :

अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों ने प्रसंगवश हास्य, करुणा, अद्भुत, वीर, रौद्र आदि अन्य रसों की भी व्यंजना की है। ये बहुधा मुख्य रस के अंग रूप में व्यंजित होते है। कवि के व्यक्तित्व और अभिरुचि के अनुसार भी इनमें किसी किसी की व्यंजना अधिक और किसी किसी की व्यंजना कम हुई मिलती है। अन्नमाचार्य स्वभावतः हास्यप्रिय मालूम पड़ते हैं। फिर, सखी संप्रदाय के भक्त होने से उनको कभी श्रीवेंकटेश्वर की मूर्ति में अथवा उनकी लीलाओं में एक न एक विकृति ढूंढ निकालने तथा उसके व्याज से अपने भगवान पर व्यंग्य-परिहास छोड़ने का अवकाश आसान ही मिलता है। भगवान बालाजी श्रीवेंकटेश्वर अपने निजधाम वैकुंठ को छोड़कर तिरुमल पहाड़ पर आ बस गये हैं। उनको यहां हमेशा के लिए, भक्त हित में ही क्यों न हो, स्थाणुवत् खड़ा रहना पड़ा। फिर उनको अपने गले में सदा के लिए अलमेलमंगा लक्ष्मी को भी ढोता रहना पड़ा। यह सब देखकर कवि कहते हैं, 'जी, तुमने पहले जो किया था, अब उसीका फल भोग रहे हो।'

---

1. अ. सं. १२–३१८ (स्वीयानुवाद) 2. सूरसागर, पद २०३०

"और सभी को कर्म-बंध में, तुमने बांधा कभी पुरा ।
वही बंध अब लगा तुम्हें भी, ले लो अपना भला-बुरा ।
नारी का वध किया पुरा, नारी को अब गले धरा
गिरि-वन का तब नाश किया, गिरि-पति का अब रूप धरा ॥"[1]

अन्नमाचार्य ने रसाभास, आदि के वर्णन में भी हास्य के लिए काफी जगह पा ली है । नायक भगवान की प्रशंसा में यह हास्यरसाभास की छटा देखिए ।

"दो सतियों की चाह हुई,
तो चार भुजाएं धरनी पड़ीं ।
बहु नारी-सुख प्रीति हुई,
तो तदनुरूप मति करनी पड़ी ॥"[2]

हास्य के लिए अन्नमाचार्य ने कहीं कहीं रसांतर को भी प्रस्तुत किया है । नायक वेंकटेश्वर के पामर-शृंगार-लीलाओं के वर्णन में इसके ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं । ऐसे प्रसंगों में कवि का उक्ति-चातुर्य भी खूब झलकता है ।

"स्थापयिष्यामि वेदा निति व्याजेन
दीपितोयं मत्स्य देहः पुरा ।
व्यवहारोऽय मेवं न च तरुण्या,
रूप जलधौ केलि रुचये तत्र ।
धारयिष्यामि मंदर मिति व्याजेन,
चारु कच्छप विधाचरणं पुरा ।
निरसितुं तनु मनीषा प्रियवधू,
भार कुच मंदरौ भर्तुं तत्र ।
भुव मुद्धरिष्यामि पुन रिति व्याजेन,
धवल किटि वैभवं धत्से पुरा ।
व्यवहृतिरियं न च महा महि कुच तटे,
तव दंतक्षतं दातुं तत्र ॥"[3]

सूरदास की रचना में भी हास्य का वर्णन कई पदों में मिलता है । कृष्ण के माखन-चोरी-प्रसंग में ऐसे कई हास्य भरे वृत्त वर्णित हैं । माखन चुराते पकड़े जाने पर कृष्ण की यह सफाई देखिए ।

---

1. अ. सं. १२–१५७ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. २–१५३ („) 3. अ. सं. ३–४४०

"मैं जान्यौ यह मेरो घर है, तो धोखे में आयौ ।
देखत ही गोरस में चींटी, काढ़न को करि नायौ ।।"[1]

अपने को निर्दोषी साबित करते कृष्ण अपनी मां से कभी यों कहते हैं कि

"मैया मैं नहिं माखन खायौ ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायौ ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊंचै धरि लटकायौ ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपने, सैं कैसे करि पायौ ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायौ ।।"[2]

दानलीला के प्रसंग में भी सूर ने कई हास्यभरे चित्रों और कितनी ही व्यंग्य परिहासमय उक्तियों का वैभव दिखाया है ।

"छोटी मटुकी मधुर चाल चलि, गोरस बेंचति ग्वालि रसाल ।
हरबराई उठि चली प्रात ही बिधुरे कच कुम्हलानी माला ।
गेह नेह सुधि नैंक न आवति, मोहि रही तजि भवन जंजाल ।
और कहति और कह आवत, मन मोहन कैं परि जु ख्याल ।
जोइ जोइ पूछत हैं कह भामै, कहति फिरति कोउ लेहु गुपाल ।
सूरदास प्रभु कैं रस बस ह्वै चतुर ग्वालिनी भई बिहाल ।।"[3]

मार्ग रोक कर दान मांगनेवाले कृष्ण से गोपी यों कहती है,

"जानी बात तुम्हारी सब की ।
लरिकाई के ख्याल तजौ अब गई बात वह तब की ।
मारग रोकत रहे जमुन कौ, तिहिं धौखें ही आए ।
पावहुगे पुनि कियौ आपनौ, जुवतिन हाथ लगाए ।
जौ सुनिहैं यह बात मात पितु, तौं हम सौ कह कैहैं ।
सूर स्याम मोतिन लर तोरी, कौन जवाब हम दैहैं ।।"[4]

वीर, रौद्र, अद्भुत आदि की व्यंजना अन्नमाचार्य की रचना में अकसर भक्ति के अंग रूप में ही मिलती हैं । उनके कई स्तोत्र रूप मुक्तक रचनाएं ऐसी मिलती हैं, जिनमें अलंबन के अनुरूप वीर, रौद्र आदि की प्रसंगोचित व्यंजना हो पायी है । उदाहरण केलिए निम्न लिखित नृसिह स्तोत्र में रौद्र रस की व्यंजना देख सकते हैं ।

---

1. सूरसागर, पद ८९७
2. सूरसागर, पद ९५२
3. „ पद २२५९
4. „ पद २१५१

"फाल नेत्रानल प्रबल विद्युल्लता
केली विहार निश्चल नारसिंहा ।
प्रलय मारुत घोर भस्त्रिका फूत्कार
ललित निश्वास डोला रचनया ।
कुलशैल कुंभिनी कुमुद-हित रवि गगन
चलन विधि निपुण निश्चल नारसिंहा ।
विवर घन वदन दुर्विष हसन निष्ठ्यूत
लव दिव्य परुष लाला घटनया ।
विविध जंतुव्रात भुग्न मग्नीकरण
नव नव प्रिय गुणार्णव नारसिंहा ।
दारुणोज्ज्वल धगद्धगित दंष्ट्रानल
विकार स्फुलिंग संग क्रीडया ।
वैरि दानव घोर वंश भस्मीकरण
कारण प्रकट वेंकट नारसिंहा ।।"[1]

सूर की रचना कथाश्रित होने से तत्तद् रसों के अनुरूप प्रसंगों में उनकी यथोचित व्यंजना हुई है । निम्नोद्धृत पद में अद्भुत रस की प्रसंगोचित व्यंजना देख सकते हैं ।

"मुरली सुनत अचल चलें ।
थके चर, जल झरत पाहन, विफल वृच्छ भले ।
पय स्रवत गोधननि थन तें, प्रेम पुलकित गात ।
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव, विटप चंचल पात ।
सुनत खग मृग मौन साध्यौ, चित्र की अनुहारि ।
धरनि उमंगि न मति उर में जती जोग विसारि ।
ग्वाल गृह गृह सबै सोवति, उहैं सहज सुभाइ ।
सूर प्रभु रस रास के हित, सुखद रैनि बढ़ाइ ।।"[2]

---

1. अ. सं. ५–१८४
2. सूरसागर, पद १३८६

४.३. | काव्य वैभव : कलापक्ष

४.३.१ अप्रस्तुत विधान :

काव्य में कवि का लक्ष्य किसी अनुभूति या तथ्य का वर्णन तक सीमित नहीं रहता। तथ्य-कथन या अनुभूति-कथन उसका प्रस्तुत उद्देश्य रहता है, तो उसे पाठकों या श्रोताओं तक पहुंचाने का ढंग भी उसके उद्देश्य के अंतर्गत रहता है। इसी ढंग या काव्य-कथन पद्धति को काव्य का कला-पक्ष कहते हैं। इस में कवि अपने लोकानुभव, शास्त्रज्ञान, काव्य मर्मज्ञता, सुरुचि, औचित्य विवेक आदि न जाने कितनी ही बातों को काम में लाकर प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का एक अलग प्रपंच निर्मित कर दिखाता है। इसका सौंदर्य भी सहृदय पाठकों से अनुभूत होने योग्य रहता है। तभी यह अकसर कहा जाता है कि काव्य के प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों विधान काव्यात्मा रस की व्यंजना एवं उसकी पुष्टि में सहायक बनते रहें। प्रस्तुत याने भावपक्ष को लेकर हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास का तुलनात्मक अध्ययन पहले इसी अध्याय में किया जा चुका है। अब इन दोनों भक्त कवियों के काव्य के अप्रस्तुत याने कला-पक्ष का दिग्दर्शन उनकी अलंकार योजना, भाषा शैली, छंद और संगीत आदि तत्वों की तुलनात्मक परीक्षा के आदर्श पर किया जायेगा।

४.३.२ अलंकार योजना :

काव्य के मान्य अप्रस्तुत विधानों में अलंकार योजना का प्रमुख स्थान है। पहले के कवि और आचार्य यही मानते थे कि 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्', 'सौंदर्य-मलंकार:', 'अलंकारा एव काव्ये प्रधानम्', आदि आदि। लेकिन बाद में जब से रस का प्राधान्य सर्वमान्य हो गया तब से अलंकारों को रसानुकूल व रस सहायक बनाने का प्रयत्न सर्वत्र विद्यमान होने लगा। हमारे आलोच्य कवियों में भी अलंकारों को यथासंभव रसानुकूल बनाने का प्रयत्न ही दिखाई पड़ती है। फिर

भी वह जमाना ऐसा था, जब कि तेलुगु साहित्य में अलंकारमय चित्रशैली का प्रादुर्भाव हो रहा था। तत्कालीन (१५ वीं सदी) कवियों पर नाचन सोमनाथ की विचित्र शिल्प शैली का प्रभाव ज्यादा दीखने लगा। यमक, श्लेष और अनुप्रास जैसे शब्दालंकारों तथा उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, असंगति, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, छेकोक्ति जैसे अर्थालंकारों, सुदीर्घ सांगरूपकों, मुद्राओं और परिसंख्या एकावली जैसे प्रौढ अलंकारों का कितने ही कवियों की रचनाओं में विशेष रूप से प्रयोग होने लगा। अन्नमाचार्य की कविता में भी यही बात देखने को मिलती है। लेकिन वे सहज कवि थे, कविता मर्मज्ञ थे और भावुक भक्त थे। अतः उनका अलंकार विधान ज्यादातर रसानुकूल ही बन पड़ा है। उनकी कविता में हमें दो तरह का अलंकार विधान मिलता है। एक तो, अलंकार अलंकार केलिए अथवा चमत्कार केलिए प्रयुक्त होना और दूसरा है, अलंकार रस व्यंजना में सहायता पहुंचाने केलिए प्रयुक्त होना। हिन्दी साहित्य में भी सूरदास के पूर्व विद्यापति जैसों में ऐसा अलंकार विधान पाया जाता रहा। सूर पर भी इसका प्रभाव पड़ा तो उनमें भी कुछ हद तक इसी तरह का अलंकार विधान आवृत हो गया। सूर के काव्य में भी एक ओर से निरे चमत्कार केलिए या कथन की निगूढ गुप्ति केलिए अलंकारों का प्रयोग मिलता है, तो दूसरी ओर से रसानुकूल या रसोत्कर्षदायक अलंकार विधान मिलता हैं।

४.३.२.१ अन्नमाचार्य का अलंकार विधान :

अन्नमाचार्य की कविता में जहां अलंकार अलंकार केलिए ही प्रयुक्त हुए हैं, वहां हमें कवि का पांडित्य तो अवश्य मालूम पड़ता है, किंतु उससे हमें चमत्कार के सिवा और कोई आनंद नहीं मिलता। हम यह मानने को तैयार होते हैं कि कवि की शक्ति बड़ी है, लेकिन यह कहे बिना नहीं रह सकते कि उससे हमें मिलनेवाली रक्ति बहुत थोड़ी है। उदाहरण केलिए नीचे के एक दो पद देख सकते हैं, जहां कवि की ऐसी चमत्कार पुर्ण अलंकार योजना खूब देखने में आती है।

भौंह धनुष, अरु नयन मीन हैं,
कटि है सिंह, उरोज कुंभ हैं।
मकरांचल है मकर राशि, खुद
कन्या है, गति तुलादंभ है ॥[1]

---

1. अ. सं. १२–१४३ (स्वीयानुवाद)

यहां कवि नायिका की वयःसंधि वेला के अंग-प्रत्यंग सौंदर्य के वर्णन में कविसमय प्रसिद्ध उपमानों से काम लेते हुए भी दूसरी ओर से ज्योतिष शास्त्र प्रसिद्ध मेषादि द्वादश राशियों के नाम गिनने के प्रयत्न में लगे हैं, जो चमत्कार के सिवा अन्य कोई प्रयोजन नहीं साधता। उपरोक्त उदाहरण में सिंह से मीन तक की राशियों में वृश्चिक को छोड़ बाकी सभी नाम आये हैं।

सखि, इस मन्मथ संवत्सर में
शशि ही राजा, सूर्य नहीं।
तभी रात में धूप सताती,
मलयानिल से कार्य नहीं॥[1]

यह तो विरहिणी नायिका से सखी की उक्ति है। इसमें 'मन्मथ' संवत्सर कहकर कवि (प्रभवादि वर्ष नामों में से मन्मथ को लेकर) चमत्कार करना चाहते हैं। प्रकरण गत अर्थ जो विरह है, उसे जानकर पाठक चमत्कार के साथ थोड़ी सरसता का भी अनुभव अवश्य करता है, फिर भी यहां चमत्कार का ही पक्ष अधिक है।

अलि समूह है अराल कुंतल,
वदन पद्म पर तभी लगे।
चक्रवाक हैं चारु कुच द्वय,
तभी ताप-रवि बंधु लगे॥[2]

यहां भी कवि-समय प्रसिद्ध उपमानों को लेकर हेतु-प्रत्यय-पूर्ण उक्ति तो खड़ी की गयी है, किंतु उपमान और उपमेय में सादृश्य व साधर्म्य केवल कवि-कल्पित होने से हमें कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। हां, प्रकरण को भी दृष्टि में रखें तो बात कुछ अलग जंचेगी। यहां विरहिणी नायिका का वर्णन प्रस्तुत है। विरह ताप से दुखी होकर नायिका ने अपने केश-पाश का ठीक तरह से संवरण नहीं किया। उसके शरीर में ताप और ज्वर के लक्षण विद्यमान थे। वह सुस्त और मंद तथा उदास दीखती थी। उसके अलक मुख पर अस्तव्यस्त बिखरे पड़े थे। उसका वक्ष ताप संतप्त हो रहा था। इतना सोचने पर उपरोक्त वर्णन में कुछ सरसता अवश्य मिलेगी।

अन्नमाचार्य की कविता में परंपरागत कविसमय प्रसिद्ध अलंकार योजना के ऐसे कई उदाहरण मिलते है, जहां रस व्यंजना की अपेक्षा चमत्कार प्रदर्शन की

---

1. अ. सं. १२–१६९ (स्वीयानुवाद)
2. अ. सं. १२–२६५ (,,)

प्रवृत्ति अधिक दीखती है। लेकिन इससे यह समझना नहीं चाहिए कि उनके प्रयुक्त सभी अलंकार इसी प्रकार के हैं। नहीं, वह उस जमाना का प्रभाव है। औरों की अपेक्षा अन्नमाचार्य की रचना में यह बहुत कम है।

अन्नमाचार्य स्वतंत्र व्यक्तित्व रखनेवाले कवि थे। वे अपनी कल्पना या भावना को निहायत उन्नत बढ़ा सकते थे। खुद रसार्द्र एवं तन्मय होकर वे भगवल्लीला गाया करते थे। अतः उनकी कविता में अलंकार ज्यादातर रसानुकूल ही बन पड़े हैं। संयोग शृंगार के निम्न लिखित उदाहरण इस बात को प्रमाणित कर सकते हैं कि रसोचित अलंकार योजना में भी यह कवि निहायत कुशल हैं।

सुरुचिर केतकसुमदल नखरैः
वर चिबुकं सा परिवृत्य
तरुणिम सिंधौ तदीय दृग्
जलचर युगलं संसक्तं चकार ॥
हरिसुरभूरुह मारोहतीव
चरणेन कटिं संवेष्ट्य ।
परिरंभण संपादित पुलकैः
सुरुचिर्जाता सुमलतिकेव ॥[1]

यहां 'तरुणिम-सिंधु में दृग-जलचरों को संसक्त किया' कहकर कवि आंखों की चंचलता और उसके द्वारा व्यक्त संयोगलीला-जनित हर्ष, आवेग, लज्जा आदि भावों को भी ध्वनित करते हैं। उसी तरह परिष्वंग सुख से संजात-पुलकोंवाली नायिका की तनु को वृक्षाधिरोहण करनेवाली सुमलतिका से उपमित करके, हरि को कल्पवृक्ष कहकर, कवि भक्तात्मा के परमात्मा से मिलन व तज्जनित हर्ष-पुलकों की भी निगूढ व्यंजना करते हैं। और एक पद भी देखिए, जहां कवि की कल्पना का पारम्य भी साफ झलकता है।

वनिता कुचयो वंर नखरेखा
नव शशिचिह्नं सफलमिदं ।
घन करुणा मयि घटय चंद्र
इत्यनुनय कारणमहो भवद्वि ॥[2]

---

1. अ. सं. १२–१६५   2. अ. सं १२–३१७

यहां प्रस्तुत संभोग चिह्नों के वर्णन के साथ साथ पहले के विरह कालीन चंद्रोपालंभन व चंद्र-प्रार्थना आदि संदर्भों की भी चमत्कार पूर्ण ढंग से याद दिलाते हैं ।

कल्पना जब तक सत्य के आधार पर चलती है, अथवा वह सत्य का आभास प्रतीत होती है, तब तक उसमें सरसता रहती है । निरी कल्पना या ऊहा खिल-वाड जैसी होती हैं । काव्य में अप्रस्तुत योजना का आधार कवि की कल्पना है । वह कभी किसी पदार्थ केलिए तो कभी किसी परिस्थिति केलिए अप्रस्तुत की योजना करता है । पदार्थ केलिए कल्पित व संभावित अप्रस्तुत में जिस तरह सारूप्य व साधर्म्य दोनों की अपेक्षा रहती है, उसी तरह परिस्थिति केलिए कल्पित व संभावित अप्रस्तुत में साधर्म्य की आवश्यकता ज्यादा रहती है । कवि कल्पित वस्तु-व्यापार अथवा संभावित हेतु-प्रत्यय-गत तर्क-प्रपंच तभी रसोचित एवं मनमोहक होता है, जब कि उसके आधार पर पाठक भी तदनुरूप कल्पना व भावना कर सके, क्योंकि तद्भाव भावना के बिना पाठक के दिल में रस संचार नहीं होता ।

साधारणतः साम्यमूलक अलंकारों के प्रयोग में कवि का उद्देश्य यही रहता है कि उनके द्वारा वर्ण्य वस्तु का बोध सुगम हो । अतः कवि वर्ण्य वस्तु को ऐसे परिचित लोक सामान्य या रूढि बद्ध पदार्थों से उपमित करके सादृश्य व साधर्म्य से भावबोध में सुगमता पहुंचाते है । कविसमय प्रसिद्ध उपमान वस्तुओं की अपेक्षा लोक में से चुनी हुई उपमान वस्तुओं से ऐसा भावबोध और भी सुगम होता है, अतः जो कवि इस तरह अपने उपमानों को लोक में से, सुपरिचित वस्तु प्रपंच में से चुन लेता है, वह उत्तम कवि माना जाता है । अन्नमाचार्य में हमें यही गुण ज्यादा मिलता है कि वे अपने उपमानों को लोक सामान्य, सुपरिचित वस्तु व्यापारों से चुन लेते हैं । एक उदाहरण बस है ।

"चिंता शरीरगत रोग जैसी है, तो आशा गर्भगत व्रण जैसी है । इंद्रिय-सुख की आसक्ति भीगे कपड़ों से गला घोंट लेने की इच्छा के समान है । संसार-बंध छाया में धूप जैसा है, तो संसार मिट्टी का पुतला जैसा है ।"[1]

---

1. अ. सं. ११(३)–३८ ओडलि लोपलि रोगमोनर परितापंबु
कडुपु लोपलि पुंडु कडलेनि आस ।
तडिपात मेडगोत तलप विषयासक्ति
... ...
नीड लोपलि यॅंड नेलकोन्न बंधंबु
... ...
मंटि चेसिन बोम्म मनिकि संसारंबु ।।

गोचर वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण केलिए गोचर वस्तुओं का उपमान देना मामूली बात है। कभी कभी गोचर का अगोचर उपमान और अगोचर का गोचर उपमान देना कवि-लोक सामान्य है। पर अगोचर का अगोचर उपमान देना प्रसिद्ध कवियों में ही दीखता है। अन्नमाचार्य में पग पग पर यह गुण मिलता है। फिर, उनकी खासियत यह है कि वे अगोचर भी एक दम सुपरिचित होते हैं और वस्तुबोध या भावबोध में अत्यंत सहायक होते हैं। ऊपर के उदाहरण में यह बात स्पष्ट दीखती है।

अन्नमाचार्य की उत्प्रेक्षाएं अपना सानी नहीं रखतीं। स्वरूप, हेतु और फल तीनों प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में कवि की चातुरी खूब झलकती है। वे अतिशयोक्तियां या अत्युक्तियां बांधकर खिलवाड़ नहीं करते। हेतु-प्रत्यत कल्पना में भी उनकी संभावना सत्य सी मालूम पड़ती है। नायक भगवान वेंकटेश्वर श्रीवत्स-लांछित हैं। उनका रंग काला है। इन दोनों को लेकर कवि का उक्ति-चमत्कार देखिए।

सखि, तुम्हारी डीठ लगी तो
छाती पर वह दाग भया।
अब तुम्हारे विरह ताप से
तपकर नील शरीर भया ॥[1]

सांग रूपकों के प्रयोग में अन्नमाचार्य एक अप्रस्तुत प्रपंच का ही निर्माण कर दिखाते हैं। यहां उनका लोकानुभव साफ प्रकट होता है।

"नायिका लज्जा रूपी झाड़-पौधों को उखाड़ फेंककर चित्त रूपी खेत को कामना रूपी पहली बहार में ही जोत चुकी। फिर उसमें वह अभिलाष रूपी बीज बो चुकी। और क्या चाहिए? लो, प्रणय फसल जो हुई उससे अब उसका घर भर गया।"[2]

कहीं कहीं अन्नमाचार्य रूपकातिशयोक्तियों के बल एक ओर से प्रस्तुत की ध्वनि करते हैं, तो दूसरी ओर से अप्रस्तुत का भी संदर्भोचित एवं रसानुकूल वर्णन करते हैं। विरहिणी नायिका की स्थिति के वर्णन में उनकी यह उक्ति देखिए, जो तत्कालोचित प्रकृति सी लगती है, किन्तु असल में वह नायिका की स्थिति की ही व्यंजना करती है।

---

1. अ. सं. १२–३७५ (स्वीयानुवाद) 2. अ. सं १२–१९१

चूतलता निस्तेज हुई अब
कोयल की इक कूक नहीं ।
तरणि ताप संतप्त हुए गिरि
नभ अंधेरा भार नहीं ।।[1]

व्यंग्य व विरोध मूलक अलंकारों के प्रयोग में अन्नमाचार्य सोद्देश्य दीखते हैं । ज्यादातर उनका प्रयोग वे हास्य या वाक् चातुर्य दिखाने केलिए करते हैं । वक्रोक्ति, व्याजोक्ति और विरोधाभास के कितने ही उदाहरण अन्नमाचार्य की रचना में मिलते हैं । व्यंग्य व विरोध उनको प्रिय से मालूम पड़ते हैं । भगवान के अवतारों के वर्णन में उनकी कल्पना अक्सर विरोध ही ढूंढती चलती है ।

"यह स्वामी कभी छोटा और नाटा होकर जमीन नापते हैं तो बस, दूसरे ही क्षण आसमान छू लेते हैं । अब विरागी बनकर जंगल जाते हैं तो अगले ही क्षण अनुरागी होकर औरत केलिए युद्ध तक कर बैठते हैं । आज चोरी करते हैं तो कल बुद्धिमान बने बैठते हैं । कौन जाने, इनका सच्चा तत्व कितना गहना है!"[2]

शब्दालंकारों में अन्नमाचार्य को अनुप्रास सबसे अधिक प्रिय मालूम पड़ता है । अनुप्रास सहजः नाद सौंदर्य का उत्कर्ष-दायक है और आचार्य जी की रचना संगीतमय है । फिर, तेलुगु छंदों में जो यति-प्रास नियम है, वह भी अनुप्रास के अनुकूल है । तेलुगु छंदों में पद्यपाद के आद्यक्षर से यतिस्थान पर आनेवाले अक्षर की मैत्री, अर्थात् ध्वनि साम्यता, रहती है । निम्न लिखित उदाहरण में रेखांकित अक्षर-विन्यास देखिए, तो यह बात स्पष्ट होगी ।

भोगींद्रशयन परिपूर्ण पूर्णानंद
सागर निजावास सकलाधिप ।
नागारि गमन नानावर्ण निजदेह
भागीरथी जनक परम परमात्म ।।[3]

इसी उदाहरण में हर पाद के द्वितीयाक्षर (ग वर्ण) का साम्य भी देख सकते हैं, जिसे प्रास नियम कहते हैं । ये दोनों तेलुगु छंदों के ही विशिष्ट लक्षण हैं, लेकिन अन्नमाचार्य अपनी संस्कृत रचनाओं में भी इन नियमों का पालन करते हैं, जिससे उनमें अनुप्रास की शोभा बढ़ती है । नीचे इसका एक उदाहरण है ।

---

1. अ. सं. १२–४४ (स्वीयानुवाद) 2. अ. सं. ११(३)–८
3. अ. सं. ५–२५

भव पाथोनिधि वाडबानल,
भव जीमूत प्रभंजना ।
भव पर्वत प्रलय भयद निर्घात दु-
र्भव कालकूट भव विश्वरूप ।
भव घोरतिमिर दुर्भव कालमार्तांड,
भव भद्रमातंग पंचानना ।
भव कमलभव माधव रूप शेषाद्रि-
भवन वेंकटनाथ भवरोग वैद्य ।।[1]

४.३.२.२ सूरदास का अलंकार विधान :

सूरदास की रचना में भी अप्रस्तुत विधान में चमत्कार का पक्ष कहीं कहीं प्रबल होता दीखता है । खासकर, कूटपदों में यह चमत्कार प्रवृत्ति पराकाष्ठा को पहुंचकर निलती है । सूर के समय में निर्गुणिया संतों के पदों में और उनसे कुछ पहले के विद्यापति के पदों में ऐसी चमत्कार प्रवृत्ति अवश्य नजर आती है । सूर पर उनका प्रभाव पड़ा तो यह आश्चर्य की बात नहीं है, किंतु सूर की खासियत इस बात में है कि वे चमत्कार को कुछ विशिष्ट प्रयोजन के निमित्त काम में लाते हैं । हां, यह अलग बात है कि कहीं कहीं इस प्रवृत्ति की अति हो गयी और प्रसाद गुण एवं रसोत्कर्ष में बाधा पहुंच गयी । लेकिन जहां कहीं वे इस प्रवृत्ति से मुक्त थे, वहां की अप्रस्तुत योजना अत्यंत रमणीय और रसाभ्युचित हो पायी है । अब यहां इन दोनों प्रकार के कुछ उदाहरण देख लें ।

भाल विशाल ललित लटकनि मनि,
बाल दसा के चिकुर सुहाये ।
मानों गुरु सनि कुज आगें करि,
ससिहिं मिलन तम के गन आये ।।[2]

यहां बालकृष्ण के चिकुर-जाल के मनि-माणिक्यों के विभिन्न रंगों के आधार पर उनको गुरु, शनि और कुज ग्रहों से उपमित करके, फिर उनके साथ मुख रूपी चंद्र को घेरनेवाले अलकों को अंधकार (राहुगण) के समान माना गया है । यह कल्पना चमत्कार पूर्ण है, किंतु इससे रस में व्याघात पड़ता है, क्योंकि पाठक के मन पर इसका स्पष्ट चित्र उतरना कठिन है ।

---

1. अ. सं. ११(३)–३७   2. सूरसागर, पद ७२२

हरि कर राजत माखन रोटी,
मनु वराह भूधर-सह-पुहुमी, धरी दसन की कोटी ।।[1]

यहां हाथ में माखन-रोटी लिये आंगन में खेलनेवाले बालकृष्ण की तुलना पृथ्वी को अपनी दंष्ट्रा पर उठाये हुए वराह भगवान से की गयी है । अवतार की याद जो की गयी, उससे कवि का भक्त-हृदय साफ प्रकट होता है, किंतु कल्पना तो असहज एवं रस में बाधक है । पर्यवसान में मात्र चमत्कार बच जाता है ।

देखो माई दधि-सुत में दधि जात ।
एक अचंभौ देखि सखी री, रिपु में रिपु जु समात ।
दधि पर कीर, कीर पर पंकज, पंकज के द्वैपात ।।[2]

यहां भी बालकृष्ण की ही शोभा वर्णित है, जिसमें कवि-समय प्रसिद्ध उपमानों के सहारे रूपकातिशयोक्ति बांधके कवि ने पात्र-निबद्ध-प्रौढोक्ति का चमत्कार दिखाया है । साथ साथ इसमें कूटपदों की शैली भी अपनायी गयी है । फलतः काव्य का प्रसाद गुण ही नष्ट नहीं हुआ, अपितु 'रिपु में रिपु जु समात' जैसे शब्दों से रस-विरोध भी उपस्थित हो गया है ।

सूरदास के कूटपदों में, उसी तरह उनकी रूपकातिशयोक्तियों में भी, चमत्कार के साथ कुछ निगूढ गुप्ति का प्रयोजन भी अपेक्षित व संपादित मिलता है । खासकर, शृंगार लीलाओं के वर्णन में कहीं कहीं प्रच्छन्नता के निमित्त इनका प्रयोग हुआ दीखता है । दानलीला में वाक्चातुरी और नर्मगर्भता के हेतु ऐसी चमत्कार-पूर्ण शैली का उपयोग किया गया है । सारांश यह है कि सूर ने चमत्कार का भी कुछ हद तक सोद्देश्य एवं प्रयोजन सहित प्रयोग किया है ।

वास्तव में सूर स्वभावोक्ति के सम्राट थे । बालकृष्ण के कितने ही ऐसे चित्र उन्होंने उपस्थित किये हैं, जो स्वभावोक्ति अलंकार के ही अलंकार साबित होते हैं ।

१) सोभित कर नवनीत लिए ।
घुटरुनि चलत रेनु-तन मंडित, मुख दधि लेप किए ।
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन तिलक लिए ।
लट लटकनि मनु मत्त मधुपगन मादक मधुहिं पिए ।

---

1. सूरसागर, पद ७८२ 2. सूरसागर, पद ७९०

कठुला कंठ, वज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए ।
धन्य सूर एकौ पल इहि सुख, का सत कल्प जिए ।।[1]

२) हरि अपनैं आंगन कछु गावत ।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत ।
बांह उठाइ काजरी धौरी गैयनि टेरि बुलावत ।
कबहुंक बाबा नंद पुकारत, कबहुंक घर में आवत ।
माखन तनक आपनैं कर लै, तनक बदन मैं नावत ।
कबहुं चितै प्रतिबिंब खंभ में, लौनी लिए खवावत ।।[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह के चित्र पाठक के दिल को रसार्द्र बनाने में अत्यंत समर्थ हैं । सूर तो कई जगह अलंकारों के बिना भी ऐसे प्रभावशाली ढंग पर वर्ण्यवस्तु के चित्र को उसके सभी गहरे रंगों के साथ पाठक के दिल पर अंकित करते हैं । सूर की कुछ अतिशयोक्तियां भी स्वभावोक्ति जैसी रमणीय और रसोत्कर्ष बनी मिलती हैं ।

१) सखी री सुंदरता कौ रंग ।
छिन छिन माहिं परत छवि औरै, कमल-नयन के अंग ।
सूरदास कछु कहत न आवै, भई गिरा गति पंग ।।[3]

२) जब हरि मुरली अधर धरत ।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहै, जमुना जल न बहत ।।[4]

अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक एवं न्यायमूलक अलंकारों के द्वारा रूप-व्यापारों के कितने ही अप्रस्तुत चित्र सामने लाकर वर्ण्य वस्तु के मूर्तीकरण और भावों के उत्कर्ष में सहायता पहुंचाना महाकवियों की एक मान्य परिपाटी है । सूर में यह काव्य-पद्धति खूब देखने में आती है । सादृश्यमूलक अलंकारों में उनको रूपक और उत्प्रेक्षा अधिक प्रिय मालूम पड़ते हैं । रूपवर्णन में एक से एक अनूठे रूपकों व उत्प्रेक्षाओं को काम में लाकर सूर ने वर्ण्य वस्तु के मानसिक प्रत्यक्षीकरण में अत्यंत सफलता पायी है । प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत रूप में जिन उपमान वस्तुओं का ग्रहण किया जाता है और प्रस्तुत के सौंदर्यबोध केलिए जिन अप्रस्तुतों की कल्पना की जाती है, वे अपने अलग सौंदर्यमय आकर्षण रखते हैं । कृष्ण के रूप-

1. सूरसागर, पद ७१७ 2. सूरसागर, पद ७९५
3. ,, पद १२५८ 4. ,, पद १२३८

वर्णन में सूर अक्सर आसमान या अगाध जलराशि से उपमान वस्तुओं का संचय करके, कृष्ण के अनंत-गंभीर-सौंदर्य की व्यंजना करते हैं। ऐसे अवसरों पर बांधे सांगरूपक भी मनोज्ञ होते हैं।

देखौ माई सुंदरता का सागर।
बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर।
तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि, कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत, भंवर परति सब अंग।
नैन मीन मकराकृति कुंडल, भुज सरि सुभग भुजंग।
मुक्तामाल मिलीं मानौ द्वै, सुरसरि एकै संग।
कनक खचित मनिमय भूषण, मुख स्रम कण सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत ॥[1]

अगोचर के गोचर प्रत्यक्षीकरण केलिए सूर कभी ऐसे सांगरूपकों का प्रयोग करते मिलते हैं।

अब कौ नाथ मोहि उधारि।
मगन हौं भव अंबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि।
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल कौं, गहे ग्राह अनंग।
मीन इंद्री तनहिं काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार।
क्रोध दंभ गुमान तृष्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत सुत-तिय नाम-नौका ओर।
थक्यौ बीचि विहाल, विह्वल, सुनौ करुना-मूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि लीजै सूर व्रज के कूल ॥[2]

सूर की उत्प्रेक्षाएं नित नूतन ही नहीं, अपितु अति त्वरायुक्त भी लगती हैं। यह उनकी कल्पना शक्ति का फल है। सूर की कल्पना शक्ति असाधारण मालूम पड़ती है। परंपरागत उपमानों, प्रकृति सिद्ध वस्तु व्यापारों और पौराणिक कथाओं के आधार पर ही नहीं, बल्कि अपनी निजी ऊहा-शक्ति और लोकानुभव से भी सूर अपनी उत्प्रेक्षाओं में नवीनता और सरसता भरते जाते हैं।

---

1. सूरसागर, पद ११४६ 2. सूरसागर, पद ९९

१) चलत पद प्रतिबिंब मनि आंगन घुटुरुवनि करनि ।
जलज संपुट सुभग छवि भरि लेत्रि उर जनु धरनि ।[1]

२) शोभा सिंधु अंग अंगनि प्रति, वरनत नाहिन और री ।
जित्र देखौ मन भयौ तितहि कौ, मनौ भरे कौ चोर ।। [2]

सूर के विनय पदों में ऐसे कितने ही उदाहरण, दृष्टांत जैसे अलंकार मिलते हैं, जो वर्ण्य वस्तु अथवा भाव को अतीव सुग्राह्य एवं सुबोधमय ही नहीं बनाते, बल्कि कवि के लोकानुभव एवं पौराणिक प्रसंग परिचय का विस्तार भी प्रत्यक्ष करते हैं ।

तजौ मन हरि विमुखन कौ संग ।
जिनकौ संग कुमति उपजति है, परत भजन में भंग ।
कहा होत पय पान करिए विष नहि तजत भुजंग ।
कागहिं कहा कपूर चुगाएं, स्वान न्हवाएं गंग ।
खर को कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषण अंग ।
गज कौ कहां सरति अन्हवाए, बहुरि धरै वह ढंग ।
पाहन पतित्र बान नहिं बेधत, रीतौ करत निषंग ।
सूरदास कारी कामरि पै, चढ़त न दूजै रंग ।।[3]

सूरदास व्यंग्य के बादशाह हैं । भ्रमरगीत में गोपियों की उक्तियों में व्यंग्य का महोज्ज्वल वैभव देखने को मिलता है । यहां व्यंग्योक्ति, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति जैसे कितने ही अलंकार पग पग पर प्रयुक्त हुए मिलते हैं । यह कवि की वचन-रचना चातुरी एवं पात्रोचित संवाद-निर्माण कुशलता का प्रमाण है ।

१) ऊधौ जोग बिसर जनि जाहु ।
बांधहु गांठ कहू जनि छूटै, फिर पाछे पछिताहु ।
ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर, मरम न जाने और ।
व्रजवासिन के नहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर ।। [4]

२) ऊधौ जोग कहा है कीजतु ।
ओढ़ियतु है या बिछैयतु है, किधौ खैयतु है, किधौं पीजतु ।। [5]

---

1. सूरसागर, पद ७२७ 2. सूरसागर, पद ६४७
3. ,, पद ३३२ 4. ,, पद ४४२८
5. ,, पद ४५८५

कहीं कहीं अतिशयोक्ति, प्रतीक, व्यतिरेक, विरोध जैसों का आश्रय लेकर उक्ति-चातुर्य को और भी उज्ज्वल बनाया गया है।

नैना सावन भादौ जीते ।
वे झर लाइ दिना द्वै उघटत, ये न भूलि मग देत ।
वे बरषत सब के सुख कारन, ये नंदनंदन हेत ।
वे परिनाम पूजै हद मानत, ये दिन धार न तोरत ।
यह विपरीत होति देखत हौं, बिना अवधि जग बोरत ।।[1]

सूर की रचना संगीतमय है। अतः नाद सौंदर्य केलिए शब्दालंकारों का प्रयोग अवश्यंभावी है। लेकिन सूर को शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकार अधिक रुचले हैं। फिर भी उनकी रचना में अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि का संदर्भोचित एवं रसानुकूल प्रयोग अवश्य हुआ है। फिर, सूर में अनुरणनात्मक शब्दों का भी प्रयोग अकसर देखने को मिलता है।

कंदुक केलि करति सुकुमारी ।
अति सूछम कटि तट आड़े जिमि, बिसद नितंब पयोधर भारी ।
अंचल चंचल, फटी कंचुकी, बिलुलित बर कुच सटी उघारी ।
तिलक तरल ताटंक निकट तट, उभय परस्पर सोभ सिंगारी ।
मुक्तावलि कौं हार लोल गति, ता पर लटपटति लट कारी ।
तामें सो लर मानौं तरंगिनि, निसिनायक तम मोचन हारी ।
अरु कंकन किंकिनि नूपुर छवि, निसा पान सम दुति रतनारी ।
श्रीगोपाल लाल उर लाई, बलि बलि सूर मिथुन कृत भारी ।।[2]

४.३.२.३ तुलना और निष्कर्ष :

निष्कर्ष यह है कि अन्नमाचार्य और सूरदास दोनों का अलंकार विधान कुछ हद तक चमत्कार-पूर्ण होकर भी ज्यादातर रसानुकूल है। चमत्कार का प्रयोग भी कई जगह सोद्देश्य हुआ है। प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के चित्रण में भी इन दोनों कवियों में विस्तृत लोकानुभव, गहन निरीक्षण शक्ति, विशाल कल्पना प्रवणता एवं मनोज्ञ अभिव्यक्ति कुशलता जैसी बातें खूब दर्शनीय होती हैं। सादृश्य कल्पना में लौकिक व अलौकिक रूप-व्यापारों के साथ पौराणिक कथा-प्रसंगों से भरसक काम लेने की प्रवृत्ति भी दोनों में समान रूप से मिलती है।

---

1. सूरसागर, पद २८५४ 2. सूरसागर, पद १८२२

अतिशयोक्ति या अत्युक्ति की अपेक्षा रूपक या उत्प्रेक्षा से अप्रस्तुत की अधिक स्पष्ट व सहज अथवा स्वभावोचित व्यंजना करने मे दोनों की समान रुचि और प्रज्ञा हैं। सूर में स्वभावोक्ति का प्रचुर व मनोज्ञ प्रयोग अधिक मिलता है, तो व्याज और विरोध की कल्पना अन्नमाचार्य में अधिक मिलती है। दोनों व्यंग्य के कुशल कवि हैं। उक्ति वैचित्री भी दोनों में अपनी पराकाष्ठा पर मिलती है। शब्दालंकारों में अनुप्रास का ही दोनों के हाथ अधिक प्रयोग हुआ मिलता है। नाद सौंदर्य के पक्षपाती होने से दोनों को अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग इष्ट है।

अन्नमाचार्य के अध्यात्म पदों में दृष्टांत, उदाहरण जैसे अलंकारों के द्वारा लोकनीति, न्याय-पद्धति और सूक्ति-वैचित्री का नितांत मनोज्ञ शैली में प्रयोग हो पाया है। सूर के कूट-पदों में उक्ति चमत्कार एवं वस्तु-गोपन शक्ति अतिमात्रा में झलकते हैं। कृषि, वाणिज्य, राज-नीति, द्यूत, युद्ध जैसों के आधार पर बने सांगरूपकों में दोनों कवि प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के अत्यंत विशद व सर्वांग-पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। अंक-विद्या, ग्रह-गणित, नाट्य-कला, कैतव-व्यापार वगैरह के ज्ञान का यथोचित उपयोग दोनों कवियों के अप्रस्तुत विधान में समान रूप से मिलता है। सूर के अप्रस्तुत विधान में प्रकृति का अधिक व विभिन्न प्रकार से उपयोग हुआ है, लेकिन अन्नमाचार्य की रचना में उसका उतना उपयोग नहीं हो पाया।

४.३.३ भाषा :

यद्यपि अन्नमाचार्य और सूरदास की रचनाएं आमूलतः संगीत-बद्ध हैं, तो भी इनका साहित्यिक महत्व कम नहीं है। इसी कारण से इनकी भाषा का भी अधिक महत्व सिद्ध होता है। ये दोनों महाकवि अपने अपने प्रांतीय भागों में प्रचलित लोक-भाषा के परिनिष्ठित रूप को ही अपनी रचना केलिए काव्य-भाषा के तौर पर स्वीकृत कर चले हैं। अन्नमाचार्य की भाषा आंध्र-प्रांत के पश्चिमी भागों में प्रचलित लोकभाषा का ही परिनिष्ठित रूप मालूम पड़ती है। सूर की भाषा व्रजमंडल की बोलचाल की भाषा का सुसंकृत रूप सिद्ध होती है।

अन्नमाचार्य के समय तक तेलुगु में काव्य-भाषा की दो शैलियां प्रचलित हो गयीं। एक तो, नन्नया-तिक्कना आदि पौराणिक कवियों की चंपू प्रबंध शैली थी, जिसे मार्ग शैली कहते थे। दूसरी, शैव-भक्त-कवियों की द्विपद-गेय-बचन शैली थी, जिसे देशि शैली कहते थे। देशि-शैली में मात्रा-छंदों का प्रचुर उपयोग, अपाणिनीय शब्दरूपों का विरल प्रयोग और व्यावहारिक भाषा का यथोचित स्वीकार जैसी बातें अधिक पायी जाती हैं। अन्नमाचार्य की भाषा व शैली इसी

दूसरी तरह की काव्य-शैली, याने देशि-शैली है। फलतः इनकी रचना में संस्कृत के तत्सम-बहुल, सुदीर्घसमास-मिश्रित शैली की अपेक्षा लोक-प्रचलित, तद्भव-शब्द-बहुल, व्यावहारिक भाषा-शैली का प्रयोग अधिक हो पाया है।

सूरदास की रचना हमें व्रजमंडल की लोक-प्रचलित व्यावहारिक भाषा का ही परिनिष्ठित रूप आद्योपांत प्रयुक्त हुआ मिलता है। पहले की अपभ्रंश-मिश्रित व्रजभाषा से सूर की भाषा एक दम भिन्न है। कबीर जैसों की सधुक्कड़ी शैली या तुलसी जैसों की तत्सम-बहुल, संस्कृतप्राय शैली से यह बहुत दूर है। इसीलिए यह अकसर कहा जाता है कि सूर ने ही सर्व प्रथम व्रजभाषा को प्रौढ, सजीव एवं साहित्यिक रूप प्रदान किया।

४.३.३.१ अन्नमाचार्य का शब्द-विधान :

गेय कवि होने से अन्नमाचार्य और सूर दोनों ने अपनी भाषा को सरस, संगीतमय और भावानुकूल बनाने का सफल प्रयत्न किया है। अन्नमाचार्य की रचना में ऐसे प्रयत्न के प्रमाण में निम्न लिखित कुछ उदाहरण पेश किये जा सकते हैं।

१) ऋ का बहुधा 'रि' के समान उच्चारण।
जैसे, वृथा – व्रिथा, दृष्ट – द्रिष्ट

२) ए और ओ को अकसर य और व करके लिखना।
जैसे, ऊरु – वूरु, एवरु – येव्वरु

३) पद के आरंभ में य और व का प्रयोग करना तथा विसंधि होने पर उकार का वकार रूप में प्रयोग करना।
जैसे, ये वूरि के वूरु, येव्वारि केव्वारु
(ये दोनों तेलुगु व्याकरण के अनुसार निंद्य है)

४) तद्भव अथवा विकृति शब्दों व ध्वनियों का बहुल प्रयोग।
जैसे, आज्ञ – आन, मुखमु – मोमु
यमुडु – जमुडु, संदेहमु – संदियमु

५) संयुक्त वर्णों या ध्वनियों का विश्लिष्ट प्रयोग।
जैसे, अर्हमु – अरुहमु, आत्म – आतुम
रुक्मिणि – रुकुमिणि, हर्षिचु – हरुषिंचु

६) सानुनासिक शब्दों को गढ़कर प्रयोग करना ।
जैसे, गाटपु – गांटपु, चेग – चेंग
साट – सांट, मेटि – मेंटि

७) विसंधि करने पर 'य' के बदले 'न' का आगम दिखाना ।
जैसे, येप्पुडैना नेव्वरुंट नेरुंगवु

८) व्याकरण विरुद्ध जान कर भी व्यवहार में प्रचलित शब्द-रूपों का प्रयोग।
जैसे, आधारमु – आधरुवु, बयट – बायट, बालिका – बालकि
भुजमुन वेयु – भुजवेयु, भ्रमियिंतु – भ्रमितु
मेमु – नेमु, वेरिवारलार – वेरिवार
व्यासुलु – वेसुलु, सुवर्ण टंकमु – सोर्णा टंकमु
दिन दिन कोत्तलु, इत्यादि दुष्ट समास

९) नाद-सौंदर्य केलिए ध्वनि साम्य रखनेवाले शब्दों का द्वंद्व प्रयोग ।
जैसे, उब्बु – सग्गु, तंडु – मुंडु
तरुगु – मेरुगु, दापु – दंड

१०) आलाप-सौलभ्य केलिए 'ये' का 'य' उच्चारण ।
जैसे, आये – आय, पोये – पोय

११) अनुप्रास और अंत्यप्रास का यथोचित प्रयोग ।
जैसे, १) प्रेम मेरिगि राडु पिलिचिन पेरि सोड येमंद मेमंद मेमंद मे।
२) अलिनीलवेणि, अंबुज पाणि,
वेलयग जगदेक विभुनि राणि ।

१२) अनुरणनात्मक शब्दों का संदर्भोचित प्रयोग ।
जैसे, रक्कसुल मीद रामुडलिगे नलु
दिक्कुल नड्डवुड् तिंडि तिंडि ।
धेक्कुड् सेनलु धिट्टु नडिपिपुडु ।
ढक्का निनदं ढमढम ढमं ।

४.३.३.२ सूरदास का शब्द-विधान :

सूरदास की रचना में भी भाषा को भावानुकूल साहित्यिक रूप देने के प्रयत्न के प्रमाण में नीचे के उदाहरण पर्याप्त होंगे ।

१) ऋ का बहुधा रि उच्चारण, जैसे ऋचा – रिचा

२) प्रायः सभी स्वरों का सानुनासिक प्रयोग ।
जैसे, नांहि, कुंवर, मोंकों, नैंकु, नांम

३) ऐ औंर औ का आइ और अउ रूपमें प्रयोग ।
जैसे, गौ – गउ

४) य, व, श, ड – के स्थान पर क्रमशः ज, ब, स, र – का प्रयोग ।
जैसे यदुनंदन – जदुनंदन, विप्रनि – बिप्रनि
शशि – ससि, झगड़त – झगरत

५) संयुक्त वर्ण वाले शब्दों का विश्लिष्ट रूप में प्रयोग ।
जैसे, युक्ति – जुगति, धर्म – धरम

६) कटु उच्चारण वाले शब्दों का सरल उच्चारण ।
जैसे, कटाक्ष – कटाच्छ, कर्ण – करन
मस्तक – माथा

७) ग्रामीण व्यवहार के शब्दों का स्वीकार ।
जैसे, औचट, चुटिया, खुटिला

८) गेयता अथवा छंद की आवश्यकता के अनुसार शब्दों का रूप बदलना।
जैसे, किलकी, तिलकी, हिलकी, मिलकी

९) ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग।
जैसे, किलकना, चुपकारना, जगमग, झमकत, झुन झुन, धक धक

१०) विदेशी शब्दों का भी व्यवहार करना ।
जैसे, अबीर, कुलफ, खबर, महल, फौज, गुमान, दरबार, दस्तक

४.३.३.३ शब्द-चयन :

इतना होने पर भी अन्नमाचार्य और सूर दोनों की रचनाएं तत्सम, तद्भव व देश्य शब्दों के संतुलित प्रयोग से वंचित नहीं हैं। निम्न लिखित पद में अन्नमाचार्य के तत्सम-शब्द-प्रयोग, समास-गठन, देशी-वानी की रचना आदि के उदाहरण द्रष्टव्य हैं ।

एतदखिलंबुनकु नीश्वरुडै सकल, भूतमुल लोन दा बोदलु वाडितडु ।।
गोपांगनल मेरुगु गुब्ब चन्नुल मीद, चूपट्टु कम्म कस्तुरि पूत यितडु ।
तापसोत्तमुल चिंताम्बोधमुल लोन, दीपिंचु सुज्ञान दीपमितडु ।।

जलधिकन्यापांग ललितेक्षणमुललो, गलसि वेलुगुचुनुन्न कज्जलंबितडु ।
जलजासनुनि वदन जलज मध्यमुनंडु, अलर वेलुवडिन परमामृतंबितडु ।।
परिवोनि सुरत संपदल निपुलचेत, वर-वधू-ततिकि परवशमैन दित्तडु ।
तिरु वेंकटाचलाधिपुडु तानै युंडि, परिपालनमु सेयु भारकुंडितडु ।।[1]

सूरदास के निम्न लिखित पद में उनके तत्सम, तद्भव व देश्य शब्दों के प्रयोग की विशिष्टता दर्शनीय है ।

मधुकर प्रीति वदन काँहि हेत ।
जनियित है मुख पांडु योग भयौ जुवतिनि कौ दुख देत ।
रसमय तन मन स्याम राम कौ जो उचरै संकेत ।
कमलनयन के वचन सुधामय करन घूंट भरि लेत ।
कुत्सित कटु साचक सायक से कौ वोलत रस खेत ।
इनहिं चातुरी लोग बापुरे बहुत धरम की सेत ।
माथे परौ जोग पथ ताकौ वक्ता छपद समेत ।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ बिनु महिमा जियें निकेत ।
मनसा वाचा कर्मना स्याम सुंदर सौ हेत ।
सूरदास मन कौ सब जानत हमरे मनहिं जितेत ।। (सूरसागर, ४५८७)

४.३.३.४ शब्द भंडार :

अन्नमाचार्य और सूर की रचनाओं का परिमाण अपार सागर जैसा विस्तृत है । उसी तरह उनके शब्द भंडार अत्यंत विशाल हैं । सूरसागर के आधार पर 'व्रजभाषा सूर कोश' जैसे ग्रंथ का निर्माण हो चुका है । सुना है कि सूरसागर की शब्द-सूची भी अलीगढ़ विश्वविद्यालय में तैयार की जा रही है । अन्नमाचार्य की भाषा के अभी वैसे कोश या शब्द-संग्रह नहीं बने । लेकिन उनकी नितांत आवश्यकता तो स्पष्ट है । अन्नमाचार्य ने आज से ५०० साल पहले की तेलुगु भाषा के व्यावहारिक रूप को अपनी रचना में निक्षिप्त किया है । आज उनके प्रयुक्त कितने ही शब्दों का अर्थ जानना कठिन है, क्योंकि उनमें से कई शब्द अब व्यवहार से उठ गये और कितने ही शब्द अब भी क्षेत्रीय व्यवहार में ही प्रचलित रहकर कोशों में संग्रहीत होने से बच गये । सचमुच, अन्नमाचार्य के शब्दों का एक बृहत्तर कोश निर्मित किया जा सकता है । कई शब्दों की अर्थ-मीमांसा भी आवश्यक है । उदाहरण केलिए ऐसे कुछ शब्द यहां दिये जाते हैं, जिनका प्रचलित तेलुगु कोशों में अभी स्थान नहीं मिला । संदर्भ के अनुसार यहां उनका अर्थ देने का प्रयत्न किया गया है ।

---

1. अ. सं. ५–११२

अंके	ठीक समय
अरत	समीप
आमुकोनु	घेरना
उदिय गोनु	शुरू करना
उवुट्टु	सौंदर्य, गर्व
एतु	गर्व
करकरि	जबरदस्ती
कांतालमु	ईर्ष्या
कोरिमे	दोष
जोक	उत्साह
तच्चेन	परिहास
पंगेन	दगा
पगट्टु	प्रकट
पेरयु	खींच-तान
वगि	बगल में
मंडाटमु	आग्रह पूर्वक विनय
रंतु	विलास
रायु	अधिक होना
सट	कपट
सरित	सौत

४.३.३.५ मुहावरे :

बोलचाल की भाषा को अपनाने से अन्नमाचार्य और सूर की रचनाएं मुहावरों व लोकोक्तियों के भंडार जैसी लगती हैं। मुहावरे और लोकोक्तियां भाषा में निहित स्फूर्ति, संचित लोकानुभव और समीकृत अर्थ-संपदा के निदान हैं। उनके द्वारा अभिव्यक्ति में सरलता, अर्थ-बोध में सुगमता और भाषा-शैली में प्रौढता आती हैं। लाक्षणिक वैचित्र्य एवं व्यंग्य वैभव का मूल उत्स होने से इनके द्वारा रस-परिपाक में अतीव सहायता प्राप्त की जाती है। तभी हमारे आलोच्य कवियों ने इनका यथेष्ट प्रयोग किया है। अन्नमाचार्य की रचना में पग पग पर मुहावरों का प्रयोग मिलता है। कहीं कहीं एक पद में दस-पंद्रह मुहावरे प्रयुक्त हुए मिलते हैं। कभी कभी एक ही अर्थ के या अर्थ-साम्य रखनेवाले कई मुहावरों व पद-बंधों का एक ही पद में प्रयोग मिलता है। नीचे उनके कुछ मुहावरों के उदाहरण प्रस्तुत हैं।

अद्दलिंचु	आतंक करना (४–१९४)
आरुमूरुसेयु	बिगाड़ देना (४–१२)
आसोदालु नेरपु	चमत्कार दिखाना (३–६३१)
एतुलु चूपु	गर्व करना (४–१२६)
गासि सेयु	बाधा देना (६–१४५)
गोड्डुलि नान बेट्टु	मीन-मेष करना (४–५८)
कोरमालु	बेकार होना (६–६१)
कोय्य तनालु	शठ प्रवृत्तियां (४–३७)
चेपट्टु कुंचमु	वश की चीज़ (६–१७३)
जडि गोनु	अधिक होना (४–१२३)
नोव्वनाडु	कठिन वचन बोलना (४–१३७)
परसि पोवु	सूख जाना (६–६१)
पच्चिदेरु	अभिलाषा होना (१२–४८)
बयलीदिंचु	व्यर्थ आशा दिखाना (४–१७४)
मारुपिन्लिडिंचु	चतुराई दिखाना (३–६३१)
मेकुलु सेयु	कठिनाई दिखाना (४–१४५)
मोक्क वेवु	निरर्थक होना (६–६१)
सदमदमगु	तंग आना (४–१५१)
वेट्टिवानि चेति रायि	अनिश्चित विषय (६–१५७)
पुव्वु गट्टु	सफल होना (४–१२३)

सूरदास की रचना भी मुहावरों की खान है। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

अपने ही सिर मान लेना (२४४७)
अपनी सी करना (२९६८)
आंख बरसना (३८२७)
एकहु अंग न कांची (१६४८)
एक बात की बीस बनाई (३२५०)
एक डाल के तोरे (४२१३)
गाढे दिन के मीत (३१)
जिय में सूल रही (३९१७)
जन्म बिगाड़ना (३९५६)
चाम के दाम चलावत (४६५४)

घर के चोर (२८८७)
कहा ठगी सी ठाड़ी (३०३३)
ढ़ोल बजाइ ठगी (३८८३)
तिनका तोड़कर डालना (२७५२)
दई की घाली (१६२१)
देत जरे पर लौन (४१४०)
नाच नचाना (४२)
निपट दई को खोयौ (४१५८)
पलक न पड़ना (३८९५)
मूंछहि ताव दिखायौ (३०१)

४.३.३.६ लोकोक्तियां :

अन्नमाचार्य की कविता में लोकोक्तियां पग पग पर मिलती हैं। एक ही पद में तीन-चार सजातीय या समानार्थक लोकोक्तियों का प्रयोग भी अकसर देखने में आता है। नीचे उनकी रचना में प्रयुक्त लोकोक्तियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। ये सभी उदाहरण अन्नमाचार्य संकीर्तन, गायक प्रति में से लिये गये हैं। पद संख्या ब्रैक्ट में दी जाती है।

१) आकलि गोन्न वानिकन्नमु पै नुंडिनट्लु	भूखे का खाने पर ध्यान जैसा (६१)
२) काकल विटु चूपु कांत पै नुंडिनट्लु	जार की कामिनी पर दृष्टि जैसे (६१)
३) कंटिलोनि नलुपु कान न्नोय्येमा	अपना दोष कौन देखे (७०)
४) कत्ति कोत कोसरिते कांत इंपौना	कष्ट देनेवाली औरत थोड़े ही प्यारी होगी (२०)
५) गुम्मडि कायंत मुत्तेमैते गट्ट वच्चुना	मोती कुम्हाडा जितना हो तो धरना कैसा (२०)
६) वेपमानु पालु पोसिना तीय नुंडीना	नीम का पेड दूध डालने से मीठा नहीं होता (२८)
७) मापु दाका गाजु गाजे माणिकेमु वेरे	अंत तक कांच कांच ही रहता है और माणिक अलग दीखता है (४४)

८) मोदलुंड कोनलकु नील्लु मोचि-नट्टुलु	मूल छोड़कर डालों में पानी देने की तरह (७४)
९) तेवुलु वडि मधुरमु चविगाक पुलुसुलु चवि गोरिनट्टुलु	रोगी को अपथ्याहार जैसा रुचता है (१००)
१०) कंडुव बोयिन नील्लु कट्ट वच्चुना	पानी बह गया तो बांधना कब (८९)

सूरदास की रचना भी लोकोक्तियों से खाली नहीं है। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

१) कंचन खोइ, कांच लै आए। (३१२९)
२) गाढी जारी विधना की, जैसी तैसी ताहि। (१८९७)
३) जाके हाथ पेड़, फल ताकौ। (४४७६)
४) काकी भूख गई मन लाडू। (४४७९)
५) जाहि लगै सोई पै जानै। (३९५५)
६) जोवन रूप दिवस दस ही के। (३२१०)
७) ताको कहा परी कौ कीजै जानै छाछ न दूधौ। (४५०८)
८) नीर नारी नीचे ही कौ चले जैसे धाय। (१८८९)
९) लौंडी की डौंडी जगवाजी। (४२७०)
१०) बाजी तांति राग हम बूझौ। (४२६७)

४.३.३.७ रुचि साम्य :

कभी कभी अन्नमाचार्य और सूरदास की रुचि एक ही पद में अनेक मुहावरों व लोकोक्तियों के प्रयोग की ओर हुई नजर आती है। ऐसी जगहों में भाषा पर इन कवियों का अधिकार देखते ही बनता है। ऐसा लगता है कि मानों भाव और भाषा परस्पर कंधे से कंधा मिलाकर चल रहे हैं। अन्नमाचार्य में एक विशेष आदत भी दीखती है। पद के आरंभ में या टेक में अगर कोई मुहावरा या लोकोक्ति आये, तो वे पद के हर चरण में तदनुरूप मुहावरों या लोकोक्तियों का प्रयोग करके पद में एक तरह का विशेष समन्वित रूप और एक प्रकार की विशिष्ट संतुलित गति संपादित करते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद पर्याप्त होगा।

प्रलपन वचनैः फलमिह किं
चंचल कुड्य क्षालनया किं ॥

इतर वधू मोहितं त्वां प्रति
हित वचनैरीहितुमिह किं ।
सततं तवानुसरणमिदं मम
गतजल सेतूकरणं किं ।।
विकल विनय दुर्विटं त्वां प्रति
सुकुमाराद्रं स्तुत्या किं ।
प्रकट बहुल कोपनं मम ते
सकलं चर्वित चर्वण मेव ।।
शिरसा नत सुस्थिरं त्वां प्रति
विरसालपन विधिना किं ।
तिरुवेंकटगिरि देव त्वदीय
विरह विलपनं वृथा वृथा ।।[1]

सूरदास के निम्नलिखित पद में भी मुहावरों व लोकोक्तियों की ऐसी भरमार देख सकते हैं ।

आए जोग सिखावन पांड़े ।
परमारथी पुराननि लोद ज्यों वनजोर टांड़े ।
हमरे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखै ते रांड़े ।
कहौ मधुप कैसे समाहिगे, एक म्यान दो खांड़े ।
कहु षट्पद कैसे खैयतु है, हाथिनि के संग गांड़े ।
काकी भूख गई बयारि भषि, बिना दूध घृत मांड़े ।
काहै कौ झाला लै मिलावत, कौन चार तुम डांड़े ।
सूरदास तीनों नहिं उपजात, धनिया, धान, कुम्हाड़े ।[2]

४.३.४ शैली :

अन्नमाचार्य और सूरदास की समस्त रचना गेय-मुक्तक पद शैली में हुई है। फिर, वर्ण्य-विषय के अनुरूप उनके गेय-पदों की शैली भी अकसर बदलती आयी है। विषय की उदात्तता, कवि की रुचि और कहनेवाले पात्र अथवा कथ्य परिस्थिति के अनुसार इनकी भाषा-शैली कहीं प्रांजल, प्रौढ, सुसंस्कृत, एवं अलंकार युक्त मिलती है, तो कहीं आडंबर शून्य, निरलंकृत, विशुद्ध व्यावहारिक रूप में

1. अ. सं. १२–४९ 2. सूरसागर, पर ४२२२

मिलती हैं। भाषा भी तदनुरूप कहीं तत्सम बहुल, संस्कृतप्राय और अलंकृत मिलती है, तो कहीं तद्भव व देशी शब्द बहुल, मुहावरेदार, चलती शैली में मिलती है।

४.३.४.१ अन्नमाचार्य के गीतों में शैली वैविध्य :

अन्नमाचार्य की कविता में निम्नलिखित प्रकार के गीत जो मिलते हैं, उनमें उनका शैली वैविध्य भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

१) स्तुति गीत :– ये अकसर नामावली अथवा गुण व्यंजक, महिमा व्यंजक शब्दावली के राग-ताल-लयों के अनुकूल बने पद-बंध के रूप में मिलते हैं। अनुप्रास, यमक जैसे शब्दालंकारों से युक्त ललित कोमल शब्दों के व्यवहार से इनमें नाद-सौंदर्य का संपादन हुआ करता है। इनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। अन्नमाचार्य के कुछ स्तुति-गीत आद्योपांत संस्कृत भाषा में ही रचे मिलते हैं।

२) उपदेश गीत :– भगवन्महिमा, भक्ति-महिमा, भागवत-महिमा जैसों का प्रवचनात्मक वर्णन इन गीतों का वर्ण्य-विषय होता है। फलतः इनमें कई पौराणिक कथा-प्रसंगों का दृष्टांत व उदाहरण रूप में उल्लेख मिलता है। साधु-सज्जन सांगत्य जैसों के उत्तम फलों के निरूपण में अनेकानेक आख्यानों, अनुभव-गम्य उपमानों और तुलनात्मक विवरणों का दिग्दर्शन करते कवि इन गीतों में सरल, सुबोधमय, तत्सम-तद्भव-भरित शैली को अपनाकर चलते हैं।

३) अध्यात्म-गीत :– ब्रह्म, जीव, जगत, माया, विषय-लोलुपता, भोग-लालसा, कामिनी-कांचन का प्रलोभ, जीवन की असारता, देह की अस्थिरता, विरति का सुख, भक्ति का आनंद, मोक्ष का आधिक्य जैसे तात्विक विषयों का वर्णन इन गीतों में मिलता है। फलतः इन गीतों में नैष्ठिक, पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अर्थांतरन्यास आदि अलंकारों का प्रयोग, तर्क-युक्ति-युक्त विषय निरूपण, शास्त्रीय वचनों का उद्धरण जैसी बातें देखने में आती हैं। तत्सम व तद्भव शब्दों का संतुलित प्रयोग और सरल सूबोधमय ढंग से विषय का निरूपण इनकी शैली के विशिष्ट गुण हैं।

४) कथानक-गीत :– अन्नमाचार्य की कविता में ये विरले ही मिलते हैं। सिर्फ नृसिंहावतार-कथा को छोड़कर बाकी अवतारों की संपूर्ण कथाएं कहीं

नहीं मिलती। कृष्ण और राम की अवतार-लीलाओं से संबंध रखने-वाले कथा-पूर्त्यात्मक गीत कुछ मिलते हैं, किंतु वे निरे इतिवृत्तात्मक और पाद-पूरणात्मक ढंग पर रचे दीखते हैं। इनकी शैली शिथिल, चलायमान और रोचकता विहीन है।

५) वर्णनात्मक-गीत :– ये वस्तु, घटना, रूप, महिमातिशय आदि के वर्णन में रचे गीत हैं। तिरुमल पहाड़ का वर्णन, वहां के उत्सवों के वर्णन, विविध देवी-देवताओं के रूप-महिमातिशय के वर्णन, श्रीवेंकटेश्वर और अलमेल-मंगा के रूप वर्णन वगैरह इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं। इनमें भाषा प्रौढ, प्रांजल, सुसंस्कृत, अलंकार युक्त और मनोज्ञ शैली में प्रयुक्त हुई मिलती है। ये गीत सरस-कोमल पदों, सुसंगठित समासों व सुंदर शब्द-चित्रों से भरे मिलते हैं।

६) लीला-परक-गीत :– ये बहुधा कृष्ण की बाल-लीलाओं से संबंधित गीत हैं। ये ललित-कोमल पदों से युक्त, रस-भावानुकूल पद बंधों व शब्द-चित्रों से भरित और स्थिर गंभीर गति से चलनेवाले गीत हैं। इनकी भाषा शैली सुमधुर, मनोज्ञ और भाव-प्रत्यक्षीकरण में अत्यंत समर्थ तथा सुरुचिपूर्ण मिलती है।

७) संवाद-गीत :– दान-लीला, मान-लीला, दूती-प्रसंग, विरह-वर्णन, केली, क्रीडा कौतुक-प्रसंग वगैरह के गीत इस वर्ग में आते हैं। इनमें सर्वत्र पात्रोचित भाषा का प्रयोग मिलता है। फिर, विषय व संदर्भ के अनुसार कहीं सरस-मृदूक्तियां मिलती हैं, तो कहीं व्यंग्य, व्याजभरी, विदग्धता पूर्ण उक्तियां मिलती हैं। वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, अत्युक्ति, छेकोक्ति, अन्योक्ति, विभावना जैसे कितने ही अलंकार यहां दर्शनीय होते हैं। पात्र-निबद्ध प्रौढोक्तियां यहां पग पग पर मिलती हैं। दानलीला प्रसंग के गीतों में, जहां नायिकाएं पहाड़ी या पामर नारियां होती हैं, वहां की भाषा असंस्कृत, ग्राम्य व अनाडंबर मिलती है। दूती प्रसंग, खंडिता प्रसंग, कलहांतरिता प्रसंग जैसों की भाषा चलती, मुहावरेदार और व्यंग्य भरी मिलती है।

८) भावात्मक-गीत :– विनय, दैन्य, विरह-ताप, उत्साह, हर्ष, उत्कंठा जैसे भावों के वर्णन में रचे गीत इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं। यहां भाषा सुकोमल शैली-अतीव परिमार्जित और कथन अत्यंत स्पष्ट तथा हृदयग्राही होकर मिलते हैं। लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का पूरा पूरा उपयोग इन

गीतों में प्रकट होता है। यहां भाषा और भाव परस्पर होड़ मचाकर चलते से लगते हैं।

९) लोक-गीत :— अन्नमाचार्य की रचना लोकगीतों का समुज्ज्वल भंडार है। परंपरागत सभी प्रकार की लोक-गीति-शैलियां यहां सुरक्षित हैं। उदाहरण केलिए उनके रचे कुछ लोक-गीतों के नाम यहां दिये जाते हैं।

आल्लोनेरल्लु	क्रीडा गीत	(गायक प्रति ३३)	राग देशालं
अत्ता कोडल्लु	संवाद गीत	(१२–३१२)	राग पाडि
अभ्यंजन	स्नान	(३–३२५)	राग शंकराभरण
आरति	मांगलिक गीत	(गा ८८)	श्रीराग
ऊयेल	झूला	(गा ७०)	आहिरि
उग्गु	प्रासन	(१२–९७)	भैरवी राग
एला	श्रृंगार	(१३–२३०)	कांबोदिराग
ओलाल	ऊखल	(३–३७५)	केदारगौल राग
कूगूगु	क्रीडा	(४–५६)	शंकराभरण राग
चंदमामा	चांदा, केली	(गा १४४)	सौराष्ट्र राग
गोल्ल	श्रृंगार, मंथान	(४–१३)	पाडि राग
गोब्बिल्लु	क्रीडा, व्रत	(१२–९८)	देशाल राग
चल्ल	मंथान गीत	(४–१०९)	पाडि राग
चिलुका	श्रृंगार, अन्योक्ति तत्व	(गा १३)	आहिरि राग
चांगु भला	विजय गीत	(१२–९१)	पाडि राग
जाजर	चर्चरी	(१९–४७३)	वसंत राग
चेंचीत	श्रृंगार	(४–९६)	कोंडमलहरि राग
जोल	पालना	(गा १५२)	श्रीराग, अट ताल
तंदान	तत्वार्थक	(गा ५९)	बौलि राग
त्रुव्वि	क्रीडा	(१२–२१९)	मंगल कौशिक राग
तुम्मेद रो	श्रृंगार, उपालंभन	(४–३९)	श्रीराग
दोबूचि	क्रीडा	(१२–२२६)	धन्यासि राग
धवला	जयगीति	(२–१५६)	बौलि राग
पेल्लि	विवाह गीत	(३–२५३–२५४)	श्री, बौलि राग

बोय	शृंगार, आखेट	(४–१६६)	आहिरि राग
पल्लांडु	आशीर्वाद	(४–१८७)	आहिरि राग
मंगलं	मांगलिक गीत	(३–२२७)	ललित राग
मेलुकोलुपु	जगाऊ	(४–१५१)	पाडि राग
लालि	पालना	(१२–२५४)	श्रीराग, जंपे ताल
वेन्नेल	शृंगार, विरह	(गा १३३)	सामंत राग
वेगु	जगाऊ	(४–१४८)	वसंत राग
शोभनालु	जयगीत, मांगलिक गीत	(३–१८)	वसंत राग
सासमुखा	दरबार	(गा ३९)	धन्यासि राग
सवति	संवाद गीत	(४–१०५)	सामंत राग
सिन्नेका	शृंगार	(३–३३०)	सामंत राग
सुव्वि	ऊखल	(३–४२७)	भूपाल राग
लक्ष्मी कल्याण	विवाह मंगल	(३–१०५)	आहिरि राग
अ ो बाव	शृंगार	(३–१७२)	सारंग राग
जाजरालु	जलकेली	(१२–२३४)	
कोलुवु	दरबार	(३–१८)	पाडि राग
तेरु	वाहन, यान	(९–२२८)	

इनके अलावा टेकस्थानीय, तुम्मेदा, हंस, परमात्मा जैसे पदों से बने गीत, नृत्यानुकूल व वाद्यानुकूल (बोलों से युक्त) गीत, जेवनार, चांचरी और नामावली के गीत भी कई मिलते हैं। इन गीतों की भाषा बोलचाल की और छंद व शैली परंपरागत हैं।

१०) संस्कृत के गीत :– बहुधा ये गीत स्तोत्र रूप में रचे मिलते हैं। इनकी भाषा भी ललित-कोमल, प्रवाहमय व नाद-सौंदर्य युक्त होती है। राधा कृष्ण शृंगार व रति क्रीडा के वर्णन केलिए प्रायः संस्कृत के ही गीत प्रयुक्त हुए मिलते हैं। इनकी शैली कोमल कांत पदावली से भरी रहती है। दानलीला, मानलीला जैसे प्रसंगों में एकाध गीत संस्कृत में रचे मिलते हैं। इनकी भाषा सरल व्यावहारिक व संदर्भोचित व्यंग्य-व्याज भरी रहती है। शैली में नाटकीयता अधिक रहती है। नीचे दानलीला प्रसंग का एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिस में नायिका के द्वारा व्याज-निंदा के रूप में नायक के अवतारों की ओर संकेत स्पष्ट झलकता है।

करेण किं मां गृहीतुं ते,
हरे फणिशय्या संभोग ।।
जले तव संचरणमिहाथः
स्थले भवनं तव सततं ।
बले तव रूपप्रकटन मतुला-
चले स्थानं चल चल रमणा ।।
पदे भुवन प्रामाण्यं तव
ह्रदे प्रचुर विहरणमिदं ।
मुदे मुनीनां मोहनं तनुं
मदे तव नर्म च मां विसृज ।।
स्मरे विजयस्तव विमल तुरग
खुरे रति संकुल रचना ।
पुरे तव विस्फुरणं वेंकट
गिरेः पते ते खेलाघटितं ।। (अ.सं. ४-११६)

४.३.४.२ सूरदास के गीतों में शैली-वैविध्य :

सूरदास की रचना में भी शैली-वैविध्य के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। सूरसागर मूलतः कथाश्रित रचना है। लेकिन कवि की रुचि भावाश्रित मुक्तक गेय पदों के प्रति अधिक है। फलतः इसमें प्रधानतया दो मुख्य शैलियों का अवतरण हो गया है। एक तो, कथात्मक गेय शैली है और दूसरी भावात्मक प्रगीति शैली है। इनके विषयानुरूप कई अवांतर शैली-भेद पाये जाते हैं। फिर विनय पदों की शैली कुछ अलग है। विश्लेषण करने पर सूरसागर के गीतों के निम्न लिखित मोटे मोटे विभेद पाये जाते हैं, जिनकी शैली भी उसी तरह हर एक की अपनी जान पड़ती है।

१) भागवत कथा संबंधी गीत :– ये अकसर चौबोल, चौपाई जैसे छंदों के आधार पर बने सुदीर्घ गेय-पदों के रूप में मिलते हैं। इनकी भाषा अवसरोचित तत्सम शब्दों से युक्त, सरल एवं सुबोध रहती है। शैली अकसर शिथिल और नीरस होती है। कथा की शीघ्र-गति इनका वैशिष्ट्य है।

२) अवांतर कथा या कथानक गीत :– अनेकानेक गेयपदों में वर्णित कथा-संदर्भों व कथा-पूर्त्यंशों को जोड़कर संक्षेप में रचे सूत्रबद्ध कथानक इस तरह के गीतों में मिलते हैं। कालीय दमन कथा, गोवर्धन लीला वृत्त, भ्रमर गीत प्रसंग जैसों में ऐसे संग्रहात्मक कथानक-गीत मिलते हैं। इनकी

भाषा परिमार्जित, सुसंस्कृत, आवश्यकतानुसार अल्प अलंकारों से युक्त और द्रुत गतिवाली होती है। धारावाहिकता और सूत्रबद्धता इनका वैशिष्ट्य है।

३) सामान्य चरितात्मक गीत :— अवतार कथानक जैसों के वर्णन में ऐसे गीत मिलते हैं, जिनकी भाषा विषयानुकूल, अलंकृत, समास बहुल, परिमार्जित और अधिक मनोज्ञ दीखती है। राम कथा में ऐसी रोचक शैली के कई गीत मिलते हैं।

४) प्रसंग-वर्णन के गीत :— राधा-कृष्ण मिलन, पनघट, चीर हरण, दानलीला जैसे प्रसंग इस तरह के गीतों में वर्णित हुए मिलते हैं। इनकी भाषा सरल, स्पष्ट व व्यावहारिक ढंग पर चलती है। अलंकार भी खूब प्रयुक्त हुए मिलते हैं और शैली में नाटकीयता अधिक रहती है। संभाषण विदग्धता पूर्ण होने पर भी कहीं कहीं ग्राम्यता व अशिष्टता का रूप लेता है। फिर भी व्यवहारिकता और सजीवता इस शैली की विशिष्टता मानी जाती हैं।

५) लीला-वर्णन के गीत :— कृष्ण की बाल व किशोर लीलाओं से संबंध रखनेवाले गीत इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं। बाल-लीला संबंधी गीतों की भाषा प्रायः तद्भव-प्रधान, सहज, सुगठित एवं परिमार्जित मिलती है। इनकी शैली चपल, मनोहर और आडंबर रहित दीखती है। कीशोर-लीलाओं के गीतों में भाषा अपेक्षाकृत अधिक अलंकार युक्त, व्यंग्य भरी रहती है। इनकी शैली भी अधिक चातुर्य पूर्ण और वक्रता भरी मिलती है। खंडिता प्रसंग, सुरत-प्रसंग जैसों में कहीं कहीं भाषा व शैली ग्राम्यता और अश्लीलता से दूषित हुई मिलती है।

६) रूप-वर्णन के गीत :— इन गीतों की भाषा अकसर तत्सम-शब्द-भूयिष्ट, समास बहुल, अलंकार युक्त और विषयानुरूप दीखती है। यहां पद-मैत्री और ध्वनि-साम्य का कुशल निर्वाह मिलता है। इन गीतों की शैली प्रौढ, प्रवाहमय, रुचिर व मनोमुग्धकारी मालूम पड़ती है। यहां भावना और कल्पना का सुमधुर संयोग दर्शनीय हीता है।

७) प्रभाव-वर्णन के गीत :— नैन-समय, आंखियां-समय जैसों के गीत इस वर्ग में आते हैं। इन गीतों की भाषा में कार्य-कारण कल्पना, हेतु-प्रत्यय निरूपण, अलंकृत उक्तियां और व्यावहारिक, किंतु प्रांजल शैली का प्रयोग विद्यमान होते हैं। अर्थ-गांभीर्य और अतिशय-व्यंजना इस शैली का वैशिष्ट्य जान पड़ता है।

८) अध्यात्म तत्व-वर्णन के गीत :— विनय के पद इस वर्ग में आते हैं। इनमें स्तोत्रों की भाषा तत्सम बहुल व समास युक्त रहती है। नाम-महिमा गुरु-महिमा, सज्जन-महिमा आदि में आवश्यकतानुसार तत्सम व तद्भव शब्दों व छोटे छोटे समासों का प्रयोग मिलता है। भगवन्महिमा, भक्ति-महिमा, तत्व-चिंता जैसों के वर्णन में भाषा व शैली अपेक्षाकृत प्रौढ, प्रांजल, गंभीर व आग्रह पूर्वक मिलती है। यहां दृष्टांत, उदाहरण जैसे अलंकारों का अधिक प्रयोग दीखता है। उत्तमपुरुष में रचे आत्माश्रय ढंग के भावात्मक विनय पदों में वचन-वक्रता, व्याज व व्यंग्य-कुशलता सजगता, भावुकता और अधिक चतुराई देखने में आती है।

९) दृश्य-वर्णन के गीत :— जातकर्म, नामकरण, कर्ण-वेध जैसे संस्कारों, भोजन, यान जैसे प्रसंगों, हिंडोल, होली, फाग जैसे उत्सवों व केली-कौतुकों के वर्णन में रचे गीत इस वर्ग के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। इन गीतों में वस्तुओं की सुदीर्घ सूचियां मिलती हैं। भाषा विषयानुकूल रहती है। वाक्य अकसर ढीले, पुनरावृत्तियों से भरे और असंस्कृत रहते हैं। संदर्भ के अनुसार प्रयुक्त लोक-गीतों या उनके अनुरूप बने अन्य गीतों को भी इसी वर्ग में गिना जा सकता है। जन्म, बधाना, पालना, सौहलो, ज्योनार, मंगल जैसे प्रसंगों में सूर ने लोक-गीत सरीखे गीत रचे हैं। फिर, फाग और होली के प्रसंगों में ऐसे गीत प्रयुक्त किये हैं। होली-गीतों में लोक-गीत की शैली अधिक निखर उठी मिलती है।

१०) दृष्ट-कूट गीत :— ये कवि के पांडित्य और चातुर्य या गोपन स्वभाव को जितना प्रकट करते हैं, उतना अपने अर्थ, भाव या रस को प्रकट नहीं करते। दूती-प्रसंग, सुरत-वर्णन जैसों में ऐसे गीत अधिक मिलते हैं। ये तत्सम-पद-भूयिष्ट, गूढार्थयुक्त व प्रसादगुण रहित शैली में रचे गीत हैं। शब्द-क्रीडा और अर्थ-गुप्ति इनका वैशिष्ट्य है।

४.३.४.३ तुलना और निष्कर्ष :

अन्नमाचार्य और सूर ने गेय कवितोपयुक्त नाद-सौंदर्यमयी भाषा का ही व्यवहार किया है। विषयानुकूल भाषा के प्रयोग में भी दोनों समान कुशल जंचते हैं। सरल सुबोधमय भाषा-शैली से लेकर पांडित्य पूर्ण चित्र-कवितोपम शैली तक की सभी शैलियां इनके गीतों में प्रयुक्त हुई हैं। सूर की रचना में कथात्मक व कथानक गीत और अन्नमाचार्य की रचना में अध्यात्म तत्व के गीत और लोकगीत अधिक मिलते हैं। कूट-पदों की रचना में सूर की रुचि अधिक दीखती है। अन्नमाचार्य की रुचि संस्कृत भाषा की ओर उसी तरह लगी मिलती है।

४.३.५ छंद :

अन्नमाचार्य और सूरदास की रचनाएं केवल गीतिबद्ध रचनाएं नहीं, वे संगीत-बद्ध रचनाएं हैं। अतः उनमें छंदोविधान की अपेक्षा राग विधान की प्राधान्यता अधिक हुई है। फिर भी, हमारे आलोच्य कवियों ने मात्रा-छंदों को अपनाकर अपनी अपनी रचनाओं में काफी छंदोवैविध्य तो अवश्य दिखाया है। परंपरागत देशी छंदों के सभी छोटे-बड़े विधानों को स्वीकृत करके, उनका विषयानुरूप उपयोग करने में दोनों ने अत्यंत कुशलता दिखायी है। संगीत की आवश्यकता के अनुसार स्वीकृत छंदों में कहीं कहीं मात्राओं की कमी-वेशी करके काम चलाने की प्रज्ञा भी दोनों कवियों में समान रूप से दीखती हैं।

४.३.५.१ अन्नमाचार्य का छंदोविधान :

अन्नमाचार्य के गीत तेलुगु के गीति-छंदों के आधार पर बने हैं। तेलुगु में ३, ४ या ५ मात्राओं के नियत गणों से बनने वाले रगडा, मंजरी, द्विपदा, सीस जैसे छंद पहले से गेयोपयुक्त माने जाते आ रहे हैं। इनके कई अवांतर भेद भी लाक्षणिकों से बताये गये हैं। यक्ष-गान जैसे गेय नाटक रचनाओं के लिए ऐसे ही छंद नियत किये गये हैं। कलिका, उत्कलिका, उत्साह, विषम-सीस जैसे छंद अपने आप ताल-गति के अनुकूल होनेवाले मात्रा-छंद हैं। फिर, एला, जोला, लालि, गोब्बिल्लु, अर्धचंद्रिकलु, जक्कुल रेकुलु वगैरह लोक-गीतों के छंद तो परंपरागत देशी शैली पर ही निर्मित होते हैं। अन्नमाचार्य ने इन सभी को अपनाया ही नहीं, बल्कि अपने संकीर्तन-लक्षण में इनकी चर्चा भी की है। उन्होंने यह भी कहा है कि निबंध-पदों में सभी प्रकार के छंद प्रयुक्त हो सकते हैं और यति-प्रास नियम भी सर्वत्र लागू रहता है।[1] हम अन्यत्र कह चुके हैं कि तेलुगु में यति माने यतिस्थान पर आनेवाला वह वर्ण है, जो पदाद्यक्षर से वर्ण-मैत्री अथवा ध्वनिसाम्य रखता है। उसी तरह प्रास माने पाद का द्वितीयाक्षर है, जो छंद के सभी पादों में द्वितीयाक्षर के रूप में दुहराया जाता है। अन्नमाचार्य ने तेलुगु गीतों में ही नहीं, संस्कृत गीतों में भी मात्रा-छंदों और यति-प्रासों का पूरा पूरा निर्वहण किया है। वर्ण्य-विषय के अनुरूप कहीं लंबे या बड़े छंदों का उपयोग किया है, तो कहीं छोटे छंदों का।

---

1. संकीर्तन लक्षण, पद्य ३८

४.३.५.२ सूर का छंदो-विधान :

सूरदास के गीतों में भी कई प्रकार के छोटे-बड़े छंद प्रयुक्त हुए मिलते हैं। छोटे छंदों में कुंडल, उपमान, सोभन, रूपमाला जैसों का प्रयोग अधिक हुआ है। लंबे या बड़े छंदों में सार, सरसी, वीर, सवैया आदि का उपयोग अधिक हुआ है। सूर ने प्रायः १२ से लेकर १६ मात्राओं तक के छंदों के प्रति अधिक रुचि दिखाई है। डा. ब्रजेश्वर शर्मा लिखते हैं कि "न केवल उसने आवश्यकतानुसार छंदों में परिवर्तन और परिवर्धन करके अपनी मौलिक उद्भावना प्रदर्शित की है, बरन् प्रायः उसने मात्राओं के नियमों का सर्वत्र पालन नहीं किया है। सावधानी से चुने हुए उदाहरणों में भी यति-भंग दोष तो प्रायः किसी भी छंद में सरलता से मिल सकता है। लिखित रूप में पढ़ने से गति भी भंग होते दिखाई देती है। ये त्रुटियां वस्तुतः इस कारण से हैं कि इन पदों के निर्माण में संभवतः पिंगल की अपेक्षा संगीत का अधिक ध्यान रखा गया है।"[1]

वर्णनात्मक प्रसंगों केलिए सूर ने परंपरागत चौपई, चौपाई, दोहा, रोला आदि छंदों और उनके आधार पर बने छंदों को अपनाया है। कहीं कहीं इन छंदों का मिश्रण भी हुआ है। चरण-नियम भी प्रायः नहीं के बाराबर है। लेकिन कथातिरिक्त प्रसंगों, छोटे कथानकों व वस्तु वर्णनों में छंदोविधान अपेक्षाकृत सुष्टु और सुनियमित हुआ मिलता है।

कहीं कहीं दोहा, रोला, जैसे छंदों में आवश्यकतानुसार मात्राओं को बढ़ाकर नवीन छंदों का निर्माण किया गया है। फाग, होली जैसे प्रसंगों के वर्णन में ऐसे छंद खूब प्रयुक्त हुए हैं। दोहा और रोला मिलाकर अवतार वर्णन जैसे प्रसंगों में प्रयुक्त करके कवि ने इन छंदों की रोचकता खूब बढ़ाई है। इसी तरह चौपाई में सार या गीतिका को जोड़कर भी सूर ने नवीन छंदों की उद्भावना की है। यद्यपि यह शिथिल बंध है, तो भी नवीनता के कारण इस में रोचकता आयी है।

सूरसागर में चंद्र, भानु, कुंडल, सुखदा, तोमर, रूपमाला, गीतिका जैसे अन्य कई छंद अवसरोचित रूप से प्रयुक्त हुए हैं। सूर के छंदों में कुछ टेक पंक्ति से युक्त और कुछ उससे रहित मिलते हैं। डा. ब्रजेश्वर शर्मा कहते हैं कि 'लंबे छंदों की संख्या टेकवाले पदों में अधिक मिलेगी'।[2]

४.३.६ संगीत :

पहले ही यह कहा जा चुका है कि हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास अपने समय के प्रसिद्ध गायकों में थे ओर अपनी रचनाओं के द्वारा संगीत

---

1. सूरदास, पृ ५४१ 2. सूरदास, पृ ५७०

के लक्ष्य साहित्य के भंडार को अत्यंत विशाल बनाकर अब तक के सभी संगीतज्ञों व पद-कर्ताओं के आदर्शप्राय हुए। अन्नमाचार्य ने संकीर्तन-लक्षण नामक पद रचना संबंधी लक्षण ग्रंथ भी संस्कृत में रचा था, जिसका दुर्भाग्यवश अब तक पता नहीं चला। किंतु उसका आंध्र पद्यानुवाद, जो अन्नमाचार्य के पौत्र चिन तिरुमलाचार्य से किया गया है, अब प्राप्त है और उसका प्रकाशन भी हो चुका है।

४.३.६.१ अन्नमाचार्य का संगीत-पक्ष :

तेलुगु भाषा में अब तक प्राप्त गेय-पद-साहित्य में अन्नमाचार्य के पद ही सबसे प्राचीन हैं। उनसे पहले के गीतों के नाम तो सुनने को मिलते हैं, लेकिन उनका एक भी नमूना अब देखने में नहीं आता। इस तरह तेलुगु-पद-साहित्य के आद्य निर्माता होकर, अन्नमाचार्य 'पदकविता पितामह' जो कहलाये, वह सर्वथा उचित ही है।

अन्नमाचार्य के सभी पद राग-रागिनियों में बंधे मिलते हैं। हर पद के शीर्षस्थान में राग का नाम लिखा मिलता है। ऐसे ९३ रागों के नाम गिनने को मिलते हैं, लेकिन उनमें से करीब १९–२० राग तो बार बार प्रयुक्त हुए मिलते हैं। अन्नमाचार्य से प्रयुक्त पाडि, सामंत, आवालि, अमरसिंधु, रागौल, कोंडम-लहरि, हिज्जिज्जि, गुज्जरि, तेलुगु कांबोधि, सालंग, मुखारिपंतु जैसे राग अब प्रचलित नहीं हैं।[1] संगीत की स्वरलिपि में लिखित होकर न मिलने से अब यह कहना कठिन है कि उस समय उन रागों को किस तरह गाया करते थे।

अन्नमाचार्य के गीतों का ताल-निर्देश विरले ही मिलता है। निर्दिष्ट तालों में एक-तालि, जंपे, अटताल के नाम प्रमुख हैं। अन्नमाचार्य ने 'सूलादि' गीतों की भी रचना की है। इनमें हर चरण का ताल अलग रहता है। उसी तरह अन्नमाचार्य ने उनको रागमालिका का रूप भी दिया है। जहां ताल का निर्देश नहीं है, वहां छंद की मात्राओं और यति के आधार पर तालगति व लय का निर्णय करना पड़ता है।

अन्नमाचार्य के गीत बहुधा पल्लवि और तीन चरणोंवाले होते हैं। तीन से अधिक संख्या के चरणों और पल्लवि के साथ अनुपल्लवि का प्रयोग क्वचित् ही हुआ मिलता है। 'संकीर्तम लक्षण' में बताया गया है कि पल्लवि समान मात्रा-वाली दो पंक्तियों से बनती है और उससे दुगुने परिमाण का, अर्थात् सममात्रक

---

1. साहित्योपन्यासमुलु–३ (आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी) श्री वी. रजनीकांत राव का लेख, पृ ६६.

चार पंक्तियों का चरण बनता है ।[1] जहां अनुपल्लवि का प्रयोग होता है, वहां पल्लवि एक ही पंक्ति में रहती है। अनुपल्लवि या तो पल्लवि के समान या उससे द्विगुणित प्रमाण की होती है । पल्लवि टेक या ध्रुवक का पर्याय है । पद का मुख्यार्थ पल्लवि में संग्रहीत होकर उसे पद के शीर्षक का रूप देता है । वह हर चरण के अंत में दुहराई जाती है और इस तरह चरणों के अर्थ को कभी कभी पूरा भी करती है ।[2] अन्नमाचार्य की पल्लवियां साहित्यिक दृष्टि से सुगठित व सूक्तिप्राय दीखती हैं ।

'संकीर्तन लक्षण' में पद के पांच अवयव बताये गये हैं, जैसे उद्ग्राह, मेलाप, ध्रुव, अंतर और आभोगा ।[3] गाते समय पद का आरंभ जिस पंक्ति से होता है, उसी को उद्ग्राह कहते हैं। मेलाप अनुपल्लवि जैसा होता है। ध्रुव पल्लवि का ही रूपांतर है । अंतर चरण को कहते हैं । अंतिम चरण को आभोग कहते हैं, और उसी में कवि की मुद्रा (छाप) दी जाती है । इनमें से मेलाप का अन्नमाचार्य के पदों में अकसर लोप मिलता है ।

अन्नमाचार्य की रचना में जयदेव के अनुकरण में संस्कृत में रची हुई अष्ट-पदियां भी एकाध मिलती हैं । यक्षगान शैली या देशीगेय शैली में रचे कितने ही लोक-गीत और संभाषण या संवाद शैली में रचे कई नाट्योपयोगी गीत भी इनकी रचना में स्थान पा चुके हैं । नृत्योपयुक्त मृदंग-शब्दों या बोलों से युक्त गीत भी यहां मिलते हैं । अन्नमाचार्य के पदों में एक जगह कई रागों के नाम गिने हुए हैं ।[4] उसी तरह यत्र तत्र वीणा, मुरज, मृदंग, किन्नेरी, भेरी, डोल, डफ, भृंगिनाद, झाल्लरी जैसे वाद्यों के नाम भी उल्लिखित हुए मिलते हैं । अन्नमाचार्य के चित्रों में उनको एकतारा और चिरुताल बजाते गाते, पैरों में घूंघरू पहनकर नाचते से अंकित किया गया है ।

४.३.६.२ सूर साहित्य का संगीत-पक्ष :

सूरदास ने 'सूर सगुन पद गावै' कहकर अपने को कवि के साथ संगीतज्ञ भी बताया है । उनकी रचना में दोहे और सवैये भी संगीतमय बने है । संप्रदाय में दीक्षित होने पर वे कीर्तनिया ही बन गये । उससे पहले भी वे गायक के रूप में विश्रुत थे । तभी किसी ने निष्कपट भाव से कहा है,

"हाथ सितारो सूर करयौ, मुख में मधुरा बोल ।
कान्हूने के रंग में सूरदास कौ बोल ।।"[5]

---

1. संकीर्तन लक्षण, पद्य ४० 2. संकीर्तन लक्षण, पद्य ३९
3. ,, पद्य ३८ 4. अ. सं. ३–४२९
5. सरस्वती संवाद - सूर विशेषांक, पृ १४०

सूर की रचना में संगीत के राग, ताल और नृत्य नाम के तीनों अंग विद्यमान होते हैं। सूरसारावली में एक जगह ३६ राग-रागिनियों के नाम अंकित हैं।[1] सूरसागर के कई पदों में मुरज, बीन, रबाब, डफ, आनक, महुवर, झांझ, किन्नरी जैसे वाद्यों के नाम सुनने को मिलते हैं। मुरली वादन व रासक्रीडा के पद सूर की संगीतज्ञता व संगीत-प्रियता के भी अभिव्यंजक माने जा सकते हैं।

सूरसागर का हर एक पद अपने नियत राग या रागिनी के नाम से युक्त मिलता है। ऐसा लगता है कि श्रीनाथजी के मंदिर के सेवा-अवसरों अथवा समयों के अनुसार पदों के राग नियत किये गये हैं, जो पद के भाव के भी अनुकूल सिद्ध होते हैं। संगीत-शास्त्र में दिन के चार और रात के चार प्रहरों के राग-रागिनियों के आठ विभेद किये गये हैं। श्रीनाथ-मंदिर की अष्टयाम-सेवा में, इन बेलारागों में रचे संकीर्तनों का गान विधायक बना दिया गया है। सूर का संबंध इन सभी याम-सेवाओं से न होकर भी उनके रचे गीतों में इनके लिए निर्दिष्ट सभी रागों का प्रायः प्रयोग हुआ मिलता है। शुक्ल जी के मत में 'सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी।'[2] यह भी कहा जाता है कि "सूर के गान ऐसे राग और रागिनियों में हैं, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागिनियां या तो सूर की अपनी सृष्टि है या अब उनका प्रचार नहीं है।"[3] कहते हैं कि सूर ने लगभग ६८ रागों का प्रयोग किया है। लेकिन राग विलावल सूर को अधिक प्रिय लगता रहा हो, सूरसागर में इसका सबसे अधिक प्रयोग मिलता है। सारंग, धनाश्री आदि का भी अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग दीखता है।

सूर के कई पद शास्त्रोक्त ध्रुवपदों के अंतर्गत आते हैं। लंबी पंक्तियों की योजना और यति का विशिष्ट विधान इन पदों को ध्रुवपद शैली में गाने लायक सिद्ध करते हैं। इन पदों में ध्रुवपदों के अंग रूप अस्थाई, अंतरा, संचारी, आभोग जैसे सभी अवांतर विभाग स्पष्ट रूप से जोड़े हुए मिलते हैं।

सूर के कुछ पद टेक से युक्त मिलते हैं, कुछ उससे रहित। जहां टेक का प्रयोग हुआ है, वहां वह सारे पद का सारांश बतानेवाला या उसको सूचित करनेवाला सूत्रवाक्य-सा रहता है। डा. व्रजेश्वर शर्मा के शब्दों में, "संगीत के विचार

---

1. सूरदास, पं रामचंद्र शुक्ल, पृ २००
2. सूरसौरभ, डा. मुंशीराम शर्मा, पृ ३८३
3. सूरदास, पृ ५७१

से टेक का कुछ भी महत्व हो, काव्य में उसका विशिष्ट स्थान अवश्य है। प्रायः कवि ने संपूर्ण पद का केंद्रीयभाव अत्यंत संक्षिप्त और सुगठित शब्दों में टेक के रूप में देकर पद में विचित्र मोहकता उत्पन्न कर दी है। सूरसागर की अगणित टेक की पंक्तियां इतनी भावपूर्ण, व्यंजक और मार्मिक हैं कि उनको सुनते ही अभीष्ट रस का संचार हो जाता है।'[1]

४.३.६.३ तुलना और निष्कर्ष :

भक्ति और साहित्य को रागमय बनाकर हमारे आलोच्य कविद्वय ने साधना और संगीत का सुमधुर समन्वय साध लिया। इन दोनों भक्त कवियों के गीत निरे भावगीत न होकर संगीत शास्त्र की कसौटी पर पूरे उतरनेवाले सलक्षण गीति-प्रबंध सिद्ध होते हैं। दोनों ने अपने गीतों को अनेकानेक राग-रागिनियों में बांधकर रचा है। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ राग-रागिनियों के लक्षण अब विस्मृत-प्राय-से हो गये हैं। संगीत और नाट्य दोनों केलिए इनके गीत उपयुक्त जान पड़ते हैं। फिर, इनका साहित्यिक सौंदर्य तो सहृदय-हृदयैक-वेद्य है ही।

सूर के कथात्मक गेय पदों में 'हरि-कथा' संगीत शैली का दर्शन भी मिलता है। अन्नमाचार्य के लोक-गीतों से उनका एक अलग भंडार या प्रदर्शनालय भर दिया जा सकता है। सूर संकीर्तनिया रहकर प्रायः सभी वेला-रागों में, सभी संस्कारों व सब झांकियों में प्रयुक्त करने लायक पदों का निर्माण कर गये। अन्नमाचार्य ने श्रीवेंकटेश्वर के साथ, उनसे अभिन्न मानकर और कई क्षेत्रीय अर्चा-स्वरूपों के यशोवर्णन में भी कई गीत प्रस्तुत किये हैं। ये गीत और कवियों के आदर्श ही नहीं, अन्य साधकों के पथ-प्रदर्शक और सहृदय जनों के कंठहार बन गये, तो आश्चर्य की बात नहीं है।

---

1. सूरदास, डा. ब्रजेश्वर वर्मा, पृ. ५७१

५. उपसंहार

५. उपसंहार :

अन्नमाचार्य और सूरदास का यह तुलनात्मक अध्ययन उनमें से किसी एक को बड़ा या छोटा कहने के उद्देश्य से नहीं, किंतु उन दोनों के साहित्य में दिखाई पड़नेवाली मौलिक एकता को स्पष्ट करने के उद्देश्य से प्रेरित है । मूल में यह साहित्यिक शोध है, अतः उसका ढंग चाहे कितना ही वैज्ञानिक हो, उसमें विज्ञान या गणित शास्त्रीय ढंग के निष्कर्ष नहीं हो सकते ।

तुलनात्मक अध्ययन केलिए जो समान धर्म चाहिएं, वे हमारे आलोच्य कवि अन्नमाचार्य और सूरदास में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। दोनों कवि समसामयिक थे, दोनों सगुण भक्ति के साधक थे, दोनों ने भगवल्लीला के वर्णन में सहस्रों पद रचे और दोनें ने अपनी रचनाओं को संगीतबद्ध बनाया ही नहीं, बल्कि संकीर्तन सेवा को अपना कर अपने समय के प्रसिद्ध पद-कर्ता व गायक भी कहलाये । किंतु ये सब बाहरी साम्य हैं। दोनों अलग अलग प्रांतों में रहकर, अलग अलग भाषाओं में साहित्य-निर्माण करने से, बाहर से परस्पर भिन्न-से जो लगते हैं, वह भी इस अध्ययन में व्यक्त आंतरंगिक भाव-साम्य के कारण नगण्य-सा सिद्ध होता है । अन्नमाचार्य के अध्यात्म संकीर्तन और सूरदास के विनय पद परस्पर इतने साम्य रखते हैं कि कभी कभी यह आश्चर्य होता है कि भिन्न प्रांतीय और भिन्न भाषा-भाषी होकर ये दोनों कवि ऐसा सन्निकट हृदय-साम्य या भाव-साम्य कैसे पा गये ! कहीं कहीं भाव ही नहीं, अभिव्यक्ति का ढंग भी एक होकर इन दोनों के रुचि-साम्य को भी प्रकट करता है । इन सब बातों को देखते यह मानना पड़ता है कि सगुण भक्त कवि चाहे जो कोई हों या जहां कहीं के भी हों, उनका

मन-वाणी में साम्य अवश्य रहता है। उनका बहिरंग व्यक्तित्व चाहे भिन्न हो, तब भी ऐसा आंतरंगिक भाव-साम्य अवश्यंभावी है, तभी वे सात्विक भक्त व सिद्धपुरुष होते हैं। हमारे आलोच्य कवियों में अन्नमाचार्य गृहस्थ थे और सूरदास शुरू से विरागी थे। पहले का संबंध राजा व प्रजा से अधिक था, जब कि दूसरे का वैसा संबंध बहुत कम या नहीं के बराबर था। फिर भी दोनों के मन, दोनों के आशय और दोनों की रुचि एक दूसरे से भिन्न नहीं थे।

प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्वतः प्रमाणित-सी लगती है कि भाषा-भेद होते हुए भी मूल में यह सारा साहित्य संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश परंपराओं से गुजरता हुआ देशी-भाषाओं में आकर नये युगधर्म, नयी सामाजिक पृष्ठभूमि और प्रादेशिक परिवेश के अनुसार विकसित प्राचीन साहिन्य का नवीन रूपांतर ही है। अन्नमाचार्य और सूरदास के तेलुगु और हिन्दी पदों में व्यक्त आध्यात्मिक भावधारा और भगवल्लीला माधुरी का मूल उत्स वही प्राचीन भारतीय साहित्य है, जो वैदिक युग से लेकर आलोच्य कवियों के समय तक विभिन्न समयों, विभिन्न प्रांतों व विभिन्न परिस्थितियों में से क्रमानुगत रूप से विकसित होता आया है। अगर उसमें से किसी विशिष्ट विषय के ग्रहण में अधिक उत्साह और उसके पोषण में विशेष प्रतिभा का विस्फुरण किसी कवि में दिखाई पड़ा, तो जानना चाहिए कि वह उसकी वैयक्तिक अभिरुचि और सांप्रदायिक निष्ठा के कारण से ही वैसा हुआ। अन्नमाचार्य की रचना में सखी-भाव और संयोग शृंगार के वर्णन में विस्तार व वैविध्य दिखाई पड़ता है, तो सूरदास की रचना में वात्सल्य व वियोग शृंगार के वर्णन में अधिक तत्परता और विवृति दिखाई पड़ती हैं। कारण तो वैयक्तिक अभिरुचि और स्वीकृत संप्रदाय के मंतव्यों के प्रति अत्यधिक आस्था ही है। किंतु यह पार्थक्य भी तब अल्प और आंशिक जंचता है, जब समूचे साहित्य के आदर्श व आनुपूर्विकता में सर्वतोभावेन साम्य ही साम्य विद्यमान रहता है। आलोच्य कवियों के साहित्य में उसी तरह का साम्य पग पग पर मिलता है। क्षेत्रीय व्यवधान तथा भाषा-भेद के रहते हुए भी इन दोनों कवियों के साहित्य में जो ऐसा आश्चर्यजनक साम्य विद्यमान होता है, वही इस बात का भी प्रबल प्रमाण है कि किसी एक निश्चित युगधर्म का कवि-मानस पर एक ही तरह का प्रभाव होता है। फिर, हमारे आलोच्य कविद्वय एक ही समय में हुए, यही बात नहीं, वे एक ही सांस्कृतिक धारा में सुस्नात व पुनीत हुए। परिणाम में उनका यह साम्य भारतीय भावात्मक एकता को भी प्रमाणित करता है।

प्रस्तुत अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट निरूपित होता है कि मध्यकाल के देश-व्याप्त भक्ति आंदोलन से अन्यान्य प्रांतों की तरह आंध्रप्रांत भी प्रभावित हुआ और उसमें इसका योगदान भी कम महत्व पूर्ण नहीं था। अन्नमाचार्य के करीब पंद्रह हजार पद अब तक प्राप्त हैं। एक ही कवि के हाथ निर्मित इतना पद-साहित्य भारत के अन्य किसी भी प्रांत या भाषा-साहित्य में देखने में नहीं आता। समूचे साहित्य को ताम्र-पत्रों पर लिख सुरक्षित छोड़ने का भी अन्य कोई उदाहरण कहीं सुनने में नहीं आता। फिर, इस संदर्भ में याद करने योग्य तथ्य यह है कि सोलहवीं सदी के विभिन्न भक्ति-संप्रदायों का पूरा पूरा विकास, उन सबसे पहले अन्नमाचार्य के भक्ति-साहित्य व साधना-संप्रदाय में ही संपूर्णतया हुआ-सा नजर आता है। आलवार भक्तों की रचना में सखीभाव और संयोग शृंगारवाले माधुर्यभाव का वर्णन नहीं के बराबर है। सबसे पहले इन भावों का सुविकसित रूप अन्नमाचार्य की रचना व साधना में प्रकट हुआ-सा लगता है। इनके साहित्य एवं संप्रदाय का प्रचार दक्षिण में श्रीरंगम से लेकर उत्तर में सिंहाचल तक कवि के जीवन काल में ही हो चुका। अन्नमाचार्य के पुत्र-पौत्रों ने इसके प्रचार व प्रसार में और अधिक प्रयत्न किया। वल्लभाचार्य जी और चैतन्यमहाप्रभु को अपनी दक्षिणयात्रा के समय इन लोगों का परिचय प्राप्त हुआ होगा। क्योंकि उन्हीं दिनों में इनके साहित्य व संप्रदाय का प्रचार पताक-स्थायी में हो रहा था। पुरंदरदास जैसे दक्षिण के आंध्रेतर भक्त-कवियों पर अन्नमाचार्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। पंढरि-विठल, हनुमान, राधा-कृष्ण जैसों के प्रति अन्नमाचार्य में जो भक्ति-भावना व्यक्त होती है, वह विशिष्टाद्वैत संप्रदाय के अनुकूल नहीं दीखती। वह कवि की उदारता और समन्वय भावना का ही फल होकर, समान धर्मा अन्य संप्रदायों को अपनी ओर आकृष्ट करके प्रभावित करने में सफल हुआ तो आश्चर्य की बात नहीं है। फिर, अन्नमाचार्य रहे तिरुपति में, जो शुरू से दक्षिण के प्रसिद्ध वैष्णव क्षेत्रों में एक होकर, देश के कोने कोने से हर साल हज़ारों यात्रियों को अपने यहां आकृष्ट करता आ रहा है। अन्नमाचार्य के जीवन काल में उडीसा के गजपतियों का इस प्रांत पर कुछ दिन अधिकार भी हो गया और उस संपर्क का उल्लेख भी अन्नमाचार्य के पदों में हुआ है। श्रीजगन्नाथ के वर्णन व स्तोत्र में भी अन्नमाचार्य के रचे पद मिलते हैं। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बाद में विकसित उत्तर भारतीय भक्ति-संप्रदायों पर अन्नमाचार्य का थोड़ा-बहुत प्रभाव, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अवश्य पड़ा होगा।

प्रस्तुत अध्ययन तो अन्नमाचार्य और सूरदास की रचनाओं तक ही सीमित है, अतः अन्नमाचार्य के अन्य संप्रदायों से हुए प्रभावगत संबंध की अपेक्षा, वल्लभ संप्रदाय से हुए संबंध का अधिक स्पष्ट चित्र मिलता है। पहले हम बता चुके हैं कि आचार्य वल्लभ की तीनों भूप्रदक्षिण यात्राओं में तिरुपति में उनकी बैठकें लगी थीं। आचार्य जी की पहली यात्रा अन्नमाचार्य के जीवन काल में ही गुजरी थी। स्वयं तेलुगुवाले होने से आचार्यप्रभु को अन्नमाचार्य के पदों व संकीर्तन-संप्रदाय का प्रत्यक्ष परिचय मिला होगा। अन्यत्र हम यह भी दिखा चुके हैं कि तिरुमल-तिरुपति के मंदिर के सेवा-क्रम और वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों के सेवा-क्रम में बड़ा साम्य है। दक्षिण के अन्य वैष्णवालयों की तुलना में तिरुमल-तिरुपति के मंदिर में जो विशिष्ट सेवा-क्रम चलता आया है, उसीको वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों में भी बहुधा उसी रूप में चलते देखकर और संकीर्तन-सेवा की परिपाटी को चलाने में वल्लभाचार्य जी के उत्साह को देखकर कोई भी इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि तिरुपति क्षेत्र के सेवा-क्रम व अन्नमाचार्य के संकीर्तन-संप्रदाय का पूरा पूरा परिचय आचार्य जी को था और कुछ हद तक वे इनसे प्रभावित भी हुए थे। उसी तरह अन्य विशिष्टाद्वैती आचार्यों की अपेक्षा अन्नमाचार्य और उनके पुत्र-पौत्रों में भागवत पुराण के प्रति अधिक आदर विद्यमान होता है। अन्नमाचार्य के पदों वाले ताम्र-पत्रों की अवतारिका में उनके निधन की सूचना 'निरोध' शब्द से दी गयी है, जो रामानुज मत की अपेक्षा वल्लभ मत में अधिक समादृत सांकेतिक शब्द है और जिसका निर्वचन भागवत में ही सबसे पहले दिया गया है। उस समय में हंपीविजयनगर में प्रचलित माध्व-वैष्णव भक्ति-संप्रदायों व श्रीपाद-राय, व्यासराय जैसे मध्व आचार्यों के परिचय व संपर्क भी अन्नमाचार्य और वल्लभाचार्य को समान रूप से मिले थे। ये सब परस्पर आदान-प्रदान की ओर संकेत करनेवाले तथ्य है।

इस संदर्भ में लीलाशुक बिल्वमंगल की भक्ति-पद्धति और अन्नमाचार्य एवं वल्लभाचार्य तथा वल्लभ के द्वारा सूरदास तक परिव्याप्त होकर मिलनेवाले उसके प्रभाव को भी भूलना नहीं चाहिए। पहले हम इस विषय की ओर पर्याप्त निर्देश कर चुके हैं। यह आलोच्य कवियों को एक दूसरे के निकट लानेवाला प्रभावगत संबंध है, जो दक्षिण और उत्तर के भक्ति संप्रदायों के बीच का पुल जैसा जान पड़ता है।

आनुषंगिक रूप से इस अध्ययन का फल यह भी हुआ कि अन्नमाचार्य के साहित्य का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन और उसका विस्तृत परिचय पहली बार अभी हो पाया है। सूर साहित्य का जितना मौलिक तथा विस्तृत अध्ययन व मूल्यांकन हिन्दी में हुआ, उसमें से शतांश क्या, सहस्रांश भी अन्नमाचार्य-साहित्य को लेकर तेलुगु में इसके पहले नहीं हो पाया। अन्नमाचार्य की जीवनी को छोड़कर बाकी सभी बातों में जो कुछ अध्ययन व निष्कर्ष किये गये हैं, वे सब मेरे मौलिक परिश्रम के ही उपज हैं और उन बातों को उस रूप में व्यक्त करने का पहला प्रयत्न भी मेरा ही है। अतः आशा है कि इस अध्ययन से, हिन्दी के माध्यम से ही सही, तेलुगु भाषा के एक महान् भक्त-कवि के साहित्य पर भरसक प्रकाश जो डाला गया है, उससे तेलुगु साहित्य को भी यथेष्ट लाभ पहुंचे। फिर, हिन्दीतर साहित्य के महान भक्त-कवि के परिपार्श्व में अध्ययन करने से हिन्दी के सर्वश्रेष्ट भक्तकवि सूरदास के महत्व की भी और अधिक जानकारी प्राप्त होने की आशा तो है ही।

अनुबंध १

अन्नमाचार्य की वंशावली
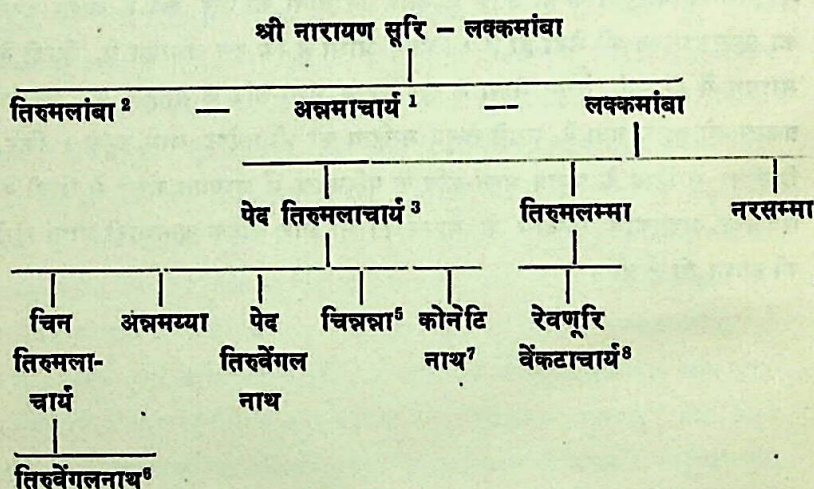
1. अन्नमाचार्य :– (संकीर्तनाचार्य) उपनाम अन्नमय्या ।

2, तिरुमलम्मा :– उपनाम तिक्कम्मा, सुभद्रा परिणय की कवयित्री ।

3. पेद तिरुमलाचार्य :– अध्यात्म और श्रृंगार संकीर्तनों के अलावा इन्होंने वैराग्य वचन मालिकागीत, श्रृंगार दंडक, श्रृंगार वृत्त मालिका शतक, वेंकटेश्वरोदाहरण, नीति सीस शतक, सुदर्शन रगडा, चक्रवालमंजरी, रेफ रकार निर्णय, आंध्रवेदांत और हरिवंश पुराण रचे । हरिवंश पुराण को छोड़कर बाकी सभी कृतियां मिलती हैं ।

4. चिन तिरुमलाचार्य :– (संकीर्तन कर्ता) संकीर्तनों के अलावा इनके अष्टभाषा दंडक और संकीर्तन लक्षण का आंध्रपद्यानुवाद मिलते हैं ।

5. चिन तिरुवेंगलनाथ :— उपनाम चिन्नन्ना—अन्नमाचार्य चरित्र के अलावा इनके उषापरिणय, परमयोगिविलास और अष्टमहिषी कल्याण काव्य मिलते हैं ।

6. तिरुवेंगलनाथ :— आंध्रअमरुक के अलावा इन्होंने संस्कृत में काव्य प्रकाश की सुधानिधि नामक व्याख्या लिखी ।

7. कोनेटिनाथ :— अमर कृत नामलिंगानुशासन की इन्होंने गुरुबाल प्रबोधिका नामक व्याख्या रची ।

8. रेवणूरि वेंकटाचार्य :— श्रीपादरेणु माहात्म्य और शकुंतला परिणय रचे ।

वि. सू. बाकी लोगों की कृतियां नहीं मिलतीं, लेकिन उनकी गान-विद्या की प्रशस्ति अन्यत्र मिलती है ।

अनुबंध २

सहायक ग्रंथों की सूची

१. अनुसंधान और आलोंचना	डा. नगेंद्र, दिल्ली
२. अन्नमाचार्य पदावली	श्री एम. संगमेशम् तिरुपति
३. अष्टछाप	डा. धीरेंद्र वर्मा, एम. ए., डी. लिट् १९३९
४. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय	डा. दीनदयाल गुप्त, सम्मेलन, प्रयाग
५. अष्टछाप परिचय	श्री प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा
६. आलवार भक्तों का तमिल प्रबंधम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य	डा. मालिक मुहम्मद, विनोद पुस्तक मंदिर, आग्रा, १९६४
७. आलोचनात्मक हिन्दी साहित्य का इतिहास	डा. रामकुमार वर्मा, इलहाबाद, १९५८
८. कबीर का रहस्यवाद	,, ,,
९. कृत्तिवासी बंगला रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन	डा. रामनाथ त्रिपाठी
१०. कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत	डा. श्यामसुंदर लाल दीक्षित, आग्रा, १९५८
११. कृष्ण-भक्ति-काव्य में सखीभाव	गोस्वामी शरण बिहारी, वारणासी, १९६६
१२. गीता रहस्य	पं. बालगंगाधर तिलक
१३. छायावाद और रहस्यवाद	श्री गंगाप्रसाद पांडेय
१४. भक्ति का विकास	डा. मुंशीराम शर्मा, चौखंबा, १९५८
१५. भक्ति-काव्य के मूल स्रोत	श्री दुर्गाशंकर मिश्र, नवयुग ग्रंथागार, लखनऊ, १९५८
१६. भागवत संप्रदाय	डा. बलदेव उपाध्याय, काशी
१७. भारतीय दर्शन	,, ,,

१८. भारतीय दर्शन	वाचस्पति गेरोला
१९. भ्रमरगीत और सूर	डा. जैनेंद्रकुमार, ग्रंथम, कानपूर, १९६७
२०. मध्यकालीन धर्म साधना	डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलहाबाद, १९६६
२१. मध्यकालीन भारत वर्ष का इतिहास	डा. ईश्वरीप्रसाद
२२. मध्यकालीन संत साहित्य	डा. रामखेलावन पांडेय, हिन्दी प्रचार पुस्तकालय, वारणासी, १९५५
२३. मध्यकालीन प्रेम साधना	डा. परशुराम चतुर्वेदी
२४. राधा का क्रम विकास	डा. शशिभूषण दासगुप्त, काशी, १९६५
२५. राधा-वल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य	डा. विजयेंद्र स्नातक
२६. वल्लभ दिग्विजय	नाथद्वारा विद्याभवन, सं १९७५
२७. वैष्णव धर्म	डा. परशुराम चतुर्वेदी
२८. संस्कृति के चार अध्याय	डा. रामधारी सिंह दिनकर
२९. साहित्य दर्पण	सं शालग्राम शास्त्री, मातीलाल बनारसी दास, काशी, १९५६
३०. सिद्धांत और अध्ययन	डा. गुलाबराय, आत्माराम अंड सन्स् दिल्ली
३१. सूर और उनका साहित्य	डा. हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, आलीगढ, सं २०१५
३२. सूरदास का काव्य वैभव	डा. मुंशीराम शर्मा, ग्रंथम्, कानपूर, १९६५
३३. सूर की झांकी	डा. सत्येंद्र, शिवलाल अग्रवाल, आग्रा १९५६
३४. सूरदास	डा. पीतांबरदास बडथ्वाल
३५. सूरदास	डा. ब्रजेश्वर वर्मा, प्रयाग, १९५०
३६. सूरदास	पं. रामचंद्र शुक्ल, सरस्वती मंदिर, बनारस
३७. महाकवि सूरदास	आचार्य नंददुलारे वाजपेय, आत्माराम अंड सन्स्, दिल्ली; १९५२

३८. सूर साहित्य — डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य समिति, मध्यभारत, १९९३

३९. सूर सौरभ — डा. मुंशीराम शर्मा, कानपूर, सं २००२

४०. भारतीय साधना और सूरसाहित्य — ,, ,,

४१. सूर साहित्य की भूमिका — डा. रामरत्न भटनागर, वाचस्पति पाठक

४२. सूर समीक्षा — डा. रामशंकर रसाल, १९५३

४३. सूर एक अध्ययन — डा. शिखरचंद जैन, १९३८

४४. सूर की भाषा — डा. प्रेमनारायण ठंडन, लखनऊ, १९५६

४५. सूर की वार्ता — अग्रवाल प्रेस, मधुरा

४६. सूर निर्णय — श्री प्रभुदयाल मीतल, द्वारका प्रसाद पारिख

४७. सूर साहित्य और सिद्धांत — श्री यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम अंड सन्स् दिल्ली

४८. सूर साहित्य नव मूल्यांकन — डा. चंद्रभान रावत्, जवहर पुस्तकालय, मधुरा

४९. सूर पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य — डा. शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचार पुस्तकालय, काशी, १९५८

५०. सूरदास, श्रीकृष्ण बाल माधुरी — गीता प्रेस, गोरखपूर, सं २०१२

५१. सूर पंचरत्न — सं श्री लालाभगवानदीन, काशी, सं १९८४

५२. सूर विनयपत्रिका — गीता प्रेस, गोरखपूर, सं २०१२

५३. सूरसागर — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं २०१५

५४. सूरसारावली — सं डा. प्रेमनारायण ठंडन

५५. हिन्दी कृष्ण–भक्ति–काव्य पर पुराणों का प्रभाव — डा. शशिअग्रवाल, अकादमी, इलहाबाद

५६. हिन्दी और कन्नड में भक्ति-आंदोलन — डा. हिरण्मय, विनोद पुस्तक मंदिर आग्रा

५७. हिन्दी सुगुण साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका — डा. रामनरेश वर्मा, प्रावकथन डा. कमलापति त्रिपाठी

५८. हिन्दी साहित्य	डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, १९५६
५९. हिन्दी कृष्ण भक्ति कालीन साहित्य में संगीत	डा. उषा गुप्त, लखनऊ
६०. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास	डा. दशरथ ओझा, दिल्ली
६१. हिन्दी साहित्य	डा. श्यामसुंदर दास, सं २००९
६२. हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं. रामचंद्र शुक्ल, काशी, सं २००९
६३. हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, '१९५४
६४. हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
६५. हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति-साहित्य	डा. के. रामनाथन, विनोद पुस्तक मंदिर, आग्रा

संस्कृत ग्रंथ सूची :

१. अग्नि पुराण	चौखंभा, वारणासी
२. अत्रि संहिता	अडयार प्रेस, मद्रास
३. अथर्वण वेद	चौखंभा, वारणासी
४. अहिर्बुध्न संहिता	अडयार प्रेस, मद्रास
५. ऐतरेय आरण्यक	चौखंभा, वारणासी
६. ऐतरेय ब्राह्मण	,,
७. ऋग्वेद	,,
८. कठोपनिषद	गीता प्रेस, गोरखपूर
९. काश्यय संहिता	अडयार प्रेस, मद्रास
१०. कृष्ण कर्णामृतम्	वाविल्ला प्रेस, मद्रास
११. कैय्यट भाष्यवृत्ति	निर्णय सागर प्रेस
१२. गीतगोविंद काव्यम	निर्णय सागर प्रेस, १९३७
१३. गीता भाष्य	गीता प्रेस, गोरखपूर
१४. छांदोग्य उपनिषद	,,
१५. तत्व दीप निबंध	सं नंदकिशोर भट्ट, निर्णय सागर प्रेस, बंबई
१६. तत्व मुक्ताकल्प	श्री वेदांत देशिक, देशिक ग्रंथमाला, मद्रास

१७. तैत्तरीय आरण्यक — वाविल्ला प्रेस, मद्रास
१८. तैत्तरीय संहिता — ,,
१९. नारद पांचरात्र — अडयार प्रेस, मद्रास
२०. नारद पुराण
२१. नारद भक्ति सूत्र — गीता प्रेस, गोरखपूर
२२. निरुक्त — चौखंभा, वारणासी
२३. न्याय परिशुद्धि — ,,
२४. पाणिनि — निर्णय सागर प्रेस, बंबई
२५. पातंजलि महाभाष्य — ,,
२६. पातंजलि योग (दर्शन) — गीता प्रेस, गोरखपूर
२७. बृहदारण्यक उपनिषद — अद्वैताश्रम, आलमोरा
२८. भगवद्गीता — गीता प्रेस, गोरखपूर
२९. महाभागवत पुराण — ,,
३०. मत्स्यपुराण
३१. महाभारत (दाक्षिणात्य प्रति) — निर्णय सागर प्रेस, बंबई
३२. यजुर्वेद — चौखंभा, वारणासी
३३. वायुपुराण
३४. विष्णुपुराण
३५. शतपथ ब्राह्मण — चौखंभा, विद्याभवन
३६. शंकर भाष्य — गीता प्रेस, गोरखपूर
३७. शांडिल्य भक्ति सूत्र — ,,
३८. श्वेताश्वतर उपनिषद — ,,
३९. सुबोधिनी — विद्याविभाग, श्रीनाथपुर
४०. षोडस ग्रंथ — भट्ट रामनाथ शर्मा (संपादक)
४१. हरि भक्ति रसामृत सिंधु — अच्युत ग्रंथमाला, काशी
४२. हारीत स्मृति — ,,

तेलुगु ग्रंथों की सूची :

१. अन्नमाचार्य चरित्रं — सं श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, १९४९
२. अन्नमाचार्य संकीर्तनलु भाग १ से १९ तक — तिरुपति देवस्थानम् प्रकाशन
३. आंध्रकवि तरंगिणी–६ — श्री चागंटि शेषय्या
४. आंध्र महाभागवतम् — साहित्य अकादमी, हैदराबाद

५. आंध्र विज्ञान सर्वस्वमु–३	तेलुगु भाषा समिति, मद्रास
६. आंध्रुल संक्षिप्त चरित्रमु	श्री येटुकूरि बलरामय्या
७. आमुक्तमाल्यदा	वाविल्ला प्रेस, मद्रास
८. आलवारुल मंगलाशासनमुल पासुरमुलु	श्री टी. के. वी. एन. सुदर्शनाचार्य
९. तिरुप्पावै सप्तपद्मुलु	सं श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री
१०. तिरुवायिमोडि	श्री बच्चु पापय्याश्रेष्ठि, मद्रास
११. पंडिताराध्य चरित्र	सं डा. सी. वीरभद्र राव
१२. वेंकटेश शतकमु	वाविल्ला प्रेस, मद्रास
१३. संकीर्तन लक्षण	ताल्लपाकवारि लघु कृतुलु, देवस्थानम् प्रकाशन
१४. साहित्योपन्यासमुलु–३	साहित्य अकादमी, हैदराबाद
१५. श्रृंगार मंजरी	ताल्लपाकवारि लघु कृतुलु, देवस्थानम् प्रकाशन
१६. श्रीपादरेणु माहात्म्यमु	श्री रेवणूरि वेंकटाचार्य, देवस्थानम् प्रकाशन
१७. शकुंतला परिणयमु	" "
१८. ताल्लपाकवारि कृतुलु (ताम्रपत्र)	तिरुपति देवस्थानम

अंग्रेजी ग्रंथो की सूची :

१. आउट लाइन्स आफ हिन्दूइज्म	डा. टी. एम. पी. महदेवन, मद्रास
२. इन्ट्रोडक्शन टु वेदांत	डा. पी. नागराजा राव, भारतीय विद्याभवन
३. इन्फ्लूयन्स आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चेर	डा. ताराचंद
४. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजिन अंड एथिक्स–२	
५. एपिग्राफिका इंडिका–भाग २०	
६. काल आफ दी वेदास	श्री ए.पी. बोस, भारतीय विद्याभवन बंबई
७. तिरुपति देवस्थान इन्स्क्रिप्शन्स्-५	देवस्थान प्रकाशन, तिरुपति
८. दी लाइफ आफ गौरांग	डा. एन. गंगूली
९. पाथवे टु गाड इन हिन्दी लिटरेचर	डा.आर.डी. रेनडे, भारतीय विद्याभवन

१०. मिनिस्ट्रल्स आफ गाड	श्री बांके बिहारी, भारतीय विद्याभवन
११. वैष्णविज्म, शैविज्म अंड मैनर रिलिजियस सिस्टम्स	डा. आर. जी. भंडारकर
१२. हिस्टरी आफ तिरुपति	श्री टी.के.टी. वीरराघवाचार्य, १९६३
१३. हिस्टरी आफ इंडियन पीपुल अंड कल्चर्	

कन्नड ग्रंथों की सूची :

१. कन्नड गुरुराज चरित्र

पत्र–पत्रिकाएं :

१.	आंध्रपत्रिका वार्षिकांक, १९६४–६५	तेलुगु
२.	आंध्रप्रभा, साप्तहिक, ता. १८–५–६६	"
३.	आंध्र साहित्य परिषद् पत्रिका	"
४.	भारती, नवंबर १९५६	"
५.	स्रवंति	"
६.	आराधना	"
७.	देवस्थान मुखपत्र	"
८.	साहित्य संदेश, संत साहित्य विशेषांक	हिन्दी
९.	सरस्वती संवाद, सूर विशेषांक	"
१०.	नागरी प्रचारिणी पत्रिका, २४–८–१९६३	"
११.	परिषद् पत्रिका, १–८–१९६५	"
१२.	माध्यम, वर्ष–२, अंक–२०, फरवरी, १९६६	"
१३.	धर्मयुग, साप्तहिक, ५–५–१९६८ और ३०–४–६७	"
१४.	सम्मेलन पत्रिका, भाग–४९, संख्या–२, शक–१८८५, भाग–५०, संख्या–२,३, शक–१८८६	"

टी. डी. डी. प्रेस, तिरुपति.